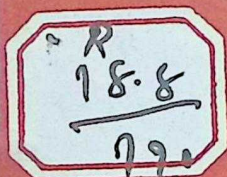


भारतवर्षीय मत मतान्तर समीक्षा



प्रो०(डा०) मवानी लाल भारतीय

नववीं अंश मत्त-मत्तान्तर समीक्षा

प्रो

तिलक :

111 777

R
98.8

पुस्तकालय

992

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

विषय संख्या

आगत नं०

11492

लेखक अवारी लाल
शीर्षक

शोषक-प्रादुर्भाव मूल मूल्य (समीक्ष)

[illegible]

गुड्डुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
भूपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

१
७४.४
११०

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

Stock Verification-2024

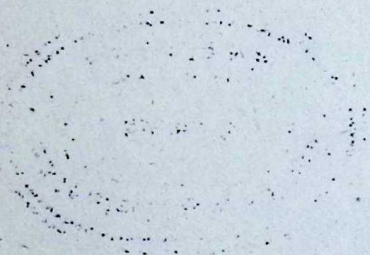
वर्ग संख्या.....

आगत संख्या ११११२

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

Stock Verification-2024

Stock Verification-2024



ओ३म्



111492

भारतवर्षीय मत-मतान्तर समीक्षा

(ऋषि दयानन्द लिखित सत्यार्थ प्रकाश के ११ वें समुल्लास की विस्तृत व्याख्या)



प्रो० (डि०) भवानीलाल भारतीय

111492



आर्य प्रकाशन

८१४ कूण्डे वालान अजमेरी गेट दिल्ली

प्रकाशक
तिलकराज आर्य,
अध्यक्ष,
आर्य प्रकाशन,
८१४ कूण्डेवालान
अजमेरी गेट, दिल्ली - ११०००६
दूरभाष-७५२०२८०

© लेखकाधीन

I.S.B.N. - 81-85718-12-1

२
१६.८
११०

मूल्य - ६० रु.

संस्करण २०५१ वि. (१९९४ ई.)

लेजर कम्पोजिंग- कौशिक ब्लाक्स, ११८ चावड़ी बाजार, दिल्ली-६

मुद्रक : स्पीडो ग्राफिक्स, पटपड़गंज, दिल्ली

लेखक का वक्तव्य

दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली के संस्थापक स्व. पं. भारतेन्द्र जी ने सत्यार्थप्रकाश के सभी चौदह समुल्लासों पर पृथक्-पृथक् व्याख्या ग्रन्थ लिखवाने की एक योजना कई वर्ष पहले बनाई थी। इस योजना के अधीन मैंने सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास पर एक विस्तृत, शोधपूर्ण व्याख्या पुस्तक लिखी जो प्रथम विद्यावती शारदा पुरस्कार से पुरस्कृत हुई और संस्थान की ओर से ही १९७७ में प्रकाशित हुई। यह संस्करण समाप्त हो गया तो यह आवश्यकता अनुभव की गई कि इसका पुनः प्रकाशन हो। इस बीच यूनिजन पार्क मारिशस निवासी श्री सत्यप्रकाश बिगू का यह आग्रह रहा कि वैदिक काल से लेकर स्वामी दयानन्द के आविर्भाव काल तक की धार्मिक गतिविधियों का मूल्यांकन करते हुए कुछ पृष्ठ इस पुस्तक में अवश्य जोड़े जायें। तदनुसार इस ग्रन्थ के आरम्भ में वैदिक काल से महाभारत तक तथा महाभारत काल का परवर्ती धार्मिक परिदृश्य शीर्षक दो अध्याय बढ़ाये गये हैं।

स्वामी दयानन्द ने जब ११ वाँ समुल्लास लिखा था तब वे महाभारत की सनाप्ति से लेकर ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज तथा स्वयं के द्वारा स्थापित आर्यसमाज जैसे धर्मान्दोलनों के बारे में अपने विचार प्रकट कर चुके थे। किन्तु मनुष्य प्रकृति से ही परिवर्तन प्रिय है। उसकी धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्थितियाँ निरन्तर बदलती रहती हैं। दयानन्दोत्तर काल के भारत में नये-नये मत-सम्प्रदायों, स्वयंभू गुरुओं तथा स्वयं को साक्षात् भगवान् घोषित करने वाले व्यक्तियों का देश के धार्मिक क्षितिज पर आविर्भाव हुआ। अनेक लोग इनसे जुड़े तथा धर्म के नाम पर पाखण्ड, आडम्बर तथा शोषण में वृद्धि हुई। सत्यार्थप्रकाश के पाठकों का काफी समय से यह भी आग्रह था कि स्वामी दयानन्द के बाद में भारत में उत्पन्न इन नवीन मत सम्प्रदायों, नये-नये गुरुओं, बाबाओं और स्वयं को भगवान् घोषित करने वाले लोगों के इतिवृत्त तथा क्रिया कलाप से लोगों को परिचित कराया जाना चाहिए। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर इस पुस्तक के परिशिष्ट में कुछ पृष्ठ जोड़ दिये गये हैं जिनसे पाठकों को इन नवस्थापित मतों तथा व्यक्ति केन्द्रित अनेक धार्मिक संगठनों की जानकारी मिल सकेगी।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन तो गत वर्ष ही हो जाना चाहिए था किन्तु प्रायः प्रवास में रहने के कारण संशोधित तथा परिवर्द्धित पाण्डुलिपि तैयार करने में असाधारण विलंब हुआ, जिसके लिए लेखक क्षमा प्रार्थी है। श्री सत्यप्रकाश बिगू ने इसके प्रकाशन में जो आर्थिक सहायता प्रदान की है, उसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना आवश्यक

है। आर्य समाज में नवीन साहित्य लेखन तथा प्रकाशन के प्रति कोई उत्साह दिखाई नहीं पड़ता। स्वाध्याय के अभाव तथा धर्म विषयक जिज्ञासा के शून्य की स्थिति तक पहुंचने का ही परिणाम है कि आज उच्च कोटि का लेखन समाप्त हो चुका है। ऐसी निराशाजनक स्थिति में भी आर्य प्रकाशन, दिल्ली के उत्साही संस्थापक भी तिलकराज आर्य ने इस उपयोगी ग्रन्थ को जिस प्रकार साज सज्जा के साथ प्रकाशित किया है उसके लिये वे हम सबके साधुवाद के पात्र हैं। आशा है धार्मिक अध्ययन में रुचि रखने वाले पाठकों को मेरे परिश्रम की सार्थकता अनुभव होगी।

रत्नाकर, नन्दन वन, जोधपुर

आषाढ़, कृ० ३, २०५१ वि.

(लेखक की ६६ वीं वर्षगांठ)

विनयावनत,

भवानीलाल भारतीय

दयानन्द स्वाध्याय संस्थान, जोधपुर

समर्पण

लेखक के बचपन के उन क्षणों को, जब उसने अपनी
प्राथमिक पाठशाला (दरबार प्राइमरी स्कूल, परबतसर)
की इतिहास की पहली पोथी में स्वामी दयानन्द
सरस्वती, कबीर, राममोहन राय तथा
मार्टिन लूथर जैसे धर्म सुधारकों का
प्रथम परिचय प्राप्त किया।

विषय क्रम

	पृष्ठ
१. भूमिका (ज्ञान का स्रोत) डा. सत्यप्रकाश सरस्वती	८
२. पूर्व पीठिका (अ) वैदिक काल से महाभारत तक	२१
(आ) महाभारत काल का परवर्ती धार्मिक परिदृश्य	३३
१. लेखक (दयानन्द सरस्वती) का प्रयोजन	५९
२. आर्यावर्त का प्राचीन गौरव	६४
३. वाम मार्ग समीक्षा	७२
४. शंकराचार्य और नवीन वेदान्त	८८
५. शैव सम्प्रदाय समीक्षा	९५
६. अष्टादश पुराणों का लेखन काल तथा महाभारत में प्रक्षेप	१०१
७. वैष्णव मत समीक्षा	११०
८. नूर्तिपूजा समीक्षा	१२०
९. भारतीय मंदिरों में प्रचलित चमत्कारों की समीक्षा	१३२
१०. तीर्थ समीक्षा	१३५
११. अष्टादश पुराण समीक्षा	१३९
१२. श्री मद्भागवतालौचन	१४६
१३. फलित ज्योतिष एवं नवग्रह समीक्षा	१५०
१४. प्रकारान्तर से सम्प्रदाय खण्डन	१६२
१५. निर्गुण (सन्त) सम्प्रदाय समीक्षा	१६८
१६. वल्लभ सम्प्रदाय (गोकुलिया गुसाईं) समीक्षा	१७८
१७. स्वामी नारायण मत खण्डन	१८४
१८. ब्रह्मसमाज समीक्षा	१९१
१९. धर्म और सम्प्रदाय का अन्तर	२०५
२०. प्रचलित ब्रह्मचर्य संन्यास समीक्षा	२०८
२१. उपसंहार	२११
२२. परिवर्धन	२१२

परिशिष्ट - १

स्वामी दयानन्द के पश्चात्कर्त्तृ भक्त-सम्प्रदाय

	पृष्ठ
१. थियोसोफिकल सोसाइटी	२२०
२. राधास्वामी सत्संग	२२४
३. देवसमाज और उसका संस्थापक सत्यानन्द अग्निहोत्री	२२८
४. रामकृष्ण (विवेकानन्द) मिशन	२३१
५. दादा लेखराज का ब्रह्माकुमारी मठ	२३७
६. प्रभातरंजन सरकार स्थापित आनन्द मार्ग	२४०
७. पं. श्रीराम शर्मा और उनकी गायत्री संस्था	२४२
८. स्वामी सत्यानन्द और रामशरणम् सम्प्रदाय	२४५
९. पाण्डुरंग शास्त्री आठवले और उनका स्वाध्याय सम्प्रदाय	२४७
१०. आचार्य रजनीश	२४९

परिशिष्ट - २

भारत के नये धर्मगुरु तथा स्वयंभू भगवान्

१. सत्य साईं बाबा	२५२
२. स्वामी चिन्मयानन्द	२५३
३. चन्द्रा स्वामी	२५३
४. महर्षि महेश योगी	२५४
५. स्वामी नित्यानन्द	२५४
६. गुरुमाई चिद्धिलासानन्द	२५५
७. नुरारी बापू	२५५
८. माता अमृतानन्दमयी	२५५
९. ब्रह्मकुमारी प्रकाशमणि	२५६
१०. सरदार गुरिन्दरसिंह ढिल्लों	२५६
११. आचार्य श्रद्धानन्द अवधूत	२५७
१२. स्वामी ओम् सदाचारी	२५७
१३. बालयोगेश्वर और उसका भाई सतपाल महाराज	२५८
१४. उपसंहार	२५९

भूमिका

आर्ष साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् श्री डा० भवानीलाल भारतीय की पुस्तक भारतवर्षीय मत मतान्तर समीक्षा जनता के समक्ष आ रही है, इसका हमें हर्ष है। ज्ञान का उल्टा मिथ्या ज्ञान या पाखण्ड है। "पाखण्ड" शब्द "पाषण्ड" शब्द का अपभ्रंश या विकृत रूप है। छद्म, छलयुक्त या कपट व्यवहार का नाम पाषण्ड है। कट्टर अप्रगतिशील हिन्दू को, जो जीवन के अभ्यन्तर में कुछ हो, और उसके विपरीत उसका बाह्य-आडम्बर साधु-सन्तों, भक्तों, धार्मिकों और विद्वानों जैसा हो, उसे भी पाषण्डी या पाखण्डी कहते हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में पाखण्डी के समान पोप शब्द का भी एक रूढ़ि अर्थ किया है— पोप कौन है? स्वामी जी लिखते हैं— "इसकी सूचना रोमन भाषा में तो बड़ा और पिता का नाम पोप है, परन्तु अब छलकपट से दूसरे को ठग अपना प्रयोजन साधनेवाले को "पोप" कहते हैं। स्वामी जी ने पोप के समान सुन्दर शब्द को किस व्यंजना के कारण इस प्रकार की विकृत रूढ़िता दी, यह उनके शब्दों से स्पष्ट है— "सुना है जैसे रोम के पोप अपने चेलों को कहते थे कि तुम अपने पाप हमारे सामने कहोगे तो हम क्षमा कर देंगे, बिना हमारी सेवा और आशा के कोई भी स्वर्ग नहीं जा सकता, जो तुम स्वर्ग में जाना चाहो तो हमारे पास जितने रुपये जमा करोगे, उतने की सामग्री तुमको स्वर्ग में मिलेगी, इत्यादि, इत्यादि।" पोप लोग हुण्डी लिखकर देते थे तो कबर में शव के सिर के नीचे रख दी जाती थी। पोपों की यह छद्मता बहुत दिनों तक यूरोप में चली— "जब तक यूरोप देश में मूर्खता थी तभी तक वहां पोप जी की लीला चलती थी। पर अब विद्या के होने से पोप जी की झूठी लीला बहुत नहीं चलती, किन्तु निर्मूल भी नहीं हुई।" भारतवर्ष में हिन्दुत्व और धर्म के नाम पर घुलघुल करने वालों की संख्या कम नहीं है। स्वामी जी ऐसे ही व्यक्तियों को 'पोप' और पाखण्डी कहते हैं।

पोप और पाखण्डी के समान ही एक शब्द धर्मध्वजी है जिसका प्रयोग मनुस्मृति में हुआ है (४/१९५, १९६)। पाखण्डियों के लक्षण बताते हुए ऋषि दयानन्द मनु के श्लोकों को उद्धृत करके कहते हैं—^१ (धर्मध्वजी) जो धर्म कुछ भी न करे, परन्तु धर्म के नाम से लोगों को ठगे, (सदा लुब्धः) सर्वदा लोभ से युक्त, (अधार्मिकः) कपटी, (लोक-दम्भकः) संसारी मनुष्यों के सामने अपनी बड़ाई के गपोड़ मारा करे (हिंस्रः)

१. धर्मध्वजी सदा लुब्धः अधार्मिको लोकदम्भकः।

वैदालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः।। मनु. ४। १९५

उपलब्ध मनुस्मृति में अधार्मिको के स्थान पर छादमिको मिलता है।

प्राणियों का घातक, अन्य से बैर-बुद्धि रखने वाला (सर्वाभिसन्धकः) सब अच्छे और बुरों से भी मेल रखे उसको (वैडालव्रतिकः) विडाल के समान धूर्त और नीच समझे ।'

स्वामी जी आगे लिखते हैं— (अधोदृष्टिः) कीर्ति के लिए जो नीचे दृष्टि रखे, (नैष्कृतिकः) ईर्ष्यक, किसी ने उसका पैसा-भर अपराध किया हो तो उसका बदला प्राण तक लेने को तत्पर रहे, (स्वार्थ साधना) चाहे कपट, अधर्म, विश्वासघात क्यों न हो, अपना प्रयोजन साधने में चतुर, (शठः) चाहे अपनी बात झूठी क्यों न हो, परन्तु हठ कभी न छोड़े (मिथ्याविनीतः) झूठ-मूठ ऊपर से शील-सन्तोष और साधुता दिखलावे, उसको (वक्रव्रतः) ब्रगुले के समान नीच समझो । ऐसे-ऐसे लक्षणों वाले पाखण्डी होते हैं, उनका विश्वास वा सेवा कभी न करे ।'

मनुस्मृति के इन श्लोकों में जिस पाखण्ड का उल्लेख है वह व्यक्तिगत है । कोई एक व्यक्ति पाखण्डी, धर्मध्वजी, दंभी, कपटी या छद्मी हो तो उससे समाज की उतनी हानि नहीं होती जितनी हानि उन संस्थाओं, मतमतान्तरों या सम्प्रदायों द्वारा होती है जिनका आधार छल-छद्म, कपट, अन्ध-विश्वास, स्वार्थ-परायणता और पाखण्ड है । प्राचीनतम वैदिक युग में मनुष्य का एक स्वाभाविक धर्म था जो परमात्मा के प्रेम और प्रकृति, जीव और सृष्टि नियंता के सहज सम्बन्ध पर निर्भर था । समय बदला, मनुष्य की दुर्बलतायें स्वार्थ की शृंखला में बंध गयीं, वैमनस्य आरम्भ हुये और नैतिकता का हास हुआ । मनुष्य का विश्वास ईश्वर पर न रहा । ऐसे समय में अनीश्वरवाद का प्रचार हुआ और मनुष्यता का पतन । अनीश्वरवादियों ने दुर्बल मनुष्य को ही अपना आराध्य माना । मूर्तियों, मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजों, पीरों, पैगम्बरों, मसीहों और अवतारों का युग आया । धरती का स्वर्ग आसमान में उड़ गया । पाखण्डियों ने उस स्वर्ग तक पहुँचाने के धन्धे आरम्भ किये । धर्म के जिस मार्ग को छुरे की धार या दुर्गम पथ कहा जाता था (क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम पथस्तत् कवयो वदन्ति) स्वार्थियों ने उसके सस्ते धन्धे आरम्भ किये । ऐसे समय में ही १८७४ में स्वामी दयानन्द ने अपना अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश लिखा, जिसमें उन्होंने वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के अनन्तर चार समुल्लासों में साम्प्रदायिक विचारधारा की आलोचना की । इन चार समुल्लासों में ११ वां समुल्लास उन सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखता है जिनका सम्बन्ध हिंदुत्व से है । महाभारत के समय में ही देश का अधःपतन आरम्भ हो गया था । किन्तु उस समय भी वैदिक धर्म के प्रति लोगों की आस्था थी । पाण्डवों और कौरवों, दोनों के चरित्र इस बात के उदाहरण हैं कि जीवन स्तर काफी नीचे गिर चुका था किन्तु धर्म के नाम पर बहुत से मतमतान्तर आरम्भ नहीं हुये थे ।

१. अधोदृष्टि नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।

शठो मिथ्याविनीतश्च वक्रव्रतचरो द्विजः ।। मनु. ४/१९६

इतना अवश्य था कि आपस का वैर-भाव, वैवाहिक जीवन सम्बन्धी उच्छृंखलतायें, द्यूत क्रीड़ा के समान निन्दनीय प्रथायें, मद्य-पान आदि व्यसन प्रचुर मात्रा में प्रचलित हो गये थे। गीता मूल महाभारत का अंग न थी किन्तु जिस किसी ने भी गीता की रचना की और उसे महाभारत के अन्दर प्रक्षिप्त कर दिया, उस व्यक्ति के समय तक ऐसा लगता है कि मतमतान्तरवाद आरम्भ हो गया था। मत-वैभिन्य और मतमतान्तरवाद में अन्तर है। सैद्धांतिक मतभेद तो विद्वानों और पण्डितों में सदा रहेगा, ऐसे मतभेद नैरुक्तों, वैयाकरणों और याज्ञिकों में भी प्रचुरता से पाये जाते हैं, एवं दार्शनिकों में भी। मतमतान्तरवाद इन मतभेदों से भिन्न है। सैद्धान्तिक मतभेद ज्ञान की वृद्धि के लिये आवश्यक है किन्तु मतमतान्तरवाद समाज को अधोगति की ओर प्रेरित करता है। इस वाद के प्रचलित होने पर सामान्य जनता छोटे-छोटे समूहों में विभक्त हो जाती है और परम्परा के प्रवाह में यह मत-मतान्तर रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से ग्रसित हो जाते हैं।

मैं उन कारणों का उल्लेख तो नहीं करना चाहता जिनके द्वारा भारतवर्ष में सम्प्रदायों और मतमतान्तरों की अभिवृद्धि हुई। वैदिक धर्म का पहला अधःपतन वेद की ऋचाओं के ठीक से न समझने के कारण हुआ। वेद जहां सब सत्य-विद्याओं का मूल है वहां इतिहास यह भी बताता है कि वैदिक ऋचाओं का आश्रय लेकर अनेक अनाचारों और अनैतिकताओं का भी प्रचलन हुआ। वैदिक ऋषि की यज्ञ के सम्बन्ध में आस्तिक आस्था थी। इन यज्ञों में ही धीरे-धीरे पशु-बलि दी जाने लगी। “यज्ञमानस्य पशून् पाहि” और यज्ञ का पर्याय अध्वर होते हुये भी ‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति’ के समान सूक्तियां वैदिक यज्ञों को कलंकित करने लगीं। यजुर्वेद के रुद्राध्याय (अध्याय १६) का आश्रय लेकर शिव, शंकर, भव, कपर्दिन, नीलग्रीव, पशुपति, गणपति और इसी प्रकार के अन्य शब्द पौराणिक शिव की कल्पना के आधार बने। ‘चन्द्रमा मनसो जातः’ वाक्य के आधार पर लोगों ने फलित ज्योतिष की पुष्टि की। सोम के आधार पर सुरा-पान की भी वृद्धि हुई। लोगों की वेदों के प्रति आस्था थी इसलिये इस आस्था ने ही दुर्बलताओं को वैदिक समाज में पोषण प्रदान किया। ऋग्वेद के अनेक उद्धरणों के आधार पर पौराणिक आख्यायिकायें भी कल्पित की गयीं। इसीलिये बहुधा मैं कहा करता हूं कि एक ओर तो वैदिक ऋचाओं ने ज्ञान और दर्शन को प्रोत्साहित किया और दूसरी ओर ये ऋचायें ही दुर्बल और स्वार्थपरायण व्यक्तियों के हाथ में पड़कर नैतिकता के ह्रास का कारण बनीं।

वैदिक समाज जब दुर्बल और क्षीण हो गया तब उसका विघटन आरम्भ हो गया। वैदिक युग में आर्ष साहित्य और शुद्ध संस्कृति का प्रसारण ऋषियों द्वारा आर्यावर्त की सीमा से भी बाहर दूरस्थ देशों में हुआ। मूल स्रोत से धीरे-धीरे इन देशों का सम्बन्ध विच्छिन्न होने लगा। विदेशों के मनीषियों और अध्येताओं ने नवीन कल्पनाओं

को भी प्रश्रय दिया। ऋग्वेद का इन्द्र ईरानियों का शत्रु बन गया। असुर शब्द आराध्य के रूप में प्रयोग में आने लगा। भारतीय आर्य देवों के उपासक हुए, और ईरानी असुरों के। ईरान के पारसी मत में दो शक्तियों की कल्पना की गयी, स्पेन्तान्म इन्यू और अइंग्रा-मइन्यु। अर्थात् ईश्वर और शैतान की दुनिया की सबसे पहला पैगम्बर महात्मा जरथुस्त्र माना गया। इस प्रकार से भारतवर्ष के बाहर पैगम्बरवाद का जन्म हुआ। आर्यावर्त के समान ईरान में भी नयी विचारधारा तीन क्रमों में परिवर्तित हुई— (१) गाथा युग जिसमें ब्रह्म के समान अहुरमज्द नाम की आस्तिक सत्ता का प्रतिपादन हुआ। (२) अवस्ता युग जिसमें देवता-वाद की प्रधानता रही, और (३) पौराणिक युग जिसे हम पहलवी या पाज़िन्द युग कह सकते हैं। इस युग में पौराणिक आख्यायिकायें गढ़ी जाने लगीं। 'वन्दीदाद' और 'बुन्दहेश' नाम ग्रन्थों की रचना इस काल में हुई। दोज़ख और बहिश्त की कल्पना भी इस युग में विशेष रूप से पोषित हुयी। शैतान को ईश्वर का विरोधी माना गया। वह पाप, विग्रह और अनैतिकता का आश्रयदाता बना। उसका काम था मनुष्य को बरगलाना और झूठ की ओर प्रेरित करना। शैतान की इस कल्पना ने भारत में मायावाद को जन्म दिया। माया शब्द का प्रयोग वेद की ऋचाओं में विशेष कौशल के अर्थ में होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में माया प्रकृति शब्द का पर्याय है और ब्रह्म या ईश्वर को मायिन् कहा है क्योंकि ब्रह्म माया का अधिपति है। शंकराचार्य ने अपने दर्शनतत्त्व में ब्रह्म और माया का अविच्छिन्न सम्बन्ध प्रतिपादित किया है। माया से वशीभूत ब्रह्म ही सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर बनता है और यह ईश्वर अविद्या से ग्रसित हो कर जीव की संज्ञा धारण करता है। जब तक अविद्या रहती है तब तक यह जीव आवागमन का कष्ट भोगता है। यह कल्पना शंकर की अपनी मौलिकता है किन्तु इसका प्रतिपादन न तो वैदिक ऋचाओं द्वारा होता है और न उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र द्वारा। मैं इस दार्शनिक प्रसंग का विस्तार में उल्लेख नहीं करना चाहता। मुझे केवल इतना कहना है कि ईरानी धर्म का शैतान और शंकर वेदान्त की माया, इन दोनों में बड़ा सामंजस्य है। मायावादियों ने भी भारतवर्ष में अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया और शैतानवाद एवं पैगम्बरवाद के आश्रय पर मध्यपूर्व के देशों में यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानी फिरकों को। भारत में इस सब की प्रतिक्रिया हुई जिसके कारण पिछले एक हजार वर्ष में कुछ नये देशी और विदेशी सम्प्रदाय प्रचलित हो गये। यह सर्वविदित तथ्य है कि उत्तर-पश्चिम की ओर से अनेक जातियों का प्रवेश भारतवर्ष में हुआ। सिकन्दर का आक्रमण इस दृष्टि से परम उल्लेखनीय है। उसकी सेना भारत पर आधिपत्य तो प्राप्त न कर सकी किन्तु उसके जाने के उपरांत ही भारतीय संस्कृति अनेक शताब्दियों तक इन यूनानियों के प्रभाव से अपने को सुरक्षित न रख सकी। चन्द्रगुप्त का विवाह भी एक यूनानी कन्या से हुआ।

अनेक यूनानी भारत में बस गये। उन्होंने अपने नाम भी भारतीय नामों से मिलते-जुलते रखने आरम्भ किये और उनमें से अनेक ने संस्कृत भाषा में ग्रन्थ रचनायें भी कीं।

स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने एक विदेशी भाषण में इस बात का उल्लेख किया है कि यूनान के प्रभाव से कई कुरीतियां आर्यावर्त में प्रचलित हो गयीं। उनके प्रभाव में आकर भारतीय आर्य प्रारब्धवादी बन गये। विवेकानन्द जी का कहना है कि यूनानी हमारे देश से गणित ज्योतिष अपने देश में ले गये और फलित ज्योतिष जैसे अन्धविश्वास हमारे देश में छोड़ गये। वैदिक ऋचाओं, ब्राह्मण ग्रन्थों और वेदांग ज्योतिष में जिन गणनाओं का उल्लेख है वह विशुद्ध ज्योतिष है किन्तु फलित ज्योतिष का दुराग्रह यूनानियों के सम्पर्क से भारत में आया। बृहत् संहिता और पञ्चसिद्धान्तिका का रचयिता वराहमिहिर विशुद्ध आर्य न था। यह तो मैं नहीं कहता कि वह यूनानी था, संभवतया मध्यपूर्वी किसी देश का रहा हो। बृहत् संहिता में न केवल फलित ज्योतिष का उल्लेख है, शकुन और अपशकुन की कल्पना सर्वथा अभारतीय संपर्क से इस देश में आई, पूर्व ग्रन्थों में इसे कोई मान्यता प्रदान नहीं की गई, वाल्मीकि रामायण में क्षेपक के रूप में स्थान-स्थान पर शकुनों और अपशकुनों के उदाहरण मिलते हैं। स्पष्टतया यह उदाहरण वाल्मीकि की मूल रचना में विद्यमान न थे किन्तु बाद को भारतीय जनता में जब विदेशों के सम्पर्क से प्रचलित हो गये तब इसी युग में यह वाल्मीकि के काव्य में बड़ी चतुराई से मिश्रित कर दिये गये। वाल्मीकि रामायण में और भी बहुत से स्थल हैं जो क्षेपक हैं, जैसे राम के द्वारा शिव जी की पूजा।

इन सबका उल्लेख करने की इसलिए आवश्यकता पड़ी कि यह नहीं समझना चाहिये कि जो कुछ संस्कृत साहित्य में है वह विशुद्ध भारतीय अथवा वैदिक है। स्वामी विवेकानन्द का भी यही अभिमत रहा। विदेशियों से जहाँ हमने बहुत सी अच्छी चीजें सीखीं वहाँ उनके सम्पर्क से बहुत सी ऐसी चीजों का भी प्रचार हुआ जो समाज के लिये उपयोगी न थीं और कालान्तर में मानवता के लिये अभिशाप बनीं। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में इन कुरीतियों, कुप्रथाओं और अन्धविश्वासों का विरोध किया। स्वार्थ-परायणता से त्रस्त बुद्धिजीवियों ने इन रूढ़ियों और अन्धविश्वासों को धर्म का अंग बना दिया।

मूर्ति-पूजा का इतिहास भी बड़ा मनोरंजक और कौतूहलप्रद है। यूनानियों में कला के विकास के साथ-साथ मूर्ति-निर्माण का व्यवसाय तीव्रता से आगे बढ़ा। चित्रकार और मूर्तिकार के सामने दो आदर्श रहते हैं— (१) प्राकृतिक जगत् में जो पदार्थ अपौरुषेय शक्ति ने उत्पन्न कर रखे हैं, यथातथ्य उनका चित्रण और अनुरूपण। ऐसा चित्र बनाना या ऐसी मूर्ति बनाना जो देखने पर असली सी लगे। यूनानियों ने अपने समय के अनेक

विद्वानों और युग पुरुषों की मूर्तियाँ तैयार कीं। यह व्यक्ति ऐतिहासिक थे। यह प्रथा हमारे देश में प्रचलित न थी। जिस युग में मनु, गौतम, कपिल, कणाद या राम और कृष्ण रहे उस युग की कोई भी मूर्ति इन व्यक्तियों को चित्रित करने वाली आज तक हमें प्राप्त नहीं हुई।

(२) कल्पना के आधार पर सूक्ष्म मनोवृत्तियों का चित्रण। यह प्रचुरता से प्राचीन यूनानी मूर्तियों में पाया जाता है। काम, क्रोध, मोह, शौर्य, दारिद्र्य आदि मनोभावों को मूर्तिमान् करने का बहुत अच्छा प्रयास इन मूर्तियों में हुआ है। इनमें से कुछ मूर्तियाँ यूनान में देव और देवियों के नाम से भी प्रचलित हुईं। यूनान के इस देवतावाद ने भारतीय देवतावाद को पोषित किया। किन्तु वैदिक देवतावाद के युग में भी इन देवताओं की प्रतिमायें तैयार न हुईं। यह ठीक है कि सिन्धु-हड़प्पा की खुदाई में छोटी-छोटी कुछ मूर्तियाँ मिलती हैं किन्तु यूनानी प्रतिमाओं की तुलना में यह कला बड़े नीचे स्तर की है।

भारतवर्ष में चित्रकला और मूर्तिकला का विकास लगभग ढाई हजार वर्षों से हुआ। मूर्तिकला का प्रारम्भ बौद्ध और जैनों से हुआ। बौद्धों और जैनियों की आस्था सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और स्रष्टा ईश्वर में न थी। यह नास्तिक धर्म थे। जब तक महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी जीवित थे तब तक उनके अनुयायी उनसे प्रेरणा पाते थे। उनके समीप बैठकर अपनी भ्रान्तियों का समाधान करते और शान्ति प्राप्त करते। किन्तु महावीर स्वामी भी मर्त्य थे और महात्मा बुद्ध भी। दोनों के निर्वाण के बाद प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि प्रेरणा का स्रोत अब क्या बने। नास्तिकों के लिये तो प्रेरणा का प्रथम और अन्तिम स्रोत अन्तःकरण में स्थित ब्रह्म है और ईश्वर का सर्वव्याप्त ज्ञान वेद है। ईश्वर स्वयं हमारे आचरणों का आदर्श (Ethical Ideal) है। अतः नास्तिक धर्म के मानने वालों का ईश्वर ही परम आश्रय है। नास्तिकों के लिए आश्रय आवश्यक था, गौतम और महावीर के अनुयायियों को एक बात सूझी—क्यों न गौतम और महावीर की मूर्तियाँ स्थापित की जायें, और ये मूर्तियाँ भविष्य में उनकी प्रेरणा का स्रोत बनें। यह विचारधारा शीघ्र ही लोकप्रिय हो गयी। दोनों आचार्यों के देहावसान के अनन्तर उन सब स्थानों पर जहाँ इन आचार्यों के पुनीत चरण पड़े थे, मूर्तियाँ स्थापित हो गयीं, और जिन भवनों में इन्हें सुसज्जित किया गया उनका नाम भविष्य में मन्दिर या देवालय पड़ा। देश भर में जैन और बौद्ध धर्म का प्रचार तीव्रगति से हुआ, और भारतवर्ष से बाहर भी बौद्धों के तपस्वी प्रचारक पहुंचे। महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ एक प्रकार से विश्व-व्याप्त हो गयीं। मूर्तियों के दर्शन के लिए भक्तों की भीड़ एकत्रित होने लगी। कालान्तर में कई स्थानों पर स्तूप भी बने। राज्याधिकारियों और देश के समृद्ध धनी परिवारों का आश्रय पाकर मन्दिरों और मन्दिर-उपासना की परम्परा लोकप्रिय होती गयी। इस प्रकार नास्तिक आचार्यों ने विश्व में मूर्ति पूजा के प्रचलन की नींव डाली। महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी के

समय से लेकर स्वामी शंकराचार्य के समय तक देश भर में (दक्षिण भारत में भी) बौद्धों और जैनियों के विशाल मन्दिर तैयार हो गये। महात्मा बुद्ध की छोटी-छोटी मूर्तियाँ भी घर-घर में स्थापित हो गयीं। बड़े-बड़े चैत्य बने। पर्वतों की शिलाओं को गढ़कर मूर्तियाँ बनीं। इसी युग में बुद्ध और महावीर के पूर्व-जन्मों की कल्पना भी आरम्भ हुई, और अनेक मिथ्या वातयि (myths) भी परिकल्पित की गयीं। इन वार्ताओं के दृश्यों को भी मूर्तिमान् किया गया। चित्र कला और मूर्तिकला के विशेषज्ञों ने इन दन्तकथाओं को अपनी प्रतिभा द्वारा अलंकृत किया। साहित्य के साथ-साथ विविध प्रकार की कलाओं द्वारा जैन और बौद्ध धर्मों का प्रसारण हुआ, और जनजीवन को उसने प्रभावित करना आरम्भ किया।

स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि मूर्तिपूजा भारत में जैनियों से चली। यह बात ठीक ही है, यह जैनियों और बौद्धों से चली और धीरे-धीरे विश्व में व्याप्त हो गयी। जैन और बौद्ध परम्परायें समकालीन हैं, दोनों के मन्तव्य एक से हैं। दोनों सृष्टि रचयिता और कर्म-फल दाता ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। बहुत से विद्वान् तो यह मानते हैं कि महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी दो पृथक् व्यक्ति नहीं थे—दोनों एक ही थे। वैदिक यज्ञों के भ्रष्टाचार और ब्राह्मणवाद ने जनता में एक प्रतिक्रिया उत्पन्न की। पशु यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है—इस ढोंग से जैनियों और बौद्धों ने बहुत कुछ छुटकारा दिलाया। जनता का राज्य आरंभ हुआ, जो ब्राह्मणवाद और क्षत्रियवाद के विरोध में एक जन-आन्दोलन था। देश छोटे-छोटे साम्राज्यों में बिखर गया, छोटे-छोटे गणतन्त्रों में। इन गणतन्त्रों का नियन्त्रण बौद्धों के मठों, बौद्ध संघों और विहारों के हाथ में आ गया। अधिकांश शासक और उनकी जनता बौद्ध हो गयी अथवा जैन। दक्षिण में कन्याकुमारी तक जैन और बौद्धों के भव्य चैत्य, विहार और बड़े-बड़े मन्दिर बने। मन्दिरों में धनिकों का वैभव इकट्ठा होने लगा।

जैसे ईसाइयों के चर्चों की नक़ल में आर्यसमाज ने अपने मन्दिर बनाये, और रविवारीय अधिवेशन की नींव डाली, और सामूहिक प्रार्थना-उपासना की,^१ उसी प्रकार जैन और बौद्धों के विशाल मूर्तियों वाले मन्दिरों को देखकर वैदिक काल की परम्परा वाले आर्य भारतीयों को भी प्रलोभन लगा—यज्ञों के विरोध में जनता कटिबद्ध थी, तो आर्यों ने भी यज्ञ बन्द कर दिये, और इन्होंने देवालयों की स्थापना जैनियों और बौद्धों की नक़ल में आरम्भ की, और अर्चना और पूजा की विधियों में भी जैन मन्दिरों और बौद्ध मन्दिरों की नक़ल की। आर्यों के सामने प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि देवालयों में किसकी मूर्ति स्थापित की जाये। बौद्धों से पूर्व आर्यों के मस्तिष्क में अवतारवाद की गन्ध भी न थी। इनके पास पुराण भी न थे (तथाकथित कहानियों के) पर इन्हें अब जैनो और बौद्धों

१. इस कथन से हम सहमत नहीं हैं—लेखक

की प्रतियोगिता में कुछ चाहिये तो था। इनके पास रामायण और महाभारत के समान दो महाकाव्य थे (१० हजार श्लोकों का "जय" नाम का काव्य, जो बाद में भीमकाय होकर एक लाख श्लोकों का भारत या महाभारत बन गया)। वाल्मीकि के काव्य में कल्पना अधिक थी, ऐतिहासिकता कम, फिर भी यह आर्यकाव्य था, जिसका नायक राम एक मानव था, न कि देवता—मानवीय चरित्रों का आदर्श। वाल्मीकि के आदि काव्य में न तो शकुन-अपशकुन थे, न शिव के स्तोत्र—ये प्रक्षेप बाद को मिलाये गये। जैन-युग में (ईसा की १ ली शती से लेकर ३ री शती में) राम और कृष्ण को महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध के समान अमानवीय व्यक्ति घोषित कर दिया गया—भारतीय संस्कृति के ये दो आदर्श आज तक हिन्दुओं के जनजीवन की प्रेरणा बने हुए हैं—ये दोनों मनुष्य भी हैं, पर मनुष्य के चोले में स्वयं विष्णु के अवतार हैं। महात्मा बुद्ध के अनेक पूर्व जन्मों की कल्पना और तीर्थकरों की आदिवंशावली ने ब्रह्मा-विष्णु-महेश, उनके परिवार, उनकी सन्तान, उनकी पत्नी आदि सबकी कल्पनायें बना डालीं। बौद्ध पुराणगाथा के समान भारत में इस प्रकार पौराणिक धारा का प्रारम्भ हुआ, जिसकी विशेषतायें ये थीं— १. अवतारवाद, २. अवतारी व्यक्तियों के मानवीय अथवा विशिष्ट मानवीय स्वरूपों की कल्पना, ३. उनके पारिवारिक जीवन और चरित्र की विस्तृत दन्तकथायें, ४. कलाकारों की प्रतिभा की द्योतक मूर्तियों का निर्माण और प्रचलन, ५. मन्दिरों का निर्माण, ६. मन्दिरों में अर्चना और पूजा की विधियों का विकास, ७. पूजा के स्तोत्रों की साहित्यिक कवियों द्वारा रचना, और ८. पूजा का माहात्म्य।

सिकन्दर के समय से भारत में यूनानवासियों का आवागमन आरम्भ हो चुका था। यूनान और मध्य-पूर्वीय देशों के व्यक्तियों के पास ज्ञान-विज्ञान का भण्डार भी था, जिसे शक्तियों पूर्व उन्होंने भारत से प्राप्त किया था, पर बाद को जिसे उन्होंने अपने ढंग से विकसित भी किया। यूनानियों की मूर्ति कला अद्वितीय थी, जिसके सुन्दर उदाहरण अब भी ऐथेन्स (एक्रोपोलिस) में विद्यमान हैं। यूनानी मूर्तिकला का आर्यावर्त में भारतीयकरण भी हुआ। यूनान में देवालय भी थे, जिनमें वेदों के देवताओं को मूर्तिमान कर दिया गया था—तीन लोकों के देवता पृथिवी के, अन्तरिक्ष के और द्यौलोक के (अग्नि, वायु और आदित्य और इनके साथ के अन्य) यूनानी कलाकारों की प्रतिभा द्वारा मूर्तिमान् किये जा चुके थे। इनमें से अनेक देवताओं की मूर्तियां भारतीयकरण के परिवेश में भारत के मन्दिरों में भी स्थापित होने लगीं। मध्य-पूर्वीय देशों से यौन-उपासना भारत में भी आयी, जिसने मन्दिरों में शिवलिंग की स्थापना की, और लिंगोपासना की पौराणिक कथा को जन्म दिया। यूनान में मानवीय वृत्तियों को भी मूर्तिमान् किया गया है—काम, प्रेम, ईर्ष्या, पौरुष, लज्जा, करुणा आदि में। भारतीय कलाकारों ने इस प्रकार की मूर्तियों का भी शिल्प आरंभ किया, जिसके परिणामस्वरूप कामदेव और उसका धनुष, सरस्वती और उसकी वीणा एवं

सरस्वती का वाहन हंस, लक्ष्मी और उसका उलूक, शिव और उसके गण, यम और मृत्यु, यमराज और चित्रगुप्त, सूर्य और उसके रथ, और रथ में जाते हुए घोड़ों की मूर्तियां, कालचक्र, स्वर्ग और नरक इन सभी को मूर्तियों के रूप में आलोकित किया गया। चारों वेदों की मूर्तियां बनीं और संगीतज्ञों ने राग-रागिनियों को भी मूर्ति और चित्र द्वारा व्यक्त किया। मूर्ख जनता धीरे-धीरे मूर्तिपूजक हो गई, उसने गंगा की भी मूर्ति बना डाली और यमुना की भी, और धीरे-धीरे मूर्तियों की परमात्मा के स्थान में पूजा आरम्भ हो गई। मध्य-पूर्वीय देशों में ईसा और हज़रत मोहम्मद के उपदेशों के फलस्वरूप मूर्तिपूजा बहुत कुछ समाप्त हो गई। (कुछ रोमन-कैथोलिक देशों में अब भी मूर्तिपूजक हैं, वे दन्तकथाओं को प्रोत्साहन देते हैं, पर पौराणिकों से कम ही; मुसलमानों ने मूर्तिपूजा से बचने का अद्वितीय प्रयत्न किया, पर कबर-परस्ती और अन्धविश्वासों में वे भी फंस गए।) भारतवर्ष में पेड़ों और चौरस्तों, नागों और रीछ, भालू और पक्षियों की पूजा भी धीरे-धीरे प्रचलित हो गई।

मूर्तिपूजा का समस्त इतिहास बड़ा मनोरंजक है— मूर्तिपूजा के प्रचलन और पोषण के भिन्न भिन्न कारण बने— १. नास्तिक धर्मों का (जैनियों और बौद्धों का) प्रभाव, २. मध्यपूर्वीय देशों और विशेषतया यूनानियों का प्रभाव, ३. कलाकारों की कल्पना का प्रभाव (कविता, नाटक, चित्रकला और मूर्तिकला, संगीत कला, नृत्यकला, इन सबने मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन दिया), ४. पौराणिक दन्तकथाओं का प्रभाव।

मूर्तिपूजा निम्न हानियों की विशेषतया कारण बनी— १. द्वेष और वैमनस्य, शैव-वैष्णवों का कलह अब तक प्रसिद्ध है, २. सम्प्रदायवाद— मूर्तियों की आकृतियों को लेकर देश के आर्य विभिन्न सम्प्रदायों में बंट गए, ३. पण्डा और पुरोहितवाद और साथ ही साथ मठाधीशों और शंकराचार्यों की स्वेच्छाचारिताओं का इतिहास, ४. स्वार्थपरायणता का नग्न नृत्य और मूर्ख जनता का शोषण, ५. अन्धविश्वासों और ढोंगों का आधिपत्य, ६. आस्तिकता का लोप, ७. पूजा के अधिकारी होने का ढोंग, देवालय प्रवेश-निषेध, अस्पृश्यता, जात-पात आदि कुरीतियों का प्रसारण।

मनुष्य यदि एक बार अन्ध-मान्यताओं में विश्वास रखने लगे, तो फिर उसका विवेक नष्ट हो जाता है। इस विवेक के नष्ट होने के फलस्वरूप यूनान देश के सम्पर्क से भारत में तीन कुरीतियों का प्रादुर्भाव हुआ— १. प्रारब्धवाद, २. फलित ज्योतिष और हस्तरंखा शास्त्र, ३. शकुन-अपशकुनवाद। स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने विदेशी भाषणों में इस बात की पुष्टि की है। सिकन्दर के साथ और उसके बाद कई शतियों तक अनेक यूनानी विद्वान् भारत में आये, और इस देश में ही बस गये। उनके साथ मध्य-पूर्वीय देशों से और भी विदेशी आये, वे भी इस देश के नागरिक बन गए। उनके साथ सब

भारतवर्षीय मत-मतान्तर समीक्षा

विदेशियों ने संस्कृत भाषा पढ़ी, और संस्कृत में अनेक ग्रन्थ लिखे, जिन्हें हम भूल से भारतीय आर्यों की रचना मानते हैं। वराहमिहिर ज्योतिषी भी इन्हीं में से एक था जिसने बृहत्संहिता और पञ्चसिद्धान्तिक की रचना की। ब्रह्मगुप्त ने अपने प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रन्थ ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त में इन विदेशी विद्वानों की कटु आलोचना की है। बृहत्संहिता में फलित ज्योतिष, शकुन-अपशकुन, देव पूजन, भविष्य-अनुमान आदि अनेक अन्धविश्वासों को विस्तार से लेखनी-बद्ध किया गया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि ग्रह नक्षत्रों के शुभा-शुभ फलों का विचार, जन्मपत्री बनाना, पंचांग के विविध विस्तार, शकुन-अपशकुन, ये सब भारतीय दर्शन की कल्पना नहीं हैं, और न आर्यावर्तीय ऋषियों ने इन नव कालीन मान्यताओं को प्रश्रय दिया। भारतीय दर्शन पुरुषार्थवाद में विश्वास रखता है— मध्य-पूर्वीय देशों के व्यक्ति पूर्वाग्रही, दन्तकथाओं के विश्वासी और प्रारब्धवादी थे। उनके सम्पर्क से यह दोष हमारे देश में छूट की बीमारी के समान उग्ररूप से फैल गया। विवेकानन्द जी लिखते हैं कि यूनानी हमारे देश की सच्ची गणित ज्योतिष अपने देश में ले गए, और इस विद्या की उन्होंने अपने देश में अच्छी वृद्धि की थी, किन्तु वे अपने देश में प्रचलित फलित ज्योतिष हम भारतीयों के गले मंढ़ गए, जिससे हम आज तक मुक्त न हो पाये। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है।

पैगम्बरवाद और अवतारवाद इन दोनों ने अन्धविश्वासों का पोषण किया। ये दोनों वाद नास्तिकता के पोषक हैं— ऊपर से तो आस्तिक लगते हैं, पर तत्त्वतः ये नास्तिक हैं। अवतारवाद और पैगम्बरवाद ये दोनों चमत्कारों पर अवलम्बित हैं। जब तक कोई व्यक्ति चमत्कार न दिखा सके, तब तक उसे पैगम्बर नहीं कहा जा सकता, और अवतार भी तभी कहलावेगा जब वह कोई अमानवीय कार्य करके दिखा दे। राम अवतार हैं, क्योंकि रावण को उसने मारा। रावण क्या मनुष्य न था? मनुष्य को मनुष्य ने मार डाला और वह भी मानवीय अस्त्रों द्वारा, तो कौन सी अलौकिक बात हुई? राम ने कौन सा ऐसा कार्य किया था जो मनुष्य नहीं कर सकता। भारत की आधुनिक राजनीति में संजय और इन्दिरा को जिन्होंने पराजित किया, वे भी तो मनुष्य हैं। कैसर और हिटलर को जिन्होंने पराजित किया, वे भी मनुष्य थे। इन कार्यों की सिद्धि के लिए अवतार और पैगम्बर की क्या आवश्यकता? राम की विशेषता स्थापित करने के लिए रावण में विशेषताओं की कल्पना की गई। उसे वरदान दिलाये गए— विचित्र परिस्थिति तैयार की गई, उसका मारा जाना इसलिए विशेष पराक्रम माना गया। वरदान और अभिशाप की श्रृंखलायें आरम्भ की गईं। वरदानों और अभिशापों ने कहानियां तो मनोरंजक बना दीं किन्तु देश को इनसे बड़ी हानि हुई। वरदान और अभिशाप वैदिक युग की कल्पना नहीं हैं। वैदिक ऋषि न वरदान देते हैं, न अभिशाप। पौराणिक ऋषि में अभिशाप और वरदान की क्षमता आयोजित की

गई। महाकाव्यों की कला ने वरदान और अभिशाप को प्रश्रय दिया। राजा परीक्षित अभिशाप के वशीभूत होकर सांप से ग्रसित हुए, अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की अलौकिकता भी इसी प्रकार की है। नाटक तो सुन्दर बन गया, किन्तु शकुन्तला को दी गई अंगूठी नाटक की कल्पना की ही वस्तु रह गई— यथार्थ से कोसों दूर। हमारा मध्यकालीन साहित्य कला की दृष्टि से बड़ा ही उत्कृष्ट है, पर भारतीय प्रवृत्ति कला की कल्पना को कल्पना न मान कर जब यथार्थ मानने लगती है, तो दर्शन शास्त्र भी विकृत हो जाता है और कला भी सौन्दर्य से हीन हो जाती है। महाभारत का ऐतिहासिक कृष्ण बाद को प्रक्षिप्त संस्करणों में गीता का कृष्ण बना, उसके मुख से “यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः” वाले वाक्य कहलाये गए, उसने विराट् स्वरूप अर्जुन को दिखाया, “अहं” (अस्मद् आदेश) शब्द के कलात्मक प्रयोग से ऐतिहासिक पुरुष को आदिपुरुष की समकक्षता में प्रस्तुत कर दिया गया। फिर भी गनीमत थी,— अस्मद् आदेश का प्रयोग उपनिषद्-साहित्य में मान्य माना जाता रहा है, वर्णन करने की यह विशिष्ट साहित्यिक शैली है। ऋग्वेद में भी कुछ मंत्र अस्मद्-आदेश में हैं। आगे चल कर पौराणिक युग में गीता के कृष्ण से भी काम न चला, तो उसके व्यक्तित्व के साहचर्य में राधा के व्यक्तित्व की कल्पना की गई— गोपियों के साथ नाचने और वंशी बजाने वाला कृष्ण हो गया, साहित्य में स्वकीया शृंगार की अपेक्षा रस की सृष्टि परकीया में अधिक निखरती है— इस प्रकार की कल्पना की गई। परकीया शृंगार रस साहित्य का प्रबल अंग बन गया। शृंगार रस के साहित्य ने काव्य की दिशा को नया मोड़ दिया। राधा और कृष्ण नवीन कला के प्रतीक बन गए। भक्ति मार्ग में सूरदास ऐसे उच्चकोटि के कवियों ने राधा और कृष्ण के अवलम्बन से नए काव्यकरण को जन्म दिया। उपनिषद् काल की नैष्ठिक नैतिक आस्था भक्ति-युग के नये प्रवाह के सामने फीकी सी पड़ने लगी। अध्यात्म के परिवेश में विलास और भोग से संयुक्त शृंगार-भावना मन्दिरों में अपना नग्न नृत्य दिखाने लगी। देवालय भोगालय बन गए। महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में इसका अच्छा चित्रण किया है। आज भी इन मन्दिरों की यही अवस्था है। इनके पतित जीवन के नये-नये दृष्टान्त बराबर ही रहस्योद्घाटित होते रहते हैं। देवता, गुरु, भगवान् और आचार्य इनकी संख्या में तब से आज तक वृद्धि होती आ रही है। गौरांग महाप्रभु का अवतार मुसलमान शासकों के अन्याय से बचने के लिये ही नहीं हुआ। इसका एक और भी लक्ष्य था। गौरांग महाप्रभु गोरे रंग के थे, अतः ये राम और कृष्ण के समान विष्णु के काले अवतार तो हो नहीं सकते थे। उनके भक्तों ने उनका गौरापन देखकर एक नई कल्पना आरंभ की— गौरांग के शरीर में राधा और कृष्ण इन दोनों के संयुक्त अवतार की कल्पना। कृष्ण यह तो मानते थे कि राधा के साथ भोग-संपर्क करने में उन्हें क्या दिव्य आनन्द मिलता है, पर वे यह न समझ पाये कि साथ-साथ सहभोग में

राधा को किस प्रकार का आनन्द मिलता है। इस रस की अनुभूति के लिए कलियुग में उन्होंने इस प्रकार का विशेष अवतार लिया, जिससे वे एक ही शरीर में राधा और कृष्ण (पुरुष और स्त्री) दोनों के आनन्दों की अनुभूति कर सकें। वे राधा के अवतार थे, इसलिए गोरे थे। बंगाल के वैष्णव भक्तों को यह तर्क किस प्रकार सन्तुष्ट करता है, यह वे ही जानें। अवतारवाद के गोरखधन्धे नित्य नये रूप में हमारे सामने अब तक आ रहे हैं। केवल आर्यसमाज ही ऐसी संस्था है, जो इस प्रकार के अन्धविश्वासों से हमें मुक्ति दिला सकती है। बालयोगेश्वर ने अवतारवाद की परम्परा में यदि अपने को भी नये युग का अवतार बताया, तो इसमें अनौचित्य ही क्या था। उसकी घोषणा थी, (जैसा मैंने उनके साहित्य में पढ़ा है), कि राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध और मुहम्मद अपने-अपने युग के अवतार और पैगम्बर थे, पर उनसे अब काम नहीं चल सकता,— अब तो इस नये युग में और नये संकट में मैं ही (अर्थात् बालयोगेश्वर ही) साक्षात् भगवान् हूँ। बालयोगेश्वर ने विदेश में अपना विवाह भी कर लिया (अच्छा ही हुआ), उसके प्रति कई प्रकार के आरोप भी हुए, पर कौन अवतार है जो इस प्रकार के आक्षेपों से सर्वथा मुक्त रहा है? इसीलिए भंडाफोड़ होने पर भी बालयोगेश्वर के भक्तों में कमी नहीं आई। उसके भक्तों की संख्या बढ़ती ही जा रही है।

साई बाबा के विरोध में बैंगलौर इन्स्टीट्यूट के प्राध्यापकों ने आवाज उठाई है। उसके चमत्कार कोई मूल्य नहीं रखते, किन्तु भारत की मूर्ख जनता का पोषण उन्हें अभी तक प्राप्त है। इस प्रकार के चमत्कारों की सिद्धि वैज्ञानिक युग की मान्यताओं के सर्वथा विपरीत है। पर हिन्दू भी चमत्कारों में विश्वास करता है, और पैगम्बरों के अनुयायी भी। लगता है कि बीसवीं शती के नवीन युग ने हमारी आंखें अच्छी तरह नहीं खोली हैं। नये-नये ढोंग नये-नये रूप में हमारे सामने आ रहे हैं। योगी, भगवान्, बाबा और गुरु इस युग के नये अवतार और नये पैगम्बर हैं। दोष उनका इतना नहीं जो ठगते हैं, दोष तो उनका है जो ठगे जाने के लिए तैयार बैठे हैं, और जिन्होंने विवेक की आंखें मूंद ली हैं। आज यदि ऋषि दयानन्द जीवित होते तो उन्हें सत्यार्थप्रकाश का एकादश समुल्लास नये ढंग से लिखना पड़ता, स्वातन्त्र्य के तीस वर्षों में भारत आगे नहीं बढ़ा, कई कदम पीछे हट गया है। चोर बाजारी, लूट और मक्कारी का रुपया देश में बहुत जमा हो गया है, और इसी धन से पिछले तीस वर्षों में विशाल और भव्य मन्दिरों के निर्माण में प्रतियोगिता की दौड़ आरंभ हो गई है। ये मन्दिर गैरकानूनी ढंग से धन कमाने का प्रायश्चित्त भी कराते हैं, और अपने को गैरकानूनी ढंग से धन कमाने का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। शासन के अधिकारी इस प्रपंच में सहयोग देकर अपने लिए भी सहज धन अर्जित करने का मार्ग निकाल लेते हैं। स्पष्ट शब्दों में यह कहूंगा कि वे स्वयं घूस खाते

हैं और घूस खाने के बाद घूस देने वालों की गैरकानूनी हरकतों को वे प्रोत्साहन देते हैं। किसी ने योगाश्रम खोल लिए हैं तो किसी ने देवालय बनाये हैं। कोई भारतवर्ष के भीतर प्रपञ्च रचता है, तो कोई देश के बाहर।

देश की परिस्थिति बड़ी विकट है, और हमें बड़ी निष्ठा के साथ सतर्क होकर स्पष्ट शब्दों में रूढ़ियों को तोड़ने के लिए कटिबद्ध होना होगा। योग्य लेखक डॉ० भवानीलाल भारतीय की यह रचना इस दिशा में प्रेरक प्रयत्न है। ऐसे ही प्रयास निरन्तर हमें करने पड़ेंगे। महर्षि दयानन्द का विलक्षण व्यक्तित्व, उनकी तपस्या और साहस, उनका विवेक और जनता को अन्धकार से निकाल कर आलोक में लाने की निःस्वार्थ आकांक्षा— ये गुण सब में समाहित होना सरल कार्य नहीं है। मैं तो केवल यह प्रार्थना कर सकता हूँ— तमसो मा ज्योतिर्गमय।

लेखक को इस साधु-रचना के लिए बहुत-बहुत आशीर्वाद।

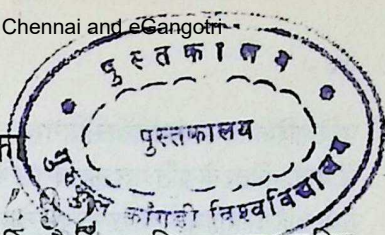
इलाहाबाद

—(डा०) सत्यप्रकाश सरस्वती

18.8

990

पूर्व पीठिका



(अ) वैदिक काल से महाभारत तक

पृथ्वी के अन्य स्थानों के बारे में तो कहना कठिन है किन्तु इतिहास द्वारा प्रमाणित साक्ष्यों के आधार पर यह कथन सर्वथा निर्विवाद है कि मानव सभ्यता एवं संस्कृति का जैसा सर्वांगीण विकास शताब्दियों ही नहीं, सहस्राब्दियों पूर्व भारत में हुआ था वैसा अन्यत्र किसी भी भूभाग में नहीं हो सका। पौरस्त्य एवं पाश्चात्य सभी वैदिक विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि वेदों को संसार के पुस्तकालय का प्राचीनतम ग्रन्थ कहा जा सकता है।¹ भारतीय परम्परा तो वेदों को ईश्वर प्रदत्त अपौरुषेय ज्ञान मानती है किन्तु इतर देशों के विद्वानों ने भी इन ग्रन्थों को अत्यन्त उदात्त, गम्भीर तथा गहनतम दार्शनिक प्रश्नों का समुचित समाधान करने वाला स्वीकार किया है। वस्तुतः मानव समाज के सम्मुख उपस्थित सभी प्रश्नों एवं समस्याओं का सन्तोषप्रद उत्तर हमें वेदों में मिलता है। यहाँ वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रगत तथा वैश्विक, सभी प्रकार की उन्नति के लिये महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश मिलते हैं। शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ मनुष्य ही मन, बुद्धि और आत्मा को बलवान बनाकर अपने वैयक्तिक योगक्षेम की प्राप्ति कर सकता है, यह वेद का सुनिश्चित मत है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन की अवस्थिति सम्भव है, यह वेद का महत्त्वपूर्ण उपदेश है। इसलिये शारीरिक स्वास्थ्य की अभिवृद्धि तथा मानवी शरीर को प्रस्तर तुल्य सुदृढ़ बना कर उसमें ओज, तेज, बल, वीर्य के संचार की बात वेदों में यत्र तत्र कही गई है। यजुर्वेद का शिवसंकल्प प्रकरण² मनुष्य के मन को उर्ध्वगामी बनाने की प्रेरणा देता है। मानव मनोविज्ञान का संश्लिष्ट चित्रण इस प्रकरण की विशेषता है क्योंकि यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि बिना मन के सहयोग के कोई भी क्रिया का सम्यक् रूप से किया जाना सम्भव नहीं है।³ यह मन ही है जो अतीत के संस्मरणों, वर्तमान के क्रिया कलाप तथा भविष्य की योजनाओं को पूर्ण सावधानी से स्वयं के भीतर सुरक्षित रखता है।⁴ हमारे समस्त ज्ञान विज्ञान का यही संरक्षक है और इसी के अधीन रह कर मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ स्व स्व विषयों में प्रवृत्त तथा वहाँ से निवृत्त होती हैं। आगे चलकर दार्शनिकों ने इसी अन्तःकरण का मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के रूप में चतुर्धा विभाजन किया और चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिये महान् योग शास्त्र का प्रवर्तन किया। आज पृथ्वीस्थ सभी देशों में योग के सैद्धान्तिक एवं क्रियामूलक पक्षों का महत्त्व एक स्वर से स्वीकार कर लिया गया है और योग साधना को ही सब प्रकार से पीड़ित, रुग्ण तथा मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ मानव समाज की रामबाण औषधि माना गया है।

वैयक्तिक सुख, समृद्धि तथा स्वास्थ्य के उपायों को बतलाने के पश्चात् वेदों ने

पारिवारिक सामञ्जस्य तथा सौमनस्य का विधान किया। अथर्ववेद के एतद् विषयक प्रकरण में माता-पिता के प्रति पुत्र का विनम्र भाव, पति पत्नी में परस्पर प्रेम भावना, भाई-भाई तथा बहिन-बहिन में पारस्परिक स्नेह तथा द्वेषरहित एकात्मसम्बन्ध आदि की चर्चा आई है।^{११} इन सभी परिजनों को वेद सत्रत-एक ही व्रत का पालन करने में उद्यत करता है, इसलिए इनके आचरण, व्यवहार और वचनों के आदान प्रदान में स्नेह तथा प्रेम की ऊष्मा आवश्यक समझी गई है।

उधर समाज के प्रमुख घटक-नर के पूरक रूप में उपस्थित नारी की मर्यादा, शील, चरित्र, यहाँ तक कि उसमें विद्यमान वीरत्व के भावों को भी वेद ने समुचित रूप से विकसित करने के लिए कहा है। वैदिक उषा सूक्तों^{१२} में प्राकृतिक उषा के उपचार से नारी के ही शील, सौन्दर्य एवं स्वभावगत, माधुर्य को चित्रित किया गया है। वीर नारी के रूप में जहाँ वैदिक स्त्री अपने पुत्रों को शत्रुहन्ता तथा अपनी दुहिता को विराट^{१३} कह कर पुकारती है तो दूसरी ओर वही यज्ञ मण्डप में ब्रह्मा^{१४} के आसन पर बैठकर अपने अपार वैदुष्य तथा अध्ययन का भी परिचय देती है। किन्तु उसकी वास्तविक महिमा उसके पत्नी के रूप में ही प्रकट होती है जहाँ वह अपने श्वसुरगृह की साम्राज्ञी^{१५} बनकर परिजनों को प्रेमपूर्ण अनुशासन में बांधे रखती है। नारी के इसी बहुविध व्यक्तित्व को महाकवि कालिदास ने गृहिणी, सचिव, सखा तथा कला प्रिय^{१६} कह कर अभिव्यक्ति दी है।

व्यक्ति के विकास और व्यष्टि हित की समग्र रूपरेखा प्रस्तुत कर देने के पश्चात् वेदों ने समष्टि हित और सामाजिक अभिवृद्धि का चिन्तन किया। इस प्रसंग में उसने कहीं तो ब्रह्म और क्षत्र की अवधारणा के आधार पर बौद्धिक क्षमता तथा शारीरिक बल के प्रतीक रूप ब्राह्मणों और क्षत्रियों के कर्त्तव्यों की व्याख्या की तो अन्यत्र कर्म और श्रम का वैज्ञानिक विभाजन करते हुए चातुर्वर्ण्य विधान^{१७} को स्वीकार किया। किन्तु यह ध्यातव्य है कि चातुर्वर्णिक व्यवस्था का आधार मनुष्य के विभिन्न गुण तथा कर्म ही थे। इसका जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसलिये पुरातन आर्य इतिहास में वर्ण परिवर्तन के उदाहरण सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। ब्रह्म शक्ति और क्षात्र शक्ति के सन्तुलित विकास^{१८} में ही मानव समाज की उन्नति निहित है, यह वैदिक तत्त्वविदों का सुनिर्धारित मत था।

उधर समाज के सभी घटक परस्पर पूर्ण सद्भाव रखते हुए प्रगतिपथ गामी हों, यह वेद की सार्वकालिक शिक्षा रही है। इसी दृष्टि से ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त^{१९} में मनुष्यों के मिलकर चलने, मिलकर बोलने तथा एक मन होकर किसी कार्य में प्रवृत्त होने को श्रेयस्कर कहा गया है। इसके लिये वेद सदा देवताओं की उपमा या उदाहरण प्रस्तुत करता है। वेदों में दैवी जीवन, दैवी प्रज्ञा तथा दैवी प्रवृत्तियों को मानव के लिये सर्वत्र आदर्श तथा अनुकरणीय कहा गया है। इसलिये यदि संज्ञान सूक्त उन्हें पूर्व के देवताओं की भांति

अपना अपना भाग एवं भोग्य प्राप्त करने की प्रेरणा देता है^{१४} तो वेदों में ही अन्यत्र देवताओं का सख्य^{१५} प्राप्त करने तथा देवताओं की भद्रा सुमति^{१६} अर्जित करने का उपदेश दिया गया है। सामाजिक हित का सम्पादन करने के पश्चात् ही राष्ट्रहित तथा विश्व बंधुत्व के आदर्शों का क्रियान्वयन सम्भव होता है। वेदों में राष्ट्रहित के लिये अनेक कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं। अथर्ववेद का भूमि सूक्त^{१७} तो पृथ्वी (प्रकारान्तर से राष्ट्र) के धारक तत्त्वों की चर्चा करता हुआ सत्य, ऋत, उग्रता, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ^{१८} को राष्ट्र के विकास के लिये अनिवार्य मानता है। इस सूक्त में मातृभूमि का जैसा काव्यमय वंदन एवं स्तवन किया गया है, वैसा विश्व वाङ्मय में अन्यत्र दुर्लभ ही है। किन्तु राष्ट्र भक्ति से भी बढ़कर विश्व कल्याण की सर्वतोभद्र कामना मानव समाज के शाश्वत एवं सार्वकालिक हित के लिये अनिवार्य मानी गई है। यहाँ भी वैदिक मन्तव्य ही हमारा मार्गदर्शन करते हैं। वेद की शिक्षाएं सार्वभौम, सार्वजनीन तथा सर्वकालोपयोगी हैं क्योंकि इनमें प्राणिमात्र को अपना मित्र समझने तथा सृष्टि के सूक्ष्म जीव जन्तु से लेकर सर्वोच्च मेधा सम्पन्न मनुष्य को मित्र की हितकारी दृष्टि^{१९} से देखने के लिये कहा गया है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वैदिक तत्त्व चिन्तन तथा वैदिक नीतिशास्त्र मानव के सार्वत्रिक हित तथा मंगल विधान का एक रचनात्मक प्रवचन था। इस पर आचरण कर अत्यन्त प्राचीन काल के आर्यों ने अपने समाज को समस्त भूमण्डल का श्रेष्ठतम संगठन बनाया तथा वे स्मृतिकार की इस उक्ति^{२०} को सार्थक कर सके, जिसमें कहा गया था कि आर्यावर्त के ब्राह्मणों से ही आचार, चरित्र तथा तत्त्वज्ञान की शिक्षा लेने के लिये अखिल पृथ्वीलोक के मानव आया करते थे।

कालान्तर में वैदिक तत्त्व ज्ञान को नाना दृष्टियों से पल्लवित करने तथा उसके बहुविध रूप को सरल ढंग से समझाने के अनेक प्रयास किये गये। ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदों में निरूपित यज्ञ संस्था एवं कर्मकाण्ड की तात्त्विक रूप से समीक्षा करने के साथ साथ मंत्रस्थ रहस्यों को स्पष्ट करने का यत्न किया गया। किन्तु वैदिक दर्शन को व्यवस्थित कर उसका काव्यात्मक निरूपण करने का दायित्व उपनिषद् युग के ऋषियों ने लिया। उनकी यह मान्यता थी कि वेदों को मात्र तत्त्व निरूपक दर्शन ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। उनमें पाये जाने वाले नासदीय सूक्त^{२१} पुरुष सूक्त^{२२} हिरण्यगर्भ सूक्त^{२३} अस्पृश्यामीय सूक्त^{२४} आदि शतशः प्रसंग पराशक्ति परमात्मा के स्वरूप, गुण, कर्म तथा स्वभावादि का वर्णन करते हैं तो वेदों में ही सहस्रों प्रकरण ऐसे भी हैं जो अपरा विद्याओं की भी विवेचना करते हैं। इन अपरा विद्याओं में जो वैज्ञानिक सत्य वर्णित हैं, उन्हीं के कारण गत शताब्दी के महान् वैदिक विद्वान् दयानन्द सरस्वती ने वेदों को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक कहा^{२५} तथा स्वरचित ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में उन वैज्ञानिक तथा लौकिक विद्याओं का मूल

भी वेदों को ही सिद्ध किया जिन्हें आज हम Natrual और Social Sciences कह कर पुकारते हैं। इस दृष्टि से किसी उपनिषद्कार ऋषि ने यदि वेदों को अपरा विद्या ^{२६} कहा तो यह वेद का अवमूल्यन नहीं, किन्तु इस तथ्य का प्रकाशन है कि वेदों में धर्म, अध्यात्म, नीतिशास्त्र तथा दर्शन तो हैं ही, उसमें मानवजीवन के हितार्थ विकसित सभी प्रकार की भौतिक विद्यायें भी अपने मूल रूप में व्याख्यात हुई हैं।

सर्वे वेदा यत् पद मामनन्ति^{२७} आदि वाक्यों के द्वारा उपनिषदों ने अध्यात्म विद्याओं का मूल भी वेदों को ही माना किन्तु स्वयं को ब्रह्म (आत्म) तत्त्व निरूपण तक ही सीमित रक्खा। यही कारण है कि ईशावास्योपनिषद् से लेकर श्वेताश्वतर पर्यन्त एकादश उपनिषदों में उस दुर्दर्श (कठिनाई से दिखाई पड़ने वाले) गूढ़ पुराण पुरुष^{२८} को नाना उक्तियों, सूक्तियों, अन्योक्तियों, आलंकारिक योजनाओं के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया जो अणु से भी अणु किन्तु महत् से भी महीयान^{२९} है, जो चक्षु, श्रोत्र, वाग् आदि का विषय नहीं है^{३०}, जो अपाणि, अपाद होने पर भी ग्रहण करता है, चलता है और श्रोत्रों के न होने पर भी सुनता है।^{३१} इसी परम तत्त्व का उपदेश इन उपनिषद् नामक ग्रन्थों में सर्वत्र भावप्रधान तथा काव्यात्मक शैली में किया गया है। इसी परम तत्त्व को एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा^{३२} कहा तो अन्यत्र नित्यों में उत्कृष्ट नित्य, चेतन में विशिष्ट चेतना सम्पन्न, बहुतों में एक कह कर वर्णित किया गया।^{३३} इसी दिव्य प्रकाश युक्त परमात्मा की प्रभा से ही सूर्य, चन्द्र, तारक वृन्द, विद्युत एवं अग्नि आदि भासमान पदार्थों को प्रकाशित होने वाला कहा गया^{३४} तथा दुराचार को त्यागने में असमर्थ, अशान्त तथा असमाहित चित्त वाले व्यक्ति के लिये उसे प्राप्त करना सर्वथा असम्भव बताया।^{३५}

उपनिषदों की इन्हीं उदात्त एवं आत्मोन्नति की साधन भूत शिक्षाओं से प्रभावित होकर पाश्चात्य दार्शनिकों को भी स्वीकार करना पड़ा कि संसार में उपनिषदों के तुल्य ऐसा कोई अध्ययन (विद्या) नहीं है जो उपयोगी हो तथा मानव को उन्नति के पथ की ओर ले जाने वाला हो। वे उच्चतम मेधा से प्रसूत हैं। उनसे मुझे मेरे इस जीवन में तो शान्ति मिली ही है, मृत्यु के उपरान्त वाले जीवन में भी यही विद्या मेरे लिये सान्त्वनादायक रहेगी। एक दिन उपनिषदों की यह शिक्षा सम्पूर्ण मानव जाति द्वारा ग्राह्य धर्म हो जायेगी।^{३६}

तत्त्वचिन्तन की सूक्ष्मता तथा दार्शनिक विचारों की ऊंची उड़ान के लिये तो उपनिषदों का युग लब्धव्याति था ही, उस काल की सामाजिक स्थिति तथा आर्य जाति की जीवन दृष्टि भी कम प्रशंसनीय नहीं थी। यहाँ अश्वपति जैसे दार्शनिक मेधा सम्पन्न शासक यह घोषणा करते हुए दिखाई पड़ते हैं कि मेरे राज्य में न तो कोई चोर है न कृपण, यहाँ कोई मद्यप भी निवास नहीं करता और मेरी प्रजा में जब कोई व्यभिचारी पुरुष ही नहीं है तो स्वैरिणी नारी के लिये यहाँ अवकाश ही कहाँ।^{३७} बृहदारण्यक उपनिषद् में

भारतवर्षीय मत-मतान्तर समीक्षा

ब्रह्मवादिनी गार्गी जैसी वैदुष्य सम्पन्न नारी चरित्र की अवतारणा की गई है जो एक बार तो महर्षि याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मविद्यां विभूषित तत्त्ववेत्ता पुरुष से शास्त्रार्थ में तत्पर होती है,^{३८} किन्तु यह अनुभव कर कि इस महाप्रज्ञाशाली पुरुष के तुल्य ब्रह्मवेत्ता सम्प्रति भूमण्डल में अन्य कोई नहीं है 'नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य' कह कर इस ब्रह्मवर्चस्व सम्पन्न ब्राह्मण के प्रति अपना सम्मान व्यक्त करती है। उपनिषदों की इसी उदात्त विचार भूमि को दृष्टि में रखकर श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने उन्हें संसार भर के साहित्य में अद्भुत एवं अद्वितीय तथा निखिल भूमण्डल पर निवास करने वालों के लिये ज्योति स्तम्भ तुल्य बताया था।^{३९} पुराकालीन आर्यावर्त देश के आर्य लोगों की उच्चावच स्थितियों और सामाजिक विधि विधानों का लेखा जोखा उनके द्वारा रचित संहिता एवं उपनिषद् के पश्चात्पूर्वी सूत्र साहित्य में भी मिलता है। कालान्तर में यज्ञ यागादि कर्मकाण्डों का असाधारण विस्तार हुआ और अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों की क्रिया बहुलता, जटिलता तथा याज्ञिक विधान की दुरूहता के कारण उनकी उपयोगिता एवं महत्ता के प्रति प्रश्नवाचक चिन्ह भी लगाये जाने लगे। इस वैदिक कर्मकाण्ड की विधियों में संगति तलाशने तथा उनके कृत्यों में सामञ्जस्य स्थापित करने की दृष्टि से मीमांसा शास्त्र का प्रवर्तन हुआ और जैमिनि, कुमारिल, शबरस्वामी जैसे सूत्रकार तथा व्याख्याकार मनीषियों ने यज्ञों से उत्पन्न अदृष्ट तथा उससे प्राप्य स्वर्गादि के विचारों की सतर्क मीमांसा की। कल्प सूत्रों के अन्तर्गत आने वाले श्रौत सूत्रों में अग्निहोत्र, दर्शेष्टि, पौर्णमासेष्टि, सोमयाग, अश्वमेध, वाजपेय आदि क्रियाबहुल यज्ञों की विधियों का आलेखन हुआ तो गृह्य सूत्रों में गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त मानवजीवन के उन्नायक तथा उसके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा सामाजिक विकास में सहायक षोडश संस्कारों की विधि एवं क्रियायें व्याख्यात हुईं। धर्म सूत्रों में व्यक्ति एवं समाज के हित एवं सम्यक् संचालन के लिये बनाये गये सामाजिक विधि विधानों को निरूपित किया गया। यद्यपि ये सूत्र ग्रन्थ ऋषियों की आर्ष प्रज्ञा से प्रसूत थे, किन्तु पश्चात्पूर्वी विभिन्न कालों में रचित मनु से भिन्न स्मृतियों तथा धर्मशास्त्र के प्रकरण ग्रन्थों में इन विधियों की विवेचना की एकरूपता दिखाई नहीं पड़ती। समय समय की आवश्यकताओं तथा युगानुकूल परिस्थितियों का प्रभाव धर्मशास्त्र के इन अर्वाक् कालीन ग्रन्थों में स्पष्ट दिखाई देता है।

दयानन्द सरस्वती द्वारा वेदों के उपांग की संज्ञा प्राप्त करने वाले षड् दर्शन आर्यावर्त वासी ऋषियों के दार्शनिक चिन्तन तथा सूक्ष्म विवेचना शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। सांख्य दर्शन को भारतीय आस्तिक दर्शनों की श्रृंखला की प्रथम और प्राचीनतम कड़ी माना जाता है। कपिल प्रोक्त इस दर्शन में पुरुष और प्रकृति नामधेय चेतन एवं अचेतन तत्त्व की सारगर्भित व्याख्या की गई है। सांख्य दर्शन के ही दार्शनिक आधार को स्वीकार

कर योग दर्शनकार महर्षि पतञ्जलि ने अष्टांग योग की साधनामूलक प्रणाली आविष्कृत की जिसमें यम, नियम जैसे जीवन निर्माण के सकारात्मक पहलुओं को महत्त्व देते हुए परमपुरुष ईश्वर के वाचक प्रणव के अर्थ विचार पूर्वक जप को समाधि सिद्धि का कारण बताया।^{४०} गोतम प्रणीत न्याय दर्शन ने यदि आर्य जाति के तर्कशास्त्र को व्याख्यात किया तो काणाद दर्शन ने सप्त पदार्थों के विवेचन के प्रसंग में परमाणुवाद जैसे सुगम्भीर वैज्ञानिक मत की समालोचना की। बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्रों में उपनिषदादि अध्यात्म ग्रन्थों में प्रयुक्त ब्रह्म तत्त्व की आलोचना वाले प्रकरणों की संगति बिठाने का प्रयास किया गया। साथ ही उसे प्राप्त करने के साधनों तथा मोक्ष के स्वरूप, स्थिति एवं प्राप्ति आदि समस्याओं का भी समाधान किया।

पश्चिमी संस्कृतज्ञों ने जिसे हमारे इतिहास का epic age (महाकाव्य काल) कहा तथा अधिकांश ने उसे वास्तविक ऐतिहासिक युग से पूर्व का (pre historic) कल्पना प्रसूत देवगाथा युग कह कर उसके महत्त्व को नकारा, वह रामायण और महाभारत का काल भी आर्यों की उत्कृष्ट सामाजिक स्थितियों को दर्शाता रहा है। वाल्मीकि ने तो स्वरचित इस इतिहास के बारे में स्पष्ट कहा था कि जब तक धरती पर पर्वतों तथा नदियों की अवस्थिति रहेगी, तब तक रामायण की इस आदर्श कथा का भी लोक में समादर पूर्वक प्रचार रहेगा।^{४१} राम जैसे धर्म के विग्रहवान्^{४२} आदर्श, धीरोदात्त नायक को लेकर जिस उत्कृष्ट काव्य का निर्माण किया गया है वह आर्य जीवन की सम्पूर्ण एवं सर्वांगीण निष्पत्ति है। आर्य जीवन की मर्यादा, त्याग, वैराग्य और गार्हस्थ्य धर्म के सन्तुलित निर्वाह की आदर्श अभिव्यक्ति रामायण में सर्वत्र मिलेगी।

महाभारत के काल से ही आर्य जाति के पतन का युग आरम्भ हो जाता है। तथापि व्यास रचित इस जय नामक काव्य में जो बातें लिखी गई हैं वे लेखक के इस कथन को सत्य प्रमाणित करती हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय का जैसा निरूपण यहाँ (महाभारत में) हुआ है वैसा आपको अन्यत्र कहाँ मिलेगा।^{४३} इसलिये महाभारतकार की इस गर्वोक्ति को भी हम सत्योक्ति ही मानते हैं कि यदिहस्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्। जो इसमें है, वही अन्यत्र है और जो यहाँ नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।

महाभारत में चाहे कितने ही श्रेष्ठ उपदेश क्यों न मिलते हों, यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि आर्यावर्त देश की अधोगति भी उसी काल से आरम्भ हुई। इस प्रसंग में स्वामी दयानन्द लिखते हैं— “जब बड़े-बड़े विद्वान्, राजा, महाराजा, ऋषि महाभारत युद्ध में बहुत से मारे गये और बहुत से मर गये, सब विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार नष्ट हो चला। ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आपस में करने लगे। जो बहुत बलवान् हुआ वह

देश को दाबकर राजा बन बैठा। वैसे ही सर्वत्र आर्यावर्त देश में खण्ड बण्ड राज्य हो गया।^{१४४} महाभारत युद्ध का प्रमुख कारण भाई भाई की आपस की फूट तथा पारस्परिक अविश्वास था। इसी तथ्य को उजागर करते हुए स्वामी दयानन्द ने कौरवों में ज्येष्ठ दुर्योधन को 'गोत्र हत्यारा' कह कर पुकारा तथा कुरुवंश के इस विद्वेष को ही देश के समग्र विनाश का कारण ठहराया— "जब आपस में भाई भाई से लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। क्या तुम लोग महाभारत की बातें जो पांच सहस्र वर्ष के पहले हुई थी उनको भी भूल गये। देखो, महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते पीते थे। आपस की फूट से कौरव पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है, न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ा कर दुःखसागर में डुबा मारेगा? उसी दुष्ट दुर्याधन गोत्र हत्यारे, स्वदेश विनाशक नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक चल कर दुःख बढ़ा रहे हैं।"^{१४५}

यह बात नहीं कि महाभारत काल में श्रेष्ठ आदर्शों को प्रस्तुत करने वाले, सच्चे अर्थों में आर्य कहे जाने वाले महापुरुषों की कमी थी। इसी काल में व्यास जैसे धर्मात्मा, विद्वान् तथा वैदिक संस्कृति के पोषक ऋषि विद्यमान थे। अपनी ज्ञानार्जनी, कार्यकारिणी तथा लोकानुरञ्जिनी वृत्तियों को विकास की चरमावस्था तक ले जाकर धर्मराज्य की संस्थापना के लिये कृतसंकल्प वासुदेव कृष्ण जैसे महानुभाव भी उस युग के आर्यसमाज की शोभा बढ़ा रहे थे।^{१४६} भीष्म जैसे धर्मज्ञ, नीतिवान् तथा स्वदेश के हितचिन्तन में संलग्न वयोवृद्ध तथा विदुर के तुल्य कर्तव्याकर्तव्य के निश्चय में पटु, परम नीतिज्ञ एवं व्यवहारविद् महापुरुष भी महाभारत के युग में ही हुए। तथापि इस युग में अनार्य जुष्ट प्रवृत्तियों में आकण्ठ मग्न, देश, धर्म तथा संस्कृति को विच्छिन्न करनेवाले दुष्टात्मा व्यक्तियों का भी अभाव नहीं रहा। जरासंध, कंस, दुर्योधन, दुःशासन, शिशुपाल आदि को इसी श्रेणी में रक्खा जा सकता है।

वस्तुतः महाभारत के काल से ही आर्यावर्त के सर्वविध पतन का आरम्भ होता है। सर्वप्रथम हम धर्म की स्थिति पर विचार करें। आर्यों का वेद प्रतिपादित आदिम धर्म एकेश्वरवाद की सुदृढ़ आस्था पर केन्द्रित था। यद्यपि वेदों में इन्द्र, अग्नि, वरुण, सोम, पूषन्, सविता आदि विभिन्न देवताओं के स्तुति-प्रार्थना परक सहस्रों मंत्र संकलित हैं किन्तु ये सभी देवता एक परमात्मा के ही प्रतीक या वाचक हैं। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं' इस ऋग्वेदीय मंत्र^{१४७} में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा आदि नामों से पुकारे जाने वाला अग्नि संज्ञक परमात्मा एक ही है जिसे विप्रजन (बुद्धिमान लोग) नाना नामों से पुकारते हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि

उपनिषद् प्रणेता ऋषियों ने भी उसी ब्रह्म शब्द वाच्य परमात्मा के ही स्वरूप, गुण, कर्म आदि की विवेचना नाना शैलियों और रीतियों से की थी। किन्तु महाभारत तक आते आते एकेश्वरवाद के स्थान पर उपास्य देवों की बहुलता का सूत्रपात हुआ। यद्यपि यह प्रवृत्ति इस काल में अधिक प्रबलता से स्फुट नहीं हुई, किन्तु भारत युद्ध के तत्काल बाद ही वैदिक धर्म और अध्यात्म का स्वरूप परिवर्तित होने लगा जो आगे चल कर विग्रह उपासना, अवतार कल्पना, पञ्चदेवोपासना, शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव जैसे रूप लेकर सर्वथा पौराणिक मतवाद में रूपान्तरित हो गया।

इधर महाभारतकालीन समाज में भी नाना विकृतियाँ फूट पड़ीं। जन्माधारित जाति व्यवस्था तथा उससे उत्पन्न ऊँच नीच के भाव धीरे-धीरे आर्य जाति में प्रबल होने लगे। वर्णसांकर्य तो हुआ ही, वर्णाश्रम धर्म की मर्यादायें भी छिन्न-भिन्न होने लगीं। द्रोणाचार्य यद्यपि ब्राह्मण थे किन्तु मात्र जीविकोपार्जन के लिये उन्होंने कुरुवंश के वशवर्ती होकर राजकुमारों को अस्त्र शस्त्रों की शिक्षा देने का कार्य स्वीकार किया। स्वाभिमान तथा ब्रह्मतेज सम्पन्न ब्राह्मण को भी राजा के अधीन होकर न केवल उदर पूर्ति ही करनी पड़ी, किन्तु युद्ध का अवसर आने पर अधर्म का पक्ष भी ग्रहण करना पड़ा। इस युग में जन्मे क्षत्रियकुमारों में अपने अभिजात कुलोत्पन्न होने का गर्व बढ़ने लगा। परिणाम यह निकला कि वे तथाकथित निम्न कुलोत्पन्न युवकों की उनके गुणों एवं योग्यता की उपेक्षा कर अवहेलना तथा अपमान करने में सन्नद्ध हुए। कुन्ती के कानीन पुत्र किन्तु प्रकट में अधिरथ सूत के पालित पुत्र कर्ण का शस्त्र प्रतियोगिता के अवसर पर जैसा क्रूर अपमान कुरुवंशी भीम ने किया, उसे भुलाना कर्ण के लिये सर्वथा अशक्य हो गया। उस समय तो उसने अपने पौरुष और पराक्रम की दुहाई देकर संस्कृत नाटककार भट्ट नारायण के शब्दों में कहा—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम् ।

दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम् । ।

(मैं सूत हूँ या सूत पुत्र, या कोई अन्य। किसी कुल विशेष में जन्म लेना तो दैवाधीन होता है, मेरा अधिकार तो मेरे पौरुष पर है और उसी का प्रदर्शन करने मैं यहाँ आया हूँ) किन्तु मन में यह कसक बनी ही रही कि सूत द्वारा पालित और पोषित होने के कारण ही कुरुकुलीय राजकुमारों ने उसका इतना अपमान किया है। परिणामतः यह जानते हुए भी कि वह तो युधिष्ठिर का भी अग्रज है, उसने महाभारत युद्ध में पाण्डवों के शत्रु कौरवों का ही पक्ष ग्रहण किया।

जन्मना जाति का अहंकार और अभिनिवेश जिस प्रकार ब्राह्मणों और क्षत्रियों में बढ़ रहा था, उसका ही एक परिणाम वनचर जातियों की अवहेलना, उपेक्षा तथा अवगणना

के रूप में प्रकट हो रहा था। यही कारण है कि शबर बालक एकलव्य की शस्त्र संचालन में तीव्र जिज्ञासा की उपेक्षा कर द्रोणाचार्य ने उसे अपना शिष्य बनाने से इन्कार कर दिया। निश्चय ही महाभारत कालीन समाज समानता तथा पारस्परिक बंधुता के श्रेष्ठ आर्य आदर्शों से निरन्तर दूर होता जा रहा था। उसमें विषमता, घृणा तथा एक दूसरे को नीचा दिखाने जैसी हीन प्रवृत्तियाँ लगातार बढ़ रही थीं।

इस काल में मानव समाज के अर्ध भाग के तुल्य नारी का पुराकालीन सम्मान भी धीरे-धीरे समाप्त हो रहा था। उसे मात्र भोग्या समझा जाने लगा। दाम्पत्य जीवन की गरिमा भंग होने लगी। यदि द्रौपदी के पञ्चपतित्व^{४४} को यथार्थ घटना माना जाये तो यह कहना उपयुक्त होगा कि बहुपतित्व का अभिशाप भी महाभारत काल की ही देन है। बहु पत्नीवाद तो महाभारत में एक सामान्य प्रवृत्ति हो गई थी। पाण्डु की दो रानियाँ, अर्जुन की सुभद्रा, उलोपी आदि अनेक पत्नियाँ इस तथ्य की साक्षी हैं। दाम्पत्य प्रणय से भिन्न यौन सम्बन्धों में स्वेच्छाचारिता, सपत्नी द्वेष, नारी अपमान तथा यौन शोषण के अनेक उदाहरण महाभारत के उपाख्यानों में यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। कुरु सभा में भीष्म, द्रोण, कृप, धृतराष्ट्र जैसे वयोवृद्धों की उपस्थिति में रजस्वला द्रौपदी को अपमानित करने की लज्जास्पद घटना महाभारत काल की दुरवस्था तथा नारी जाति के तिरस्कार का ज्वलन्त उदाहरण है।

दयानन्द सरस्वती के अनुसार सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्य कुल में ही हुए थे। उन्होंने ऐसे आर्य सम्राटों की एक सूची भी प्रस्तुत की है।^{४५} इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि अब इनके सन्तानों का अभायोदय होने से ये राजभ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहे हैं।^{४६} भारत राष्ट्र के राजनैतिक अधःपतन की कहानी भी महाभारत के जमाने से ही आरम्भ होती है। उस समय का भारतवर्ष गांधार से लेकर सह्याद्रि पर्वतमाला तक क्षत्रिय राजाओं के छोटे-छोटे स्वतंत्र किन्तु निरंकुश राज्यों में विभक्त हो चुका था। इन्हें एकता के सूत्र में पिरोकर समग्र आर्यावर्त को एक सुदृढ़ शासन के अन्तर्गत लाने वाला कोई नहीं था। एक चक्रवर्ती तथा धर्मनिष्ठ सम्राट् के न होने से विभिन्न माण्डलिक राजा नितान्त स्वेच्छाचारी, प्रजापीड़क तथा अन्यायी हो गये थे। मथुरा का कंस, मगध का जरासंध, चेदि का शिशुपाल, सिंधु देश का जयद्रथ, हस्तिनापुर के कौरव सभी दुष्ट, विलासी, अत्याचारी तथा उद्दण्ड आचरण वाले थे। यथा राजा तथा प्रजा की नीति का अनुसरण करने वाले महाभारतकालीन समाज में भी अनीति, अन्याय, अत्याचार, शोषण, फूट एवं विग्रह के विषाणुओं ने प्रवेश पा लिया था। जब समाज के अग्रगन्ता ब्राह्मण और लोकरक्षक की भूमिका का निर्वहन करने वाले क्षत्रिय ही स्वकर्त्तव्य से उदासीन हो जावें तो अन्य वर्णस्थों के अधःपतन की

कोई शंका ही नहीं रहती।

ऋषि दयानन्द ने पुणे (महाराष्ट्र) में प्रदत्त अपनी १५ व्याख्यानों की शृंखला में छः व्याख्यान पुराकालीन इतिहास को आधार बना कर दिये थे। इनमें से १२ वें व्याख्यान में उन्होंने महाभारत काल से आरम्भ होने वाले इस देश के सर्वतोमुखी हास की चर्चा करते हुए निम्न तथ्य प्रस्तुत किये—

१. राजा धृतराष्ट्र स्वभाव से ही कपटी था जब कि राजा पाण्डु धर्मात्मा थे।
२. सती प्रथा का आरम्भ महाभारत काल से ही हुआ जब कि पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् उसकी एक रानी माद्री सती हो गई। यह कार्य वेदाज्ञा के विपरीत था।
३. अर्जुन ने (सूत पुत्र होने के कारण) कर्ण की अवज्ञा की। इस अवज्ञा से लाभ उठाने के लिये दुर्योधन ने कर्ण को बंगाल (वस्तुतः अंग देश— आज का उड़ीसा) का राज्य देकर उसे क्षत्रिय वर्ण का अधिकार दे दिया।
४. धृतराष्ट्र का सलाहकार कणिक नामक एक नीच, छिछोरा, कामुक शास्त्री (पण्डित) था जिसने पाण्डवों के विरुद्ध बहुत सी बातें कहकर धृतराष्ट्र का मन उससे फेर दिया।
५. शकुनि, दुःशासन, दुर्योधन और कणिक की चाडाल चौकड़ी की करतूत से (आर्य) राज्य की दुर्दशा हुई।
६. द्यूत क्रीड़ा के कारण युधिष्ठिर को अज्ञातवास और वनवास दिया गया।
७. भीष्म जैसे विद्वान् धर्मवादी पुरुष भी पक्षपात के रोग में ग्रस्त हो गये और 'अर्थस्य पुरुषो दासः' जैसी लचर दलील देकर कौरवों का पक्ष समर्थन करने लगे।
८. महाभारत युद्ध से प्राचीनआर्य लोगों का वैभव सदा के लिये अस्त हो गया।
९. इस अनर्थ का एक प्रमुख कारण यह था कि राजाओं को सम्मति देने का काम नीच और क्षुद्र लोगों को सौंपा गया। उदाहरण में वे शकुनि और कणिक का नाम लेते हैं जिनके कारण भाई-भाई में फूट फैली और सर्वनाश हुआ।
१०. प्रमाद और विषयासक्ति के कारण यादवों में भी फूट पड़ गई और परस्पर में लड़ मर कर अल्पकाल में ही वे भी नष्ट हो गये।
११. अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित में आर्य ग्रन्थों की समझ नहीं थी। (इसलिये उसने किसी आर्य शास्त्र से शिक्षा ग्रहण करने की अपेक्षा, लोक प्रसिद्धि के अनुसार शुकदेव से भागवत जैसे कपोल कल्पित पुराण की कथा सुनने में ही रुचि दिखाई।)
१२. जनमेजय तथा तत्पुत्र वज्रनाथ के राज्यकाल के आते आते आर्यावर्त के सम्पूर्ण वैभव का नाश हो गया। राजसभा, धर्मसभा और विद्यासभा तीनों डूब गईं।
१३. राजा लोग स्वेच्छाचारी और एक तंत्री हो गये। प्रजातंत्र आधारित राज-व्यवस्था नष्ट हो गई।
१४. व्यास, जैमिनि और वैशम्पायन आदि महर्षियों के न रहने पर विधि निषेध की भीमांसा और उचित अनुचित की व्यवस्था का निर्धारण कठिन हो गया।
१५. चक्रवर्ती राज्य के नष्ट होने से यत्र तत्र माण्डलिक राज्य स्थापित हो गये।
१६. ब्राह्मण लोगों में विद्या की कमी होती गई और अभिमान बढ़ता गया।
१७. तत् पश्चात् अनेक प्रकार के व्रत, उपवास, उद्यापन, प्रायश्चित्त, श्राद्ध और मूर्तिपूजन आदि वेद विरुद्ध कर्म प्रचलित हो गये।
१८. जन्मना ब्राह्मणों का वर्चस्व बढ़ाने के लिये अनेक प्रकार के कल्पित श्लोक और वाक्य गढ़े गये।

यहाँ तक कि मन्वादि स्मृतियों में भी ब्राह्मणों के महत्त्व के अनिष्टकारी श्लोक^{११} बढ़ा दिये गये।

१९. दुष्टाचारण वाले किसी ब्राह्मण की निंदा करने वाले को भी ब्रह्म विरोधी कहकर दण्डित किया जाता था।

२०. महाभारत के इस परवर्तीकाल में सदाचार लुप्त हो गया, धूर्तता और अत्याचार बढ़ गया, मूर्खता ने देश में अपना डेरा डण्डा जमा लिया।

उपर्युक्त प्रकार से महाभारत कालीन समाज तथा उसके परवर्ती काल के भारतीय समाज के धर्म, सामाजिक जीवन तथा राष्ट्रीय परिदृश्य में व्याप्त अनाचार, स्वेच्छाचार, मर्यादा हीनता तथा जीवन मूल्यों के सार्वत्रिक ह्रास की दुःखद गाथा को लेखबद्ध कर दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों और व्याख्यानों में आर्यावर्त के पांच हजार वर्षों के सांस्कृतिक पतन का एक जीवन्त एवं वस्तुवादी चित्र उपस्थित कर दिया।

पाद टिप्पणियाँ—

१. The Rigveda is probably the oldest book in the library of the world. F. Maxmuller.
२. यजुर्वेद अ. ३४ मं. १-६
३. यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते। यजु. ३४। ३
४. येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्। यजु. ३४। ४
५. अथर्ववेद का० ३ सूक्त ३०. के अनुव्रतः पितुः पुत्रो, मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् आदि मंत्र।
६. ऋग्वेद मं. १ सूक्त ४८ मं. ४ सूक्त ५१ आदि।
७. मम पुत्रा शत्रुहणोऽयो मे दुहिता विराट्। ऋग्वेद १०। १५९। ३
८. स्त्री हि ब्रह्म बभूविथ-। ऋग्वेद
९. ऋग्वेद मं. १०. सूक्त ८५ मंत्र ४६
१०. रघुवंश में रघु का इन्दुमति के प्रति कथन
११. यजुर्वेद पुरुषाध्याय ३१। ११
१२. यत्र ब्रह्म च क्षेत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
१३. ऋग्वेद मं. १० सूक्त १९१
१४. देवा भागं यथापूर्वं सज्जानाना उपासते ऋ. १०। १९१। २
१५. देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं। यजु. २५। १५
१६. देवानां भद्रासुमति आदि यजु. २५। १५
१७. अथर्ववेद काण्ड १२। १
१८. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। सानो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उरु लोकं पृथिवी नः कृणोतु १२। १। १
१९. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।। यजु. ३६। १८
२०. एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।। मनु. २। २०
२१. ऋग्वेद मं. १० सूक्त १२९

२२. ऋग्वेद मं. १० सूक्त ९० तथा यजुर्वेद अ. ३१
 २३. ऋग्वेद मं. १० सूक्त १२१
 २४. ऋग्वेद मं. १० सूक्त १६४
 २५. आर्यसमाज का तृतीय नियम
 २६. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ऽथर्ववेदः आदि- मुण्डक. १। ५
 २७. कठोपनिषद्-प्रथमोध्याय द्वितीया वल्ली-१५
 २८. तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं आदि कठ १। २। ९२
 २९. अणोरणीयान्महतो महीयान् आदि- कठ. २। २०
 ३०. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागगच्छति आदि- केन. १। ३
 ३१. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः शृणोत्यकर्णः श्वेताश्वतर २। १९
 ३२. कठोपनिषद् २। २। १२
 ३३. कठोपनिषद् २। २। १३
 ३४. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं आदि- कठ. २। २। १५
 ३५. नाविरतो दुश्चरित आदि- कठ. १। २। २४
 ३६. जर्मन दार्शनिक शापनहार तथा अन्य
 ३७. न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो ।
 नानाहिताग्निर्नो विद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ।। छान्दोग्य. ५। १२। :
 ३८. बृहदारण्यकोपनिषद् ३। १
 ३९. Four Great Religions.
 ४०. तस्य वाचकः प्रणवः तथा तज्जपस्त्वर्यभावनम् । योग. समाधि. २७. २८
 ४१. यावद् स्यात्स्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ।
 तावद् रामायण कथा लोकेषु प्रचरिष्यति ।। बालकाण्ड सर्ग २। ३६. ३७
 ४२. रामो विग्रहवान् धर्मः (रामायण में वाल्मीकि का कथन)
 ४३. धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
 यदिहस्ति तदन्यत्र यन्नेहा ऽस्ति न तत् क्वचित् ।।
 ४४. सत्यार्थप्रकाश-एकादश समुल्लास
 ४५. सत्यार्थप्रकाश-दशम समुल्लास
 ४६. द्रष्टव्य-बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय कृत कृष्ण चरित्र का उपसंहार
 ४७. ऋग्वेद १। १६४। ४६
 ४८. आर्य विद्वानों ने सिद्ध किया है कि द्रौपदी के पांच पति होने की कथा मिथ्या तथा महाभारत में प्रक्षिप्त है । द्रष्टव्य अमर स्वामी सरस्वती लिखित- कौन कहता है द्रौपदी के पांच पति थे?
 ४९. इस सूची में निम्न १६ सार्वभौम राजाओं के नाम आये हैं- सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयश्व, यौवनाश्व, वद्ध्यश्व, अश्वपति, शशविन्दु, अम्बरीष, ननक्तु, सयाति, ययाति, अनरण्य, अक्षसेन, मरुत्त तथा भरत ।
 ५०. सत्यार्थप्रकाश-अष्टम समुल्लास ।
 ५१. मनुस्मृति ९। ३१६, ३१८, ३१९

(आ) महाभारत काल का परवर्ती धार्मिक परिदृश्य

महाभारत युद्ध के समाप्त होने के पहले ही भारत की धार्मिक स्थिति में गिरावट के लक्षण आने लगे थे। वेदों और उपनिषदों का उच्च कोटि का एकेश्वरवाद और ब्रह्मवाद धीरे-धीरे विस्मृत होता गया और इसका स्थान नाना देवी देवताओं ने ले लिया। वेदों में जिन अग्नि^१, इन्द्र^२, वरुण^३ आदि देवताओं को परमात्मा का ही वाचक मानकर स्तुति एवं प्रार्थना का पात्र समझा गया था, वे महाभारत के परवर्तीकाल में आग, वर्षा तथा जल आदि स्थूल भौतिक पदार्थों और शक्तियों के देवता मान लिये गये और उनका वह तेजस्वी वर्णन जो वैदिक संहिताओं में किया गया था सर्वथा भुला दिया गया। किन्तु वेदों के कुछ ही सूक्तों में वर्णित विष्णु^४, रुद्र^५ आदि देवताओं को प्रधानता देकर इनकी पूजा उपासना प्रचलित हुई और क्रमशः वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य एवं सौर सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ।^६

कालान्तर में शाक्त सम्प्रदाय में वाम मार्ग नामक एक अत्यन्त निकृष्ट, जुगुप्साजनक तथा प्रायः अश्लील पूजा विधि विकसित हुई। इस वामोपासना में उन आचारों को मान्यता मिली जो सामान्यतया शिष्ट समाज में घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं। तथ्य यह है कि धर्म और धार्मिक कृत्यों के नाम पर उदरम्भरी और आनाचारी लोगों ने घोर स्वेच्छाचार तथा इन्द्रिय लोलुपता को प्रश्रय दिया तथा अखाद्य वस्तुओं का भक्षण, अपेय पदार्थों का पान तथा अकरणीय कृत्यों को करना ही धर्म का लक्षण एवं साधन ठहराया। आगे चल कर वाम मार्ग के स्वरूप तथा उससे धर्म जगत् में उत्पन्न अनाचार, व्यभिचार तथा दुराचार का विस्तृत विवरण हम पेश करेंगे किन्तु संकेत रूप में यह लिख देना आवश्यक है कि वाम मार्ग के सिद्धान्त तथा उसके आचार वैदिक मन्तव्यों तथा तदन्तर्गत मर्यादा पूर्ण सामाजिक एवं वैयक्तिक आचार विधान के नितान्त प्रतिकूल थे। इस वाम मार्गी विचार धारा को कहीं आगम शास्त्र तो अन्यत्र तांत्रिक मत कह कर पुकारा गया है।

मद्य, मांस, मुद्रा (तामसी भक्ष्य पदार्थ) तथा स्त्री पुरुष का अमर्यादित मैथुन इन पञ्च मकारों को वाम मार्ग में मोक्ष दायक माना गया^७ तथा शिव एवं पार्वती के कपोल कल्पित संवादों को तंत्र नाम देकर इन गहिर्त आचरणों को श्रेष्ठ तथा श्रेयस्कर बताया गया। जब मद्य मांसादि सेवन के आपत्तिजनक विधान को धर्म में स्थान पाते देखकर विचारशील समाज में विपरीत प्रतिक्रिया हुई तो वाम मार्ग के प्रस्तोताओं ने इनके प्रतीकात्मक अर्थ करने आरम्भ किये तथा पञ्च मकारों के स्थूलार्थ करने का निषेध किया।^८ किन्तु तंत्रों के उन विधि वाक्यों का वे कोई समाधान नहीं कर सके जिनमें मद्य आदि अवाञ्छनीय पदार्थों का वास्तविक सेवन ही वाम मार्गी साधन के लिये विधेय माना गया है।

इस अनर्थकारी तांत्रिक क्रिया ने जब भारत के वातावरण को दूषित और विषाक्त

बना दिया तो इसकी प्रतिक्रिया भी हुई। यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि महाभारत के पश्चात्तर्वर्ती काल में वैदिक यज्ञ याग आदि भी अपने वास्तविक स्वरूप को खोकर क्रिया बहुल, पशुहिंसा युक्त तथा आडम्बरपूर्ण बन गये थे। जहाँ प्राचीन काल में अन्न, औषधि, वनस्पति, घृत, दुग्ध तथा समिधा नाम से पुकारा जाने वाला पीपल, बट, शमी, आम आदि वृक्षों का काष्ठ ही यज्ञों में होम किया जाता था, वहाँ वाम मार्ग से प्रभावित अवान्तर कालीन यज्ञों में गौ, अश्व, अज (बकरा) तथा अवि (भेड़) आदि पशुओं को मार कर उनके मांस, वसा आदि से युक्त अंग प्रत्यंगों की आहुतियाँ दी जाने लगीं। वस्तुतः यह सारा अनर्थ इन तथाकथित याज्ञिकों की जिह्वा लोलुपता के कारण ही किया जाता था। बहाना यह रहता था कि इस पशु बलि से देवता तृप्त होते हैं। याज्ञिक हिंसा को तो हिंसा माना ही नहीं गया और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' जैसे प्रवाद प्रचलित हुए।

किन्तु तथ्य यह है कि आदिकाल के यज्ञों में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी। आयुर्वेदीय ग्रन्थ चरक संहिता में लिखा है— आदि काले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः नालम्भनाय प्रक्रियन्ते स्म। (चिकित्सा स्थान १९। ४) अर्थात् आदि काल में यज्ञों में पशुओं का स्पर्श तो किया जाता था, किन्तु वे मारे नहीं जाते थे। महाभारत^९, मत्स्य पुराण और वायु पुराण^{१०} में उपरिचर वसु की कथा आती है। इसमें बताया गया है कि हिंसा रहित वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा का आरम्भ किस प्रकार हुआ और दीर्घदर्शी ऋषियों ने इसे क्यों निन्दित ठहराया। किन्तु यह भी सत्य है कि अश्वमेध, गोमेध, अजमेध तथा अविमेध जैसे यज्ञों में महाभारत के बाद के युग में खुले आम पशुओं का वध होता था और याज्ञिक लोग यह दावा भी करते थे कि यज्ञ में मारा गया पशु पुनरुज्जीवित होकर स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।

याज्ञिक कर्म में हिंसा, अनाचार और अश्लीलता की वृद्धि के साथ साथ ब्राह्मणों में जात्याभिमान की भी वृद्धि हुई। मनु तथा इतर स्मृतियों में ब्राह्मणों की अनुचित महिमा के शतशः श्लोक प्रक्षिप्त किये गये^{११} तथा अन्य वर्णस्थों को ब्राह्मणों के अनुवर्ती होकर सद् असद् कर्मों का विचार किये बिना ही उनकी उचित अनुचित आज्ञाओं का पालन करने के लिये कहा गया। ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के प्रभुत्व की स्थापना में तो सहयोग दिया किन्तु वैश्य तथा शूद्र वर्ग के लोगों को समाज में सदा के लिये अपमान एवं घृणा का पात्र मान लिया गया। इसी काल में जाति के आधार पर ही स्पृश्यापृश्य तथा खानपान में अनेक प्रकार की आवर्जनायें, रूढ़ियाँ तथा संकीर्णतायें प्रचलित हुईं। निष्कर्षतः महाभारत के एक हजार वर्ष बाद का भारतीय समाज वैदिक उदात्त जीवन दृष्टि को सर्वथा भुला कर साम्प्रदायिक पाखण्डों, दुराचार मूलक धार्मिक कहे जाने वाले कृत्यों तथा ऊँच नीच पर आधारित समाज व्यवस्था की विभीषिका का शिकार हो चुका था।

जैन, बौद्ध तथा चार्वाक जैसे नास्तिक मतों की उत्पत्ति वाम मार्ग की प्रतिक्रिया के रूप में ही स्वीकार की जानी चाहिए। जब ईश्वर, जीव, मोक्ष, परलोक, स्वर्ग, नरक, जाति आदि को लेकर नाना तर्कहीन, अनर्गल तथा अनाचार के पोषक मतवाद प्रचलित हुए तो उनका प्रतिवाद करते हुए बृहस्पति नामक किसी दार्शनिक ने विशुद्ध भूत द्रव्यों की ही वास्तविकता को स्वीकार कर चार्वाक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। चार्वाक की दृष्टि में न स्वर्ग है और न अपवर्ग, कोई अलौकिक आत्मा तथा उससे भी उत्कृष्टतर परमात्मा का भी कोई अस्तित्व नहीं है।^{१३} चार्वाक ने अग्नि, जल, वायु^{१३} और पृथ्वी नामक चार दृश्यमान पदार्थों को ही चरम तत्त्व घोषित किया और इन्हीं के परस्पर सम विप्रम मेल से चराचर जगत् की उत्पत्ति मानी। चार्वाक ने अपने काल में प्रचलित वैदिक (ब्राह्मण मत) धर्म का तीव्र खण्डन किया और अग्निहोत्र, वेदत्रयी, संन्यासियों के दण्ड धारण तथा भस्म लेपन को बुद्धि एवं पौरुष से हीन लोगों की जीविका का साधन बताया।^{१४} उसने सृष्टि के हेतुभूत किसी परमात्मा जैसे चेतन कारण की सत्ता को अस्वीकार करते हुए सृष्टि रचना को मात्र स्वभाव ही कहा। वर्णाश्रम धर्म में स्वीकृत क्रियाओं को उसने सर्वथा व्यर्थ करार दिया तथा उन याज्ञिकों का उपहास करते हुए कहा कि यदि पशु को मारकर यज्ञ में डालने से उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो यज्ञकर्त्ता यजमान अपने वृद्ध पिता को मारकर यज्ञ के द्वारा उसे स्वर्ग में क्यों नहीं भेज देता।^{१५}

बृहस्पति ने मृतक श्राद्ध की भी खिल्ली उड़ाई और कहा कि यदि मृत व्यक्तियों के प्रति किया हुआ श्राद्ध या तर्पण उनकी तृप्ति का कारण होता है तो जो व्यक्ति यात्रा के लिये घर से प्रस्थान करता है उसको मार्ग का भोजन (पाथेय) क्यों दिया जाता है।^{१६} क्या हम उसके लिये घर में ही किसी ब्राह्मण को जिमा कर उस मुसाफिर की क्षुधापूर्ति नहीं कर सकते? वस्तुतः चार्वाक की यह कुण्ठाग्रस्त वाणी अकारण नहीं थी। परवर्ती युग के ब्राह्मणों ने याज्ञिक हिंसा, मृतक श्राद्ध, जात्याभिमान, यज्ञ में अश्लील कृत्य आदि की सिद्धि वेदों से ही करने का मानस बना रक्खा था और प्रत्येक अच्छे बुरे कृत्य के लिये वेदों से प्रमाण देने की दूषित मनोवृत्ति उनमें घर कर गई थी। फलतः चार्वाक ने भी अपना सारा गुस्सा वेदों पर ही उतारा, किन्तु यह ज्ञातव्य है कि वेद के अध्ययन की आर्ष परम्परा तो शताब्दियों पूर्व ही लुप्त हो गई थी और इन सनातन ग्रन्थों के नाम पर जो कुछ प्रचलित था वह सर्वथा अवैदिक तथा अकरणीय ही था। अब चार्वाक ने हिंसा प्रतिपादक यज्ञों के लिये वेदों को उत्तरदायी ठहराते हुए उनके कर्त्ता को भण्ड, धूर्त और निशाचर तक कहा।^{१७} उसने यह भी आरोप लगाया कि वेदों में कतिपय शब्द और वाक्य तो ऐसे आते हैं जो सर्वथा निरर्थक हैं^{१८} किन्तु याज्ञिकों ने इसी कारण यह प्रसिद्ध कर रक्खा है कि वेद मंत्रों के अर्थ करने का कोई लाभ नहीं है, अपितु वेद मंत्रों में उक्त क्रियायें (यज्ञ, याग, इष्टि आदि) करके ही अदृष्ट रूपी स्वर्ग को प्राप्त किया जा सकता है।

वैदिक यज्ञों के तत्त्वार्थ को न समझ कर धूर्त लोगों ने कात्यायन आदि ऋषियों द्वारा बनाये गये सूत्र ग्रन्थों में अश्वमेधादिक यज्ञों की विधियों में अश्व राज महिषी समागम जैसे अनर्थकारी तथा अश्लील प्रसंग डाल दिये तथा इन्हीं प्रक्षिप्त दूषित विधियों के आधार पर रामायण में राजा दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में भी कौसल्या द्वारा यज्ञ में मेघ्य अश्व की हिंसा और मृत पशु के निकट रात्रि व्यतीत करने जैसे जुगुप्सा युक्त, बर्बर प्रसंगों की अवतारणा की गई।^{१९} इस भ्रष्टाचार और दुराचार से खिन्नमना चार्वाक ने यज्ञों को धूर्तों और राक्षसों का प्रवञ्चना पूर्ण कृत्य ही माना। जब ईश्वर, जीव, मोक्ष, परलोक आदि पारलौकिक तत्त्वों के प्रति चार्वाक ने घोर अनास्था और वितृष्णा प्रकट की, तो स्वाभाविक था कि उसकी आचारमूलक शिक्षायें भी प्रत्यक्षवाद को आधार बनातीं। इसलिये उसने कहा कि जब परमात्मा एवं परलोक के लिये कुछ भी आचरणीय या करणीय नहीं है, तो मनुष्य को चाहिए कि वह जब तक संसार में रहे, सुखपूर्वक रहे। यदि उसे ऋण करके भी घृताहार करना पड़े तो ऐसा अवश्य करे, क्योंकि जब यह स्थूल देह अन्ततः भस्मीभूत हो जायेगी, तो न तो आत्मा का पुनरागमन ही होगा और कर्ज चुकाने की नौबत भी नहीं आयेगी।^{२०} चार्वाक की दृष्टि में तो देह का नष्ट होना ही मोक्ष लाभ है^{२१} क्योंकि शरीरेतर आत्मा को तो वह स्वीकार ही नहीं करता।

वेदों को मान्यता न देने के कारण चार्वाक तथा उसी की भांति जैन, बौद्धादि मत अवैदिक तो हैं किन्तु आत्मा, पुनर्जन्म आदि को मानने के कारण इन्हें नास्तिक नहीं कहा जा सकता। किन्तु स्मृतिकार मनु ने वेद के निन्दक को नास्तिक कहा है,^{२२} अतः मनुक्त परिभाषा के अनुसार जैन तथा बौद्ध आदि मत भी नास्तिक ही हैं। जैन मत के आदि प्रवर्तक यों तो ऋषभदेव माने जाते हैं किन्तु उसके मुख्य प्रचारक वर्द्धमान महावीर ही थे। ऋषभदेव का उल्लेख भागवतादि पुराणों में आता है, किन्तु यहाँ वे विष्णु भक्त, वेदों में आस्था रखने वाले यज्ञ कर्त्ता आर्य राजा के रूप में वर्णित हुए हैं।^{२३} जैन मत के प्रचारक चौबीस तीर्थकरों में पार्श्वनाथ और महावीर को छोड़कर अवशिष्ट तीर्थकरों की ऐतिहासिकता को स्वीकार नहीं किया गया। (Its first twenty two Tirthankaras or prophets begining with Rishabha are more or less legendary figures, the twenty third prophet called Parshwanath, the immediate predecessor of Mahavira the twenty fourth prophet is a historical figure belonging to the eighth century. Hinduism through Ages by D.S. Sarma. (P. 17) जैन मत में वेदों के प्रमाण को अस्वीकार किया गया किन्तु महावीरादि तीर्थकरों की वाणी तथा पञ्चात्वर्ती जैनाचार्यों द्वारा लिखे गये सूत्रों को वेदवत् प्रमाण मान लिया गया।

जैन मत में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता स्वीकार नहीं किया गया। इसके विपरीत कैवल्य को प्राप्त उनके तीर्थकर, गुरु, आचार्य आदि ही ईश्वर हैं अतः पूजनीय हैं। कालान्तर

में तीर्थकरों की मूर्तियों की पूजा आरम्भ हुई और मंदिरों में मूर्तिस्थापना के पश्चात् अक्षत, पुष्प, चंदन आदि उपकरणों से इन प्रस्तर अथवा धातु मूर्तियों का अर्चन किया जाने लगा। जैनो ने अपने पृथक् दर्शन को जन्म दिया, तदनुकूल जैन न्याय तथा जैन आचार शास्त्र का भी निर्माण हुआ। देह दण्डन तथा शारीरिक तप ही जैन श्रावकों तथा साधुओं के लिये इष्ट तथा कल्याणकारी माने गये। फलतः केश लुंचन, दीर्घकाल तक किये जाने वाले उपवास, पदयात्रा, शरीर पर न्यूनतम वस्त्र धारण करने तथा पादत्राण रहित चक्रमण को ही तप मान लिया गया। अहिंसा पर अत्याधिक जोर देने के कारण श्वेताम्बर जैन साधु अपने मुख पर वस्त्र की पट्टिका बांधने लगे ताकि ऊष्ण श्वास से अदृश्य जीवों की हिंसा न हो। अहिंसा की ऐसी अतिवादिता अव्यावहारिक तो थी ही, वह हास्यास्पद स्थिति तक पहुंच गई। जैन दर्शन में अनेकान्तवाद को स्वीकार किया गया है जो स्याद्वाद (सप्तभंगी न्याय) कहलाता है। कालान्तर में जैन मत के दर्शन के अनेक भेद प्रभेद विकसित हुए और अनेक क्षत्रियों ने हिंसामूलक क्षात्र धर्म का परित्याग कर वाणिज्य-व्यवसाय को जीविकोपार्जन के लिये स्वीकार करते हुए जैन मत को अपनाया। जैन नीतिशास्त्र में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि प्रायः उन्हीं तत्त्वों को आचरणीय माना है जो वैदिक योग दर्शन में यम पंचक के रूप में स्वीकार किये गये हैं। जैनो में प्रचलित मूर्तिपूजा, चौबीस तीर्थकर, मंदिर निर्माण आदि को परवर्ती पौराणिक मत ने भी स्वीकार कर लिया। जैन मंदिरों की ही भांति देवी देवताओं के मंदिर बनाये जाने लगे जिनमें मूर्तियों की स्थापना तथा उनकी षोडशोपचार पूजा प्रचलित हुई। जैन तीर्थकरों की मूर्तियों के विपरीत पौराणिक मूर्तियाँ वस्त्राभूषणों से अलंकृत तथा पत्नी, पुत्र, बहिन, सेवक आदि परिग्रह से युक्त होती हैं। तीर्थकरों की ही भांति विष्णु के चौबीस तथा दस अवतारों की परिकल्पना की गई तथा उनके जीवन तथा कृत्यों के बारे में अनेक अतिशयोक्ति पूर्ण गाथाओं की रचना हुई।

गौतम बुद्ध और बौद्ध मत—

नेपाल के अन्तर्गत कपिलवस्तु नामक एक छोटे से राज्य के शाक्यवंशीय क्षत्रिय शुद्धोदन के यहाँ राजकुमार सिद्धार्थ का लगभग ५०० वर्ष ईसा पूर्व में जन्म हुआ। ये सिद्धार्थ ही आगे चलकर गौतम बुद्ध, शाक्यसिंह, अमिताभ, तथागत आदि विभिन्न नामों से जाने गये। बाल्यकाल और युवावस्था में उन्होंने राजसी जीवन व्यतीत किया किन्तु यशोधरा (गोपा) नामक राजकुमारी से विवाह के पश्चात् सिद्धार्थ को जब मानवजीवन की क्षण भंगुरता, शरीर के वृद्ध होकर जीर्ण-शीर्ण होने, रोगग्रस्त होने और अन्ततः मृत्यु का ग्रास होने का ज्ञान हुआ तो सांसारिक कर्मों में उनकी रुचि नहीं रही और वे वैराग्य पथ के पथिक बन गये। घोर शारीरिक तपस्या करने के पश्चात् उन्हें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति

हुई और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार में दुःख है, साथ ही दुःख के कारण भी हैं। इन कारणों की निवृत्ति होने से दुःख की निवृत्ति भी हो जाती है। दुःख निवारण के इन उपायों को सम्यक् रूप से जान कर मनुष्य को तदनुसार कर्म करने चाहिए ताकि वह सांसारिक दुःखों से छूट कर निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कर सके। बुद्ध सम्मत दुःख और उससे छूटने की यह मीमांसा वैदिक योगदर्शन में हेय^{२५}, हेय हेतु^{२६}, हान^{२७}, और हानोपाय^{२८}, इस क्रम से वर्णित हुई है। वहाँ भावी दुःख को हेय कहा गया है क्योंकि वह अनागत तो है किन्तु आयेगा अवश्य। इसलिये उसके आने के पूर्व ही उससे छुटकारा कैसे मिले, इसका उपाय कर लेना चाहिए। द्रष्टा (जीव) और दृश्य (प्रकृति तथा तज्जन्य पदार्थ) के संयोग को हेय हेतु (दुःखों का कारण) कहा गया है। चेतन आत्मा जब भौतिक प्रकृति तथा उससे उत्पन्न भोग्य पदार्थों के साथ अपनत्व का नाता जोड़ लेता है और इन स्थूल भोगों में आसक्त हो जाता है तो यह आसक्ति ही उसके दुःखों का कारण बनती है। इस अविद्या से निवृत्ति ही हान (दुःखों से छुटना) है और प्रकृति तथा पुरुष के पार्थक्य का ज्ञान ही विवेक ख्याति रूपी हानोपाय है। इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये योगदर्शन ने अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) का उपदेश दिया है।

बुद्ध ने हेय आदि को आर्य सत्य कहा तथा योग की ही भांति अष्टांगिक मार्ग^{२९} का भी उपदेश दिया। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, करुणा, मानव मैत्री से आगे बढ़कर प्राणि मात्र के प्रति मैत्री आदि नैतिक मूल्य वैदिक धर्म तथा बौद्धमत में समान रूप से स्वीकार किये गये हैं। जहाँ तक तत्त्वज्ञान का प्रश्न है, बुद्ध ने सृष्टिकर्ता ईश्वर के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा। इसलिये अनेक विद्वान् उन्हें अनीश्वरवादी कहते हैं तो कुछ अन्य उन्हें अज्ञेयवादी। पं. धर्मदेव विद्यावाचस्पति जैसे विद्वानों ने उन्हें आस्तिक तथा परम सत्ता के प्रति आस्थावान् सिद्ध किया है।^{३०} वस्तुतः बुद्ध की समस्त शिक्षायें मानव के सार्वत्रिक कल्याण, उसके चरित्र को उर्ध्वमुखी बनाने तथा हिंसा, घृणा, अन्याय, अत्याचार आदि अमानुषी बुराइयों से छुटकारा दिलाने तक ही सीमित हैं। उन्होंने अपने शिष्यों द्वारा ईश्वर विषयक प्रश्न करने पर कुछ स्पष्ट कहने से इन्कार कर दिया और यही कहा कि ईश्वर जैसी सर्वथा अनिर्वचनीय, अज्ञेय सत्ता को लेकर माथापच्ची करने की अपेक्षा आत्मोन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ना ही मनुष्य के लिये श्रेयस्कর है। इसलिये उन्होंने परमुखापेक्षी बनने का भी निषेध करते हुए अप्प दीपो भव— 'स्वयं प्रकाश की ओर जाने के लिये अपनी आत्मा का ही दीपक जलाओ' का उपदेश दिया।

यह तो निश्चित है कि बुद्ध अपने समसामयिक वैदिक धर्म के उन मन्तव्यों के प्रति आक्रोश रखते थे, जिनके कारण यज्ञों में पशुबलि, क्रूरता और बर्बरता की सीमा तक पहुँच चुकी थी, ब्राह्मणों का जन्मगत जाति का अभिनिवेश समाज में पुरोहितशाही का

रूप ले चुका था और व्यर्थ के क्रिया जाल में उलझकर भारतीय समाज नैतिक तथा आचार-मूलक धर्म को सर्वथा तिलाज्जलि दे चुका था। तथापि बुद्ध ने जिस नीतिमूलक धर्म तथा आचाराश्रित कर्म का उपदेश दिया वह योगदर्शन मनु प्रोक्त आचार शास्त्र तथा गीता में व्याख्यात धर्म के उदात्त स्वरूप से कथमपि भिन्न नहीं था। इस दृष्टि से बुद्ध के उपदेशों के संकलन धम्म पद की बहुत बार गीता से तुलना की जाती है क्योंकि इस ग्रन्थ में उपदिष्ट धर्म वैदिक धर्म के मूल तत्त्वों की ही भांति सार्वभौम, सार्वजनिक तथा सार्वकालिक है। धम्म पद में बुद्ध ने जन्माधारित वर्णव्यवस्था का भी प्रत्याख्यान किया और ब्राह्मणोचित गुण, कर्म युक्त व्यक्ति को ही इस संज्ञा का अधिकारी माना।^{३१}

हमारे पास यह जानने के पुष्ट प्रमाण नहीं है कि गौतम बुद्ध ने वेद, उपनिषदादि आर्य धर्म ग्रन्थों का कितना और कैसा अध्ययन किया था। निश्चय ही उनके काल में इन ग्रन्थों के पठन पाठन की बहुत प्राचीन परिपाटी तो विलुप्त हो चुकी होगी। फलतः वैदिक अध्यात्म शास्त्र तथा यज्ञ विद्या के तत्त्वार्थ की मीमांसा करना बुद्ध के लिये कठिन था। इसके विपरीत जब उन्होंने समकालीन ब्राह्मणों को यज्ञ के नाम पर पशुहिंसा में रत देखा तो उन्हें यज्ञ संस्था से तो विरक्ति हुई ही, वे वेदों के प्रति भी अपनी श्रद्धा खो बैठे, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कालान्तर में बुद्ध के वाक्यों और उपदेशों को ही सुत्तपिटक, विनय पिटक तथा अभिधम्म पिटक नामक तीन बृहत्काय ग्रन्थों के रूप में संकलित कर उन्हें सद्धर्म (बौद्ध मतावलम्बी अपने धर्म को इसी नाम से अभिहित करते थे) के मूल धर्म ग्रन्थ स्वीकार किया गया।

बुद्ध ने तो अपने जीवन काल में अपने शिष्यों को बहुजनों के हित तथा बहुजनों के सुख के लिये यत्र तत्र भ्रमण कर उपदेश देने का ही आदेश दिया— (चरथ भिक्खवे चरथ बहुजन हिताय बहुजन सुखाय) जिसके परिणाम स्वरूप यह आचार मूलक धर्म भारत की सीमाओं का उल्लंघन कर दक्षिण एवं पूर्वी एशिया के देशों में ही नहीं किन्तु मध्य एशिया में दूर तक फैला तथा इस महाद्वीप के अधिकांश भाग में तथागत का कल्याणकारी उपदेश मानव समाज को शान्ति, सौमनस्य तथा विश्वमैत्री का पाठ पढ़ाता रहा। कालान्तर में बौद्ध मत भी अनेक विकृतियों का शिकार हुआ जिनमें प्रमुख निम्न थीं—

(अ) नीति मूलक तथा आचार प्रधान इतिकर्तव्यों की उपेक्षा तथा तथागत की मूर्तियों की साडम्बर पूजा, अर्चना।

(आ) बौद्ध धर्म मठों में भिक्षु भिक्षुणियों के एक साथ रहने से आनाचार और व्यभिचार की वृद्धि।

(इ) अहिंसा का उपदेश जब अतिवादिता की सीमा तक पहुंच गया तो क्षत्रिय लोग शस्त्र-संचालन, युद्ध विद्या, शत्रु विनाश आदि स्वकर्तव्यों से पराङ्मुख हो गये। इस्लाम तथा

अन्यों के आक्रमणों का मुकाबला करने में असमर्थ बौद्ध शासक न केवल स्वयं पराजित हुए अपितु मातृभूमि की पराधीनता के भी कारण बने।^{३२}

उधर महात्मा बुद्ध के देहान्त के बाद बौद्ध मत के तत्त्ववाद में अनेक सूक्ष्म भेद, प्रभेद उत्पन्न हुए जिनके आधार पर यह मत माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक, इन चार दार्शनिक शाखाओं में विभक्त हो गया।^{३३} आर्यों द्वारा उपदिष्ट तर्क और न्याय की ही भांति बौद्धों ने भी अपने स्वतंत्र न्याय को विकसित किया तथा आर्यों के न्याय, दर्शन, तत्त्ववाद आदि का जबरदस्त प्रत्याख्यान किया।^{३४} वैदिकों की अनेक अच्छी बुरी मान्यताओं का बौद्धों ने खण्डन ही नहीं किया, अपितु उनका उपहास करने में भी वे पीछे नहीं रहे। उदाहरणार्थ, एक बौद्ध नैयायिक चन्द्रकीर्ति ने कहा—

वेद प्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः

स्नानेधर्मेच्छा जातिवादापलेपः।

सन्तापरम्भा पाप हानाय चेति

ध्वस्त प्रज्ञानां पञ्चलिङ्गानि जाड्ये।।

अर्थात् वेद को प्रमाण मानना, किसी अदृश्य ईश्वर को जगत् का कर्त्ता समझना, गंगा अथवा प्रयागादि में स्नान करने मात्र से धर्मलाभ मानना, जाति के आधार पर किसी को छोटा या बड़ा समझना तथा तपस्या से पापों का नष्ट होना स्वीकार करना ये पांच बातें नष्ट बुद्धि, जड़ लोगों में पाई जाती हैं।

बौद्धों ने चाहे आर्य धर्म को विच्छिन्न करने के कितने ही प्रयास क्यों न किये, पौराणिक मत के लचीलेपन के आगे उन्हें भी पराजित होना पड़ा। परिणामतः आधे जम्बूद्वीप (एशिया) तक अपने प्रभाव का विस्तार करने वाला यह बौद्ध धर्म अपनी मातृभूमि में ही अपनी अस्तित्व रक्षा नहीं कर सका। पुराणों के रचयिता ब्राह्मणों ने बुद्ध की ईश्वर-विमुखता तथा वेदविमुखता की सर्वथा उपेक्षा की और उन्हें अपने मान्य दस अवतारों में स्थान दे दिया।^{३५} अब जब ब्राह्मणोचित कर्मकाण्ड के प्रारम्भ में संकल्प पाठ किया जाता है तो उसमें कलियुग में अवतरित होने वाले बुद्धावतार का उल्लेख अपरिहार्य है। प्रचलित पुराणों में ऐसे अनेक उद्धरण आते हैं जिनमें बुद्ध को विष्णु का अवतार घोषित किया गया है। किन्तु पुराणकर्त्ताओं के सामने यह बहुत बड़ी समस्या थी कि वे वेद और यज्ञ के विरोधी बुद्ध को उस विष्णु का साक्षात् अवतार कैसे कहें जिसने अपने नाभि कमल से ब्रह्मा को उत्पन्न कर वेदों की रचना करवाई तथा स्वयं यज्ञनारायण कहला कर यज्ञों के प्रति अशेष श्रद्धा दिखलाई। किन्तु परस्पर विरुद्ध बातें लिखकर वदतोव्याघात की स्थिति उत्पन्न करना तथा अपनी इन पुराण नामधारी कृतियों को हास्य का पात्र बनाने में पुराणकारों को कभी संकोच नहीं हुआ। इसलिये उन्होंने बुद्धावतार के प्रसंग में लिखा कि सौ करोड़ दैत्य वेदों का अध्ययन करने वाले, धर्मात्मा बन कर यज्ञ भाग लेने लगे

और इस प्रकार देवकोटि में आ गये। यह सब इस भयानक कलियुग के आरम्भ में हुआ तब स्वयं विष्णु ने ही बुद्ध का रूप धारण कर इन वेद पारायण विप्रों को, जो मूलतः राक्षस हो गये थे, अपने नास्तिक मत से मोहित किया और उन्हें वेद-विरोधी बना दिया। पुराणों की यह क्लिष्ट कल्पना बहुत विश्वसनीय नहीं है। क्या विष्णु का यही काम रह गया था कि वे वेद मार्ग पर चलने वाले, यज्ञ प्रेमी लोगों को, चाहे वे पहले राक्षस ही क्यों न रहे हों, यज्ञ और वेद का विरोधी बनायें और उन्हें अनार्योचित कर्मों में लगायें। किन्तु पुराणों के इन हास्यास्पद और परस्पर विरुद्ध मत प्रकट करने वाले वाक्यों की संगति लगाना हमारा सिर दर्द नहीं है। हमें तो यही बताना था कि वेद विरोधी बुद्ध को भी विष्णु का अवतार बना कर ब्राह्मणों ने प्रच्छन्न रूप से ही सही, बौद्ध मत पर विजय प्राप्त की।

बौद्ध मत के प्रचार काल के कुछ समय बाद पौराणिक मत अपने विकास और विस्तार की चरमावस्था तक पहुँच गया। वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारत के मौलिक अंशों में इन महाकाव्य शैली में लिखे गये इतिहास ग्रन्थों के नायक राम तथा कृष्ण को मानव रूप में ही चित्रित किया गया है।^{३६} उन पर ईश्वर के अवतार होने का आरोपण महाभारत के बाद ही किया गया। यही वह युग था जब 'अवतार' के उस सिद्धान्त को सुप्रतिष्ठित किया गया जिसकी कोई चर्चा मूल वैदिक संहिताओं, परवर्ती ब्राह्मण तथा उपनिषदादि ग्रन्थों, यहाँ तक कि वेदांग साहित्य में भी नहीं थी। राम, कृष्ण आदि आर्य जाति के शलाका पुरुषों को ईश्वर के अवतार के रूप में तभी कल्पित किया गया, जब जैन, बौद्ध संस्कारों से प्रभावित होकर पुरातन वैदिक धर्म महाभारत के पश्चात्वर्ती ब्राह्मण धर्म के रूप में परिणत हो गया। हम यह लिख चुके हैं कि जैन मत में मान्य चौबीस तीर्थकरों के अनुकरण पर ही ब्राह्मणों ने विष्णु के चौबीस अवतारों की कल्पना की। बौद्ध मत में तथागत बुद्ध के पूर्वजन्म भी कथायें जातक ग्रन्थों में लिखी गईं और बोधिसत्व के रूप में पशु, पक्षी तथा नर रूप में जन्म लेने वाले बुद्ध के इस पुराकालीन जन्मों की चमत्कारमूलक कहानियाँ गढ़ीं गईं। इसी शैली का अनुकरण ब्राह्मणों ने भी किया और मत्स्य, कूर्म आदि जलचर तथा वराह आदि आरण्यक पशुओं के रूप में विष्णु के लोकहितार्थ जन्म लेने के प्रवाद प्रचलित हुए। अन्ततः राम, कृष्ण जैसे परिपूर्ण मानव चरित्रों को भी विष्णु का ही अंशावतार या पूर्णावतार घोषित कर दिया गया।

पुराणाधारित सम्प्रदाय प्रवर्तन के इस युग में सर्वाधिक प्रमुखता वैष्णव और शैव सम्प्रदायों को मिली। इस काल की धार्मिक परिस्थितियों के इतिहास लेखकों की धारणा है कि राम की अपेक्षा कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में पहले मान्यता मिली। कृष्णोपासक सम्प्रदाय पाञ्चरात्र, भागवत, वासुदेव आदि नामों से प्रसिद्ध हुए और इनके ग्रन्थों (नारद पाञ्चरात्र आदि) में विष्णु के अवतार कृष्ण की पूजा अर्चना की विस्तृत

विधिया उल्लिखित हुई। कुछ समय बाद राम को भी वैष्णव अवतारों की श्रेणी में अन्तर्भुक्त कर लिया गया और कृष्ण की ही भांति उन्हें भी उपास्य माना गया।

वेदों में जिस रुद्र को शिव, शम्भु, भव, मृड, नीलग्रीव आदि नामों से स्मृत किया गया था, कालान्तर में उसका पौराणिक शिव के रूप में विकास हुआ।^{३७} शिव अथवा रुद्र के स्त्री, पुत्र, निवास, वाहन, प्रसाधन आदि को लेकर जो आख्यान प्रचलित हुए उन्हें शिव तथा लिंग नामक पुराणों में संग्रहीत तो किया ही गया, विष्णु के तुल्य ही उन्हें सम्प्रभुता सम्पन्न, चराचर जगत् के कर्ता, धर्ता और विधाता परात्पर पुरुष के प्रतीक रूप में भी प्रतिष्ठित किया गया। विष्णु की ही भांति शिव के भी दैत्यवधार्थ तथा भक्तजनों के हितार्थ अवतार लेने तथा नाना लीलायें करने के किस्से गढ़े गये और पूर्ण अतिरञ्जना के साथ उन्हें शैव पुराणों में अंकित किया गया। इन पुराण कथाओं में कोई वैज्ञानिक सत्य, औचित्य, संगति और सामञ्जस्य ढूँढ़ना अशक्य एवं निरर्थक है।

शाक्त मत में दक्षिण और वाम (मर्यादा के अनुरूप तथा प्रचलित लोकाचार का विरोध करने वाली) नाम वाली उपासनायें प्रचलित हुईं। दक्षिण मार्गी शाक्त उपासक जहाँ लोक एवं शास्त्र मर्यादा का सम्मान करते हुए परा शक्ति का आराधन करते थे, वहाँ स्वयं को 'वीर' कहने वाले वामाचारी साधकों की शक्ति पूजा में मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन इन गर्हित तत्त्वों (पञ्च मकारों) की प्रधानता रहती थी। एक युग ऐसा आया जब वाम मार्गी शाक्तों से भारत का पूर्वी भाग प्रायः आक्रान्त हो गया। वाम मार्ग की साधना पद्धति और क्रिया-कलाप तंत्र नामधारी ग्रन्थों में वर्णित हैं जिन्हें इस सम्प्रदाय के अनुयायी 'आगम' कहते हैं और वेद (निगम) प्रतिपादित मार्ग से भिन्न होने पर भी उसका महत्त्व वैदिक मार्ग से कथमपि न्यून नहीं समझते।

स्वयं राम कृष्ण परमहंस जैसे शाक्त उपासक के शिष्य होने पर भी स्वामी विवेकानन्द ने वामाचार की पूजा-प्रणाली की घोर निन्दा की थी तथा उसे सदाचार विनाशक माना था। उन्हें इस बात की अत्यन्त पीड़ा थी कि बंगाल का प्रबुद्ध समाज भी बहुलांश में वामाचारी तंत्रों का उपासक है। अपनी इसी वेदना को एक व्याख्यान में व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था, इन वामाचार सम्प्रदायों ने मधुमक्खियों की तरह बंगाल के समाज को छालिया है। वे ही जो दिन के समय गरजते हुए आचार के सम्बन्ध में प्रचार करते हैं, रात को घोर पैशाचिक कृत्य (भैरवी चक्र में पञ्चमकारों का सेवन तथा श्मशान-साधना जैसे गर्हित एवं जुगुप्साजनक कृत्य-लेखक) करने से बाज नहीं आते और अति भयानक ग्रन्थ समूह (तंत्र ग्रन्थ) उनके कर्म के समर्थक हैं। इन्हीं शास्त्रों की आज्ञा मानकर वे उन घोर दुष्कर्मों में हाथ देते हैं। बंगाल के शास्त्र वामाचार तंत्र हैं। ये ग्रन्थ ढेरों प्रकाशित होते हैं जिन्हें लेकर तुम (बंगाली) अपनी संतानों के मन को विषाक्त करते हो, किन्तु उन्हें श्रुतियों की शिक्षा नहीं देते।" अपने मानसिक क्षोभ को अत्यन्त तीव्रता

से प्रकट करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने आगे कहा, “ए कलकत्ता वासियो, क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती कि अनुवाद सहित वामाचार तंत्रों का यह वीभत्स संग्रह तुम्हारे बालकों और बालिकाओं के हाथ में रखा जाये, उनका चित्र विषय-विह्वल हो और वे जन्म से ही यही धारणा लेकर चलें कि हिन्दुओं के शास्त्र यही वामाचार ग्रन्थ हैं। यदि तुम लज्जित हो तो अपने बच्चों से उन्हें अलग करो और उन्हें यथार्थ शास्त्र वेद, गीता, उपनिषद् पढ़ने दो।”^{३८} स्वामी विवेकानन्द की वाम मार्ग तथा उसके आधारभूत तंत्र ग्रन्थों के बारे में इस स्पष्ट टिप्पणी को देखते हुए यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि धर्म के नाम पर अनाचार का प्रचार तथा लोक एवं शास्त्र की मर्यादाओं की अप्रतिष्ठा और हत्या जितनी वाम मार्ग के द्वारा हुई, शायद ही किसी अन्य सम्प्रदाय द्वारा हुई हो। तब हमें म. म. गोपीनाथ कविराज जैसे तांत्रिक साधना पद्धति के पक्षपोषकों की बुद्धि पर आश्चर्य होता है जिन्होंने अनेक आपातमणीय कल्पनाओं और ऊहाओं के बल पर तंत्र प्रोक्त सिद्धान्तों और विधि विधानों की ऐसी व्याख्याएँ लिखीं जिन्हें स्वयं शायद तंत्रकारों ने भी नहीं सोचा होगा।

वैष्णवों, शैवों और शाक्तों के अतिरिक्त गणपति तथा सूर्य के उपासकों के दो गौण सम्प्रदाय भी उस समय अस्तित्व में आ चुके थे। यों देखा जाये तो विष्णु और शिव का जो रूप पौराणिक काल में प्रचलित हुआ तथा उनसे सम्बन्धित जो आनुषंगिक कथा, कहानी, उपाख्यान आदि गढ़े गये उनके लिये वेद मंत्रों में निरूपित विष्णु, रुद्र आदि देवताओं का स्वरूप ही किसी न किसी रूप में आधार के तौर पर प्रयुक्त किया गया था। उदाहरणार्थ, विष्णु के वामन के रूप में अवतरित होने तथा तीन डगों में तीनों लोकों को नाप लेने की कथाओं को इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् (ऋग्वेद १।२२।१७) जैसे मंत्रों का ही आधार मिला था। यह दूसरी बात है कि पौराणिक उपाख्यानों के इन सिस्जनहारों ने वेद मंत्र वर्णित वैज्ञानिक तथ्य की सर्वथा उपेक्षा कर उसके स्थूलार्थ को प्रधानता देते हुए दैत्यराज बलि और वामन की इस कथा को गढ़ लिया।^{३९} किन्तु गाणपत्य सम्प्रदाय में विशिष्ट आराधना के पात्र तथा सामान्य हिन्दू कर्मकाण्ड एवं धार्मिक पर्वों में सर्वप्रथम पूजा का अधिकार प्राप्त करने वाले विघ्न विनाशक गणपति गणेश के लिये तो वेद मंत्रों का कोई स्थूल आधार भी नहीं है। शिव और पार्वती के पुत्र, एक दन्त, हाथी की सूँड़ सी मुखाकृति वाले, मूषक वाहन, मोदक प्रिय, तुन्दिल, सब प्रकार के मंगलों के विधायक पौराणिक गणेश की विकास गाथा को डॉ. सम्पूर्णानन्द ने बहुत वर्षों पूर्व अपने गणेश नामक ग्रन्थ में विवेचित किया था। वहाँ उन्होंने स्पष्ट किया कि कल्पग्रन्थों में जिस विघ्न कर्त्ता, विघ्नेश, विनायक देवता को अनिष्टकारी मानकर सर्व प्रथम उसी की पूजा करने का उल्लेख मिलता है, वही आगे चल कर विघ्नों का शमनकर्त्ता और मंगलकर्त्ता गणेश के रूप में उत्तर पौराणिक युग में प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार कर्मकाण्ड में गणेश

की सीमित उपयोगिता को स्वीकार कर लेने पर भी वैष्णवों और शैवों की भांति उसका कोई विस्तृत उपासक समुदाय नहीं बन सका। यही स्थिति न्यूनाधिक रूप में सौर सम्प्रदाय की भी रही। वैदिक अध्ययन के प्रायः नष्ट हो जाने पर 'सविता' नाम से उपास्य, सृष्टिकर्ता परमात्मा से बुद्धि की याचना करने वाला प्रसिद्ध गायत्री मंत्र^{४०} भी मात्र सूर्योपासना के लिये ही विनियुक्त कर दिया गया और प्रातःकाल के समय भगवान् मार्तण्ड को अर्घ्य देते समय इस मंत्र को बोल लेना ही पर्याप्त समझा गया। कोणार्क जैसे प्रख्यात सौर मंदिरों की अवस्थिति इस तथ्य की सूचना देती है कि किसी समय सूर्योपासना भी पर्याप्त प्रचलित रही होगी। भविष्य पुराण तथा सौर पुराण के नाम से पुकारा जाने वाला एक उप पुराण इस सम्प्रदाय की स्थिति और स्वरूप पर प्रकाश डालता है।

इन प्रमुख पांच पौराणिक सम्प्रदायों की चर्चा तो हम कर चुके, किन्तु तत्कालीन धर्म और पूजा प्रणालियाँ विष्णु, शिव जैसे प्रख्यात देवों की आराधना और उपासना तक ही सीमित नहीं रहीं। पुराण नाम धारी ग्रन्थों में विष्णु के अवतारों से भिन्न हनुमान, भैरव, स्वामिकार्तिक, जैसे गौण देवताओं की पूजा उपासना के भी शतशः विधान किये गये। बहुदेवोपासना का यह विस्फोट इतना तीव्र, व्यापक और भयानक था कि शीतला, जैसे रोग, भूत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी आदि काल्पनिक भयावनी, शक्तियाँ, पीपल, वट आदि वृक्ष, नदी, तड़ाग, कूप आदि जलाशय, सर्प, वृषभ, श्वान, वानर आदि जीव जन्तु, ग्रह, नक्षत्र आदि दिव्यलोक सभी जड़ चेतन हिन्दुओं की पूजा उपासना के पात्र बन गये।

सनातन वैदिक धर्म जब चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि अवैदिक, श्रमण संस्कृति को वरीयता देने वाले मत पन्थों के प्राबल्य से क्षीण हो रहा था, तो दूसरी ओर उपरिवर्णित पौराणिक मत पन्थों ने एकेश्वरवादी वैदिक उपासना पद्धति को सर्वथा भुला कर मूर्तिपूजा प्रधान स्थूल कर्मकाण्डों को हर भारतीय धर्म मत का सार सर्वस्व घोषित कर दिया। ऐसी विषम स्थिति में दक्षिण भारत के केरल प्रान्तान्तर्गत कालड़ी नामक ग्राम में २२०० वर्ष पूर्व^{४१} शंकराचार्य नाम से कालान्तर में प्रसिद्ध एक ब्राह्मण बालक ने जन्म लिया। अल्पावस्था में ही अपनी तीक्ष्ण मेधा के कारण शंकर ने विविध वैदिक विद्याओं और आर्यों के अध्यात्म शास्त्रों पर अधिकार प्राप्त कर लिया तथा तीव्र वैराग्य के वशवर्ती होकर उन्होंने तुरीयाश्रम की दीक्षा अल्पावस्था में ही ले ली। उन्हें अपनी गुरु परम्परा से उपनिषद्, वेदान्त तथा भगवद्गीता जैसे प्रस्थान त्रयी नाम से पुकारे जाने वाले ग्रन्थों को पढ़ने का अवसर मिला। आचार्य गौड़पाद द्वारा उपपन्न अद्वैतवाद के दार्शनिक सिद्धान्त को भी उन्होंने सुचारु रूप से आत्मसात कर लिया।

इस प्रकार कम आयु में परिपक्व बुद्धि तथा युक्ति, तर्क एवं शास्त्राभ्यास से शाणित मस्तिष्क वाले शंकर ने जब समकालीन भारत के धार्मिक परिदृश्य को देखा तो उनका

चिन्तित और क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था। राजाश्रय के बल पर फूलने और भारत की सीमाओं को लांघकर एशिया के दक्षिण, पूर्व तथा कुछ उत्तर तक फैले बौद्ध मत द्वारा वैदिक धर्म के पराभव को उन्होंने खिन्नमना अनुभव किया। इधर, शैव, शाक्त, गाणपत्य, वाम मार्ग आदि पुराण एवं तंत्राधारित सम्प्रदायों की शक्ति एवं सामर्थ्य की वृद्धि भी उनकी चिन्ता का कारण बनी। बौद्धों के अनीश्वरवाद तथा अनात्मवाद तथा प्रायः जड़वाद की ओर झुकाव रखने वाले दार्शनिक मतों का प्रत्याख्यान करने के लिये उन्हें ब्रह्मद्वैत सिद्धान्त से भिन्न कोई अन्य दार्शनिक विचार उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ। विद्वानों में यह अनुश्रुति प्रचलित है कि शंकर के परमगुरु गौडपादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् पर जिन कारिकाओं^{४२} का निर्माण किया, उन्हीं से अद्वैतवाद को सुदृढ़ तार्किक आधार मिला है। इन कारिकाओं तथा उन पर लिखे गये शंकर भाष्य की सूक्ष्म आलोचना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गौडपाद ने बौद्ध युक्तिवाद का ही सहारा लेकर अद्वैत दर्शन का स्थूल आधार बनाया और इसकी नींव को इतना मजबूत कर दिया जिससे कि कालान्तर में अद्वैत विरोधी दार्शनिकों के तर्क और आक्षेपों के क्रूर प्रहार भी उसका कोई अनिष्ट नहीं कर सके। यदि बौद्धों ने ईश्वर और आत्मा के चेतन तत्त्वों को सर्वथा नकार कर सर्वशून्यवाद, क्षणिकवाद आदि मन्तव्यों को प्रचारित किया तो शंकर ने जड़तत्त्व का सर्वांश में निषेध कर एक, अद्वितीय, कूटस्थ, नित्य, प्रज्ञान घन, ब्रह्म तत्त्व की स्थापना की जो माया या अविद्या के वशवर्ती होकर रज्जु में सर्प की भांति स्वयं भी जगत् रूप में भासमान होता है तथा मायोपाधि युक्त ईश्वर बन कर दृश्यमान किन्तु मिथ्या संसार का निर्माण भी करता है। यद्यपि शंकर ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की पुष्टि उपनिषद्, वेदान्त तथा गीता पर स्वमतानुकूल भाष्य लिख कर की, किन्तु आग्रह-मुक्त दृष्टि वाले सभी विचारकों का यह मत है कि शंकर ने उपर्युक्त ग्रन्थों के मूल अभिप्राय को ओझल करके ही अपने अभीष्ट मन्तव्यों को इन ग्रन्थों पर थोपा है।^{४३}

तथापि शंकर के असाधारण युक्तिवाद, उनकी प्रखर तर्क शक्ति तथा अपूर्व विवेचन प्रतिभा का लोहा मानना ही पड़ता है।^{४४} शंकराचार्य के इस महान् प्रयास के परिणाम स्वरूप से भारत से जैन, बौद्ध आदि नास्तिक मतों को पराभव के दिन देखने पड़े तथा उपनिषदों पर आधारित वैदिक ब्रह्मवाद तथा ब्राह्मण मत प्रतिपादित पूजा उपासना प्रणालियाँ पुनः प्रचलित हुईं। शंकर के चिन्तन तथा उनके द्वारा प्रणीत सौन्दर्यलहरी जैसे काव्य तत्त्वों से परिपूर्ण स्तोत्र ग्रन्थों में उसी भागवती शक्ति का वैसा ही स्थूल भक्ति भावापन्न वर्णन मिलता है जो अन्य शाक्त पुराणों में वर्णित हुआ है। ऐसी स्थिति में एक तटस्थ विवेचक इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अपने शास्त्रार्थ कौशल एवं युक्ति तथा तर्क के बल पर शाक्त, पाशुपत, कापालिक तथा वैष्णव आदि अवैदिक मतों का घोर खण्डन करने वाला आचार्य शंकर^{४५} भी पौराणिक बहुदेववाद, पञ्चदेवोपासना, विग्रहपूजा, प्रतीको-

पासना एवं याज्ञिक पशुहिंसा जैसे अवैदिक मतवादों तथा आपत्तिजनक कर्मकाण्डों के जाल से स्वयं को मुक्त नहीं कर सका था।

शंकर और उनके प्रमुख चार शिष्यों^{४६} ने निश्चय ही अपनी ग्रन्थ रचना, शास्त्रार्थ-कौशल तथा वैदिक धर्म प्रचारार्थ समर्पण भावना से अवैदिक श्रमण मत पन्थों तथा वामाचार युक्त पाशुपत, कापालिक तथा तंत्राधारित घृणित शाक्त पूजा पद्धतियों से देशवासियों को उबार लिया। किन्तु उनका समस्त चिन्तन तथा विचार सरणि शुष्क तर्कवाद तथा शास्त्रालोचन की गरिष्ठ प्रक्रिया का आधार लेकर ही चलती थी। मनुष्य का मन तो भावों और विचारों, स्थूलता एवं सूक्ष्मता, लौकिकता तथा पारलौकिकता सभी को साथ लेकर चलना चाहता है। ऐसी स्थिति में शुद्ध ज्ञान और तर्क पद्धति पर आश्रित शांकर अद्वैतवाद विद्वद्-जनों में चाहे कितना ही सम्मानित और प्रशंसित हुआ, किन्तु जन सामान्य की अध्यात्म क्षुधा को शान्त करना उसके लिये शक्य नहीं था। फिर शंकर के इस दार्शनिक मतवाद की देश और समाज के लिये कोई प्रासंगिकता भी नहीं थी। जो दर्शन स्थूल संसार और समाज को मिथ्या कल्पना, मायारूपी छलना तथा अविद्या पर आश्रित भ्रान्ति ही मानता हो, भला देश और जाति की सुरक्षा के लिये उसकी क्या उपयोगिता हो सकती थी? यद्यपि शंकर ने मनः शुद्धि और अन्तःकरण की पवित्रता के लिये आयोजित धार्मिक कृत्यों की महत्ता एवं उपयोगिता स्वीकार की थी किन्तु अद्वैतवाद के परवर्ती प्रचारक दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन और बौद्धिक युक्तिवाद पूर्ण शास्त्रार्थों में इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें देश और दुनिया की कोई खबर ही नहीं रही। उनके लिये न कोई लौकिक या सामाजिक दायित्व था और न स्वराष्ट्र, स्वधर्म एवं स्वजाति के प्रति कोई कर्तव्य।

शंकर और उनके परवर्ती अनुयायियों की इसी लौकिक तटस्थता अथवा निरपेक्ष दृष्टि की आलोचना करते हुए दयानन्द चरित के मार्मिक समालोचक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को लिखना पड़ा— “नम्बूदरी ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर शंकराचार्य ने छोटी सी अवस्था में संन्यास ग्रहण कर लिया था। अलौकिक प्रतिभा से वह अल्पावस्था में ही अगाध विद्या के पारदर्शी हो गये थे। वेदान्त सूत्र का अनुपम भाष्य रच कर वह संसार में अविनश्वर कीर्ति स्थापित कर गए हैं। भारत के बहुत से स्थानों में पर्यटन कर अपने सुशाणित तर्कास्त्र के प्रभाव से नाना दिग्देशीय पण्डित-मण्डली को पराभूत करके वेदान्त मत का प्राधान्य स्थापित कर गये हैं। सौ मनुष्य भी अपने जाने हुए विषय को एकत्र करके जिस कार्य के करने में असमर्थ हैं, शंकराचार्य उसे बत्तीस वर्ष की आयु में अकेले ही सम्पादित करके दिव्य धाम को प्रस्थान कर गये। शंकराचार्य यह सब कुछ कर गये परन्तु क्या उन्होंने विभक्त और विच्छिन्न भारत में एक्य स्थापना करने के लिये कोई यत्न किया? शायद नहीं।”^{४७}

संसार को ही मिथ्या मानने वाले अद्वैतवादियों को देश के दर्द या समाज की पीड़ा

से क्या लेना देना था। अतः मुखोपाध्याय महाशय को पुनः अपनी व्यञ्जनापूर्ण शैली में लिखना पड़ा— “जो अपनी अलौकिक ज्ञान चक्षु के आलोक से संसार को ही नहीं, विश्व भर को मिथ्या सिद्ध करके दिखा गये, जो अपनी अदभुत शक्ति से प्रभाव से सारे जगत् के अस्तित्व बोध को सर्प और रज्जु के समान महाभ्रम बता गये, उनके लिये शायद किसी देश में एक्य स्थापना करना एक तुच्छ बात ही रही तो।”^{४८} किन्तु सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान न तो अद्वैतवाद से ही निकल सकता था और न स्वयं को ब्रह्म मान का नैष्कर्म्य सिद्धि ही राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित ज्वलन्त प्रश्नों का उत्तर था।

शांकर वेदान्त की प्रतिक्रिया में भक्तिवादी आचार्यों का वैष्णव भक्तिवाद सम्पूर्ण भारत को भक्ति रस से आप्लावित कर सगुण, साकार अवतारोपासना की रोचक एवं आह्लादकारी क्रिया पद्धतियों में निमग्न कर बैठा। रामानुज का श्री वैष्णव सम्प्रदाय इनमें सर्वाधिक प्राचीन है। इसके पश्चात् मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ ने क्रमशः द्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धद्वैत के दार्शनिक मत का प्रतिपादन कर कृष्ण भक्ति की सगुण धारा को त्रिधा विभक्त किया। रामानुज का भक्तिमार्ग लक्ष्मी और नारायण की उपासना को महत्त्व देता था, जब कि दार्शनिक दृष्टि से उनका मन्तव्य विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इन सभी भक्ति सम्प्रदायों का अध्ययन उनके दार्शनिक मतवाद तथा पूजा उपासना की वैष्णवी पद्धतियों एवं आस्थाओं के विश्लेषण द्वारा किया जा सकता है।

भक्ति मार्ग के अध्येताओं ने यह धारणा प्रकट की है कि श्रवण, कीर्तन, पाद सेवन आदि भक्ति के नवधा उपकरणों के द्वारा परमात्मा की सेवा ही उसे अपने आराध्य तक पहुंचाती है और इस भक्ति तत्त्व का प्रचार करने वाले आचार्य गण दक्षिण भारत के ही निवासी थे। अतः ‘भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द’ का प्रवाद प्रचलित हुआ। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इन वैष्णव भक्ति सम्प्रदायों ने शंकर के अद्वैतवाद तथा ज्ञानाश्रित आत्म तत्त्व की आलोचना को एकान्ततः अस्वीकार कर दिया। उन्होंने अद्वैत दर्शन से फैली भ्रान्तियों का निराकरण भी दार्शनिक स्तर पर ही किया और ज्ञान से पृथक् शास्त्र-वर्णित कर्मों और आत्मा और अन्तःकरण को सर्वात्मा के प्रति प्रणत भावना से युक्त भक्ति का उपदेश सर्व साधारण को दिया। इस प्रकार रामानुजादि चारों वैष्णव आचार्यों ने उपनिषद्, वेदान्त तथा गीता पर अपने पृथक् भाष्य लिखे और उनमें स्वयं को इष्ट वेदान्त के विभिन्न रूपों का सतर्क प्रतिपादन किया। उधर भक्ति के लिये आवश्यक मंदिर निर्माण, मूर्ति एवं विग्रह पूजा तथा तद्विषयक संभारों की विस्तृत चर्चा करना भी उनके लिये आवश्यक हो गया। रामानुज द्वारा प्रतिपादित लक्ष्मी एवं नारायण की उपासना को आगे चलकर रामानन्द ने सीता और राम की पूजा के रूप में स्वीकार किया। किन्तु कृष्ण भक्ति को महत्त्व देने वाले निम्बार्क, मध्व और वल्लभ ने कहीं कृष्ण के केवल बाल रूप

को स्वीकार करते हुए तो अन्यत्र कृष्ण की आद्या शक्ति कही जाने वाली (वस्तुतः परकीया नायिका के तुल्य) राधा के साथ बाह्य पूजा उपकरणों तथा आडम्बरपूर्ण विधि विधानों के साथ की जाने वाली पूजा को ही वास्तविक भगवद्भक्ति माना।

भक्ति के इस अबाध प्रवाह में न केवल दक्षिण भारत अपितु सम्पूर्ण उत्तरापथ भी बहा और राम के मर्यादावादी एवं कृष्ण के लोक रञ्जक स्वरूप से जुड़ी शतशः कथाओं, उपाख्यानों, भजनों तथा गीतों से देशवासी जीवन तत्त्व ग्रहण करते रहे। उधर नारद एवं शाण्डिल्य जैसे प्राचीन आचार्यों के नाम से इसी काल में दो भक्ति सूत्र भी लिखे गये। इनमें सांख्य आदि वैदिक दर्शनों की सूत्र शैली में ही भक्ति तत्त्व की सम्यक् व्याख्या और विवेचना की गई। नारद ने भक्ति की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् उसे परम प्रेम रूपा तथा अमृत स्वरूपा बताया।^{४९} इस भक्ति को प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृत हो जाता है, तृप्त हो जाता है।^{५०} जिसे प्राप्त कर न किसी वस्तु की इच्छा शेष रहती है, न वह किसी बात का शोक करता है, न द्वेष करता है और न किसी वस्तु में उसकी आसक्ति ही रहती है।^{५१} ऐसी भक्ति को पाकर भक्त स्तब्ध हो जाता है, उन्मत्त तुल्य आचरण करने लगता है— वस्तुतः आत्माराम ही हो जाता है।^{५२} आचार्य शाण्डिल्य के अनुसार ईश्वर के प्रति परा अनुरक्ति (अतिशय प्रेम) ही भक्ति है।^{५३}

भारत का मध्यकालीन आध्यात्मिक चिन्तन, उसका धार्मिक मतवाद तथा उसकी दार्शनिक चिन्ताधारा मुख्यतः इसी वैष्णव भक्तिवाद से ही प्रभावित रही। भक्ति तत्त्व के समीक्षकों ने भक्ति को वैधी और प्रेमा भक्ति नाम से द्विधा विभाजित किया और सख्य, वात्सल्य, दास्य तथा दाम्पत्य आदि मानवी भावों के आधार पर सख्य भक्ति, वात्सल्य भक्ति, सेवक भाव प्रधान दास्य भक्ति तथा दाम्पत्य प्रेम रूप मधुरा भक्ति के नाम से पुकारा। भक्तिकाल की इस चिन्तनधारा ने देशवासियों को किस प्रकार प्रभावित किया, उसके क्या अच्छे और बुरे परिणाम निकले, इन बातों पर भारत के धार्मिक विकास के अध्येताओं ने सम्यक् रीति से विचार किया है। जहाँ वैष्णवी भक्ति ने भारतवासियों को स्वसंस्कृति की रक्षा के अनेक सूत्र दिये तथा इस्लाम जैसे आक्रान्ता मजहब के दुर्दान्त किन्तु मतान्ध प्रचारकों का प्रतिकार करने की शक्ति दी, वहाँ उसने हमें आलसी, प्रमादी, भाग्यवादी तथा सब कुछ भगवान् के भरोसे छोड़ कर स्थूल विग्रहों की पूजा अर्चना में ही स्वपुरुषार्थ को व्यय करने वाला भी बना दिया। राष्ट्र और समाज हमारे लिये गौण हो गये और हम भक्ति विह्वल होकर राम कृष्णादि के नाम स्मरण को ही परम पुरुषार्थ समझ बैठे। अतः देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय की एक संदर्भ में कही गई यह टिप्पणी सटीक ही है कि “उनके लिये जो ईश्वरप्रेम में अहर्निश उन्मत्त थे, किसी देश विशेष की उन्नति तो गौण बात ही थी।”^{५४}

भक्तिवाद के इस प्रचण्ड प्रवाह ने भारतीय समाज को भूरिशः प्रभावित किया और

इसके कुछ सुखद परिणाम निकले। कट्टर ब्राह्मण धर्म के एक मौलिक अंग-जाति तथा स्पृश्यास्पृश्य की भावना को भक्ति आन्दोलन ने दुर्बल किया और माना जाने लगा कि भगवद्भक्ति के आगे जाति, विद्या, कुल, धन आदि का कुछ भी महत्त्व नहीं है।^{१५} उत्तर तथा दक्षिण भारत के वैष्णव भक्तों में यदि कुलीन वर्ग के लोग हैं तो अन्त्यज कहे जाने वाले लोगों ने भी इस मार्ग को अपनाया। 'जात पांत पूछे नहीं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई' की धारणा के अनुसार वैष्णव भक्तों ने सामाजिक बंधनों को शिथिल किया। भक्ति की शीतल छाया में केवल हिन्दुओं को ही मानसिक शान्ति एवं आध्यात्मिक तृप्ति मिली हो ऐसी बात नहीं। रहीम, रसखान तथा ताज बीबी आदि मुसलमानों ने भी वैष्णव भक्ति की मन्दाकिनी में स्नान कर प्रफुल्लता तथा शान्ति प्राप्त की।

किन्तु कृष्ण भक्ति में जब दाम्पत्य भाव की पराकाष्ठा हुई और वल्लभ सम्प्रदाय के कृष्ण मंदिरों में बालकृष्ण की पूजा अर्चना में जिस प्रकार के बाह्य उपकरणों की प्रधानता होने लगी, तो यह अनुभव किया जाने लगा कि साकारोपासना के इन स्थूल कर्मकाण्डों ने पाखण्ड का रूप धारण कर लिया है। कृष्ण मंदिरों के दैनंदिन पूजा कृत्यों, वार्षिक या विशिष्ट पर्वों, उत्सवों पर किये जाने वाले आडम्बर पूर्ण भोग राग के आयोजनों ने सिद्ध कर दिया कि मनुष्य की मूल मनोवृत्ति इन्द्रिय तृप्ति की ही होती है। वैष्णवों की यह भगवद्भक्ति या पूजा तो इसके लिये बहाना मात्र ही है।

फलतः निर्गुण भक्ति को प्रश्रय देने वाले कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास, रज्जब, चरणदास, रविदास आदि सन्तों का आविर्भाव उत्तर भारत में हुआ तो उधर महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर, नामदेव तथा तुकाराम आदि ने भक्ति मार्ग में आये दोषों का मार्जन कर उसे शुद्ध किया और लोक मंगल का विधायक बनाया। निर्गुण सन्तों की शास्त्रों में न तो गहन गति ही थी और न वे उन्हें अधिक महत्त्व ही देते थे। इसके कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी थे। प्रथम तो अधिकांश निर्गुण सन्त ब्राह्मणोत्तर जातियों से आये थे जिन्हें शास्त्रों के पठन पाठन का अधिकार या तो कभी दिया ही नहीं गया और यदि घुणाक्षर न्याय से उन्हें ऐसा अधिकार मिला भी, तो उसे छीनने में भी उच्च वर्ण वालों ने देर नहीं की। ऐसी स्थिति में निर्गुण सन्तों की शास्त्रों के प्रति उपेक्षा समझ में आने वाली बात थी। कबीर ने एक ऐसे जुलाहे के यहाँ जन्म लिया था जिसके पूर्वजों ने कुछ पीढ़ियों पहले ही इस्लाम को स्वीकार किया था।^{१६} जो नियमित रूप से रोजा और नमाज का पाबन्द था। नानक जन्मना खत्री, दादू धुनिया, रज्जब मुसलमान तथा रविदास चमार थे। पीपा, (क्षत्रिय) धन्ना (जाट) आदि भी उन जातियों में जन्मे थे जो ब्राह्मणी व्यवस्था में अधिक सम्मान प्राप्त नहीं थीं।

एक अन्य कारण यह भी था कि इन सन्तों के समय में शास्त्र नामधारी ग्रन्थों के बारे में सामान्य लोगों की न तो प्रामाणिक जानकारी ही थी और न वे उनके अभिप्राय

को समझने की योग्यता ही रखते थे। तथापि किसी भी सन्त ने न तो शास्त्रों के लिये अपमान जनक शब्दावली का प्रयोग किया और न उनका अवमूल्यन या अवगणना की।

निर्गुण सन्त मत का जो अत्यधिक प्रचार हुआ, उसके कुछ स्पष्ट कारण थे। इन सन्तों ने अपने आध्यात्मिक एवं साधनागत अनुभवों को अपनी सहज, सरल, अटपटी, किन्तु जन मन को छूने वाली बानी में व्यक्त किया, बिना इस बात का विचार किये कि उनका यह भक्ति काव्य भाषा, भाव, छन्द, अलंकार एवं काव्य रीति की शास्त्रीय कसौटी पर खरा उतरता है, या नहीं। साथ ही उन्होंने दार्शनिक उलझनों और शास्त्रीय विवेचनाओं से बचते हुए सत्य, अहिंसा, दया, करुणा, परोपकार, प्राणि मैत्री जैसे सार्वजनीन नैतिक मूल्यों पर जोर किया और आध्यात्मिक उन्नति के लिये इसी आचारागत श्रेष्ठता को वरीयता प्रदान की। निर्गुण सन्तों ने धर्म के नाम पर प्रचलित स्थूल कर्मकाण्डों, आडम्बर पूर्ण कृत्यों तथा बाह्यचारों को महत्त्व नहीं दिया। वे अवतार, मूर्ति, जलाशयों में तीर्थबुद्धि से भ्रमण, तिलक, छाप, कण्ठी धारण आदि के विरोधी रहे, किन्तु यह विडम्बना ही थी कि कालान्तर में निर्गुण सन्तों की पहली पीढ़ी समाप्त हुई तो उनके शिष्यों ने अपने गुरुओं को ही ईश्वर के तुल्य आराध्य मान लिया। चाहे उनकी मूर्ति नहीं बनाई, किन्तु उनकी गद्दी, पलंग, पोथी, खड़ाऊं तथा चरण चिह्नों की वैसे ही पूजा होने लगी जैसे साकारोपासक भक्त अपने आराध्य राम, कृष्ण आदि के विग्रहों की करते थे। अब इन सन्तों के भी पृथक् पृथक् सम्प्रदाय चल पड़े जिनमें आध्यात्मिक मूल्यों की अपेक्षा बाह्य विधि विधानों और सम्प्रदाय मान्य अनुष्ठानों को महत्त्व दिया जाने लगा।

महाभारत के उत्तरवर्ती काल के भारतीय धर्म सम्प्रदायों की इस विकास यात्रा का अन्तिम पड़ाव हमें ईसा की उन्नीसवीं शती तक ले आता है। यह वह समय तक था जब इस्लाम के आक्रमणों और मुसलमानी शासकों की अच्छी बुरी व्यवस्थाओं को झेल जाने वाला हिन्दू समाज यूरोपीय जातियों के सम्पर्क में आया। मूलतः तो पुर्तगाली, फ्रान्सीसी, डच और अंग्रेज भारत में अपने व्यापार व्यवसाय को जमाने और पूर्वीय देश भारत के अतुल्य वैभव और ऐश्वर्य को अधिकृत करने की अदम्य लालसा को लेकर ही आये थे। धीरे-धीरे इसी बनियेपन ने अपने संसाधनों की रक्षा तथा व्यापार संस्थाओं की सुरक्षा के लिये उन्हें सेना एकत्र करने की प्रेरणा दी। क्लाइव जैसे चालाक, चतुर सेनापतियों ने अंग्रेजों के सामरिक वर्चस्व को बढ़ाया। फलस्वरूप सिख, मराठा, मुगल, राजपूत आदि स्थानीय शासक सदा सदा के लिये गुलामी के बंधन में बंध गये। १८५७ में एक बार पुनः स्वदेश को स्वाधीन कराने की सशस्त्र चेष्टा की, किन्तु अनेक कारणों से स्वतंत्रता संग्राम का यह पहला प्रयास असफल हुआ।

यद्यपि पुर्तगाल, फ्रांस तथा हालैण्ड वालों ने इस देश पर अपना राजनैतिक आधिपत्य जमाने की चेष्टायें समय समय पर कीं, किन्तु अन्ततः सफलता अंग्रेजों को

ही मिली और १८५८ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के वाणिज्य व्यवसाय के हितों को प्रधानता देकर भारत पर शासन करने वाले कम्पनी के निदेशक-मण्डल से देशवासियों का छुटकारा हुआ और तत्कालीन ब्रिटिश रानी विक्टोरिया ने संसद के माध्यम से भारत का प्रशासन सीधे अपने हाथों में ले लिया। पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आने का प्रत्यक्ष लाभ भारत को भी मिला। यूरोप में जिस औद्योगिक क्रान्ति के कारण वहाँ के सामाजिक ढांचे में परिवर्तन आया था उसका सुदूर देशों पर प्रभाव पड़ना तो अवश्यम्भावी ही था। वस्त्र निर्माण के लिये कल कारखानों की स्थापना और नाना विध मशीनों के उपयोग ने मानव की जीवन के प्रति दृष्टि को ही बदल दिया। उधर रेल, तार, डाक आदि की नवीन सुविधाओं ने संसार के देशों में आवागमन की सुविधायें बढ़ाई तथा विचारों के आदान प्रदान को सुगम बनाया। अंग्रेजी शासन के इन वरदानों को इतिहासकारों ने बहुविध व्याख्यात किया है, किन्तु विदेशी शासन के कड़वे फल भी देशवासियों को चखने पड़े।

सर्वप्रथम तो अंग्रेजों ने भारतीयों को स्थूल दृष्टि से अपने अधिकार में कर लेने के उपरान्त उन्हें बौद्धिक दृष्टि से भी पश्चिम का दास बनाने का मनसूबा बनाया। इसके लिये उन्होंने भारत की शिक्षा पद्धति में अपने मनोनुकूल परिवर्तन किये और अंग्रेजी माध्यम से भारतवासियों को शिक्षित करने की योजना को क्रियान्वित करने का दायित्व तत्कालीन वायसराय की कौंसिल के सदस्य लार्ड टी.बी. मैकाले (१८००-१८५०) को सौंपा। यह बात नहीं कि यूरोपीय जातियों के आगमन के पहले भारत की कोई अपनी शिक्षा-नीति या शिक्षण पद्धति नहीं थी। हमारे यहाँ गांवों में चलने वाली साधारण पाठशालाओं से लेकर नालन्दा, तक्षशिला जैसे विश्व विख्यात विश्वविद्यालय भी थे, जिनमें देश विदेश के सहस्रों छात्र विद्योपार्जन के लिये आते थे।^{१५} यह दूसरी बात है कि शताब्दियों की पराधीनता तथा परकीयों से आक्रान्त रहने के कारण हमारी सारी शैक्षिक व्यवस्थायें छिन्न भिन्न हो गई थीं।

मैकाले द्वारा निर्धारित शिक्षा प्रणाली के विषम परिणाम देशवासियों को भुगतने ही पड़े। यह तो सत्य है कि यूरोपीय भाषाओं को सीखने तथा पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान का अध्ययन करने से उस युग के भारतीयों का मानसिक क्षितिज कुछ सीमा तक विकसित हुआ किन्तु उनमें आत्महीनता, पूर्व गरिमा का विस्मरण तथा अपने शासकों के विचारों एवं आदर्शों के अंधानुकरण जैसे कुछ विकार भी उत्पन्न हुए। तथापि अंग्रेजी शिक्षा ने हमें वैचारिक उदारता, विज्ञान अनुमोदित दृष्टि तथा स्वस्थ चिन्तन भी प्रदान किया। दयानन्द सरस्वती जैसे सर्वथा पौरस्त्य जीवन मूल्यों को महत्त्व देने वाले महापुरुष ने भी अंग्रेज जाति के स्वदेश प्रेम, समय की पाबन्दी, सादगी, स्वभाषा प्रेम आदि गुणों की प्रशंसा की है तथा भारतवासियों के लिये अनुकरणीय बताया है।^{१६}

पश्चिम के इस संसर्ग ने भारतीय धर्म के परिदृश्य को भी बदला। इसका कारण

भी था। अंग्रेज शासकों ने पश्चिमी ढंग की शिक्षा को एतद्देशीयों पर थोपने के साथ साथ ईसाई प्रचारकों को भारत आकर यहाँ के हिन्दू-मुसलमानों का धर्म परिवर्तन करने की खुली छूट दे दी। परिणाम स्वरूप झुण्ड के झुण्ड ख्रिस्ती धर्म प्रचारक जहाजों पर लद कर भारतीय तट पर उतरने लगे। देखते देखते ईसाई प्रचारक संस्थाओं का भारत में जाल बिछ गया। इन ईसाई प्रचारकों ने इस देश के अपठित एवं पठित, सभी लोगों को अपने मत में दीक्षित करने का पक्का इरादा कर लिया। प्रचलित हिन्दू धर्म की विकृतियों तथा हमारे समाज की गली सड़ी रूढ़ियों, रिवाजों तथा कूपमण्डकूतापूर्ण कृत्यों को सामने रख कर पठित वर्ग को उनसे विरक्त करना कठिन नहीं था।

ईसाई प्रचारकों ने प्रचलित हिन्दू धर्म में विद्यमान बहुदेवतावाद, पुराण वर्णित देवी देवताओं के अनाचार पूर्ण कृत्यों तथा स्थूल कर्मकाण्ड जन्य ढकोसलों पशु बलि, नारी-उत्पीड़न, सती प्रथा जैसे बर्बर सामाजिक दोषों को उभारा, उछाला। इनकी तुलना में वे ईसाई मत में स्वीकृत परमात्मा की दया-करुणा पूर्ण वृत्ति, ईसा द्वारा मनुष्य समाज के पापों को स्वयं लेकर पापियों और अपराधियों को अपने क्षमाशील, आसमानी बाप द्वारा माफी दिलाने के वायदे तथा इसी प्रकार की अन्य नैतिक मान्यताओं का ढोल पीटते रहे। परिणाम यह निकला कि हिन्दुओं का शिक्षित वर्ग परम्परागत धर्म को तिलाञ्जलि देकर ईसाई मत को स्वीकार करने लगा। बंगाल और महाराष्ट्र के अनेक प्रबुद्ध एवं पठित व्यक्तियों ने ईसाई मत में दीक्षित होने में शीघ्रता की। माइकेल मधुसूदन दत्त जैसे बंगला कवि^{५९}, रामचन्द्र बोस^{६०} जैसे शिक्षक तथा नीलकण्ठ गोरे शास्त्री^{६१} जैसे संस्कृतज्ञ पण्डित ईसाई शिविर में चले गये।

यही वह समय था जब राम मोहन राय नामक एक शिक्षित बंगाली ब्राह्मण उपनिषदादि ब्रह्मविद्या निरूपक शास्त्रों तथा वेदान्तादि दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि प्रचलित हिन्दू धर्म बहुदेवोपासना के दोष से दूषित हो चुका है तथा मूर्तिपूजा जैसी स्थूल अर्चना विधियों के प्रचलन के कारण वेद प्रतिपादित तथा उपनिषद् अनुमोदित एक अद्वितीय, निर्गुण, निराकार परमात्मा की योग रीति से उपासना विलुप्त हो चुकी है। हिन्दू समाज भी जातिगत संकीर्णता तथा स्पृश्यास्पृश्य की विषैली भावनाओं को अपना कर शतधा-सहस्रधा विभक्त हो चुका है। अन्त्यज कही जाने वाली जातियों के प्रति क्रूरतापूर्ण अत्याचार तथा नारी के सर्वविध शोषण और उत्पीड़न ने इस शताब्दियों पुराने समाज को जीर्ण, शीर्ण और भीतर से खोखला बना दिया है। राय महाशय ने हिन्दू पुनरुत्थान के लिये एकेश्वरवाद को आर्य धर्म के मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार करने की अपील करते हुए बहुदेवोपासना को समाज के विभ्रंशित होने का प्रमुख कारण माना। उधर जातिगत आधार पर ऊँच नीच के भावों को समाप्त करने के प्रयास भी उन्होंने किये। उनकी सबसे बड़ी पीड़ा उस बर्बर एवं अमानुष सती प्रथा को लेकर थी, जिसके विधान के अनुसार

पति के देह त्याग के पश्चात् उसकी पत्नी को अनिवार्यतः चितारोहण करना पड़ता था। स्वयं की इच्छा के विपरीत, जोर जबरदस्ती से रोती कलपती युवा हिन्दू विधवाओं को प्रज्वलित अग्नि में झोंक दिया जाता था। इस क्रूर और जंगली प्रथा के समर्थन में पुराण पाठी पण्डितगण शास्त्रीय व्यवस्थाओं को उद्धृत करने में भी संकोच नहीं करते थे।

राय महाशय को कानूनन सती प्रथा को बंद कर जो प्रसन्नता हुई होगी इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। सती प्रथा के उन्मूलन में राम मोहन राय को विदेशी सरकार से सहयोग लेने में कोई संकोच नहीं हुआ। वे ईसाई मत के नैतिक उपदेशों से प्रभावित अवश्य थे किन्तु ईसाई तत्त्वज्ञान की श्रेष्ठता उन्होंने कभी स्वीकार नहीं की। सच तो यह है कि हिब्रू, ग्रीक, लैटिन तथा अंग्रेजी आदि प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं के पारगामी ज्ञाता होने के कारण राय महाशय ने ईसाई धर्म ग्रन्थों, मुख्यतः बाइबिल के पुराने और नये अहदनामों का अधिकृत अध्ययन किया था। अपने इसी अध्ययन के बल पर उन्होंने यह मत रक्खा कि यद्यपि मूलतः तो ईसाई दर्शन भी एकेश्वरवाद का ही पोषक है, उसमें जो ईश्वर से भिन्न पुत्र तथा पवित्र आत्मा की अनादिता की बातें समाविष्ट हुई हैं, वे परवर्ती काल की हैं। इस प्रकार राम मोहन राय ने ईसाई त्रैतवाद (पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा) का प्रत्याख्यान तो किया ही, एक एक सत्तात्मक (यूनीटेरियन) चर्च की भी स्थापना की तथा मि. एडम नामक एक पादरी को त्रैतवादी ईसाई आस्था से मुक्ति दिला कर इस एकेश्वरवादी चर्च का अनुयायी भी बनाया।

कालान्तर में पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से ईसाई प्रचारकों से उनके अनेक शास्त्रार्थ एवं वाद विवाद हुए। इन धर्म-चर्चाओं में राय महाशय वैदिक धर्म की मौलिक एकेश्वरवादी धारणा को प्रबलता से स्थापित कर उसके प्रचलित बहुदेववादी रूप को सर्वथा नवीन सिद्ध करते। वे ईसाई प्रचारकों द्वारा हिन्दू आस्थाओं और विश्वासों पर किये जाने वाले आक्षेपों का भी सटीक उत्तर देते। वे बताना चाहते हैं कि जो स्वयं कांच के मकानों में रहते हैं उन्हें दूसरे के घरों पर प्रहार करने का क्या अधिकार है। इस प्रकार ईसाई आक्रमणों का अधिकारपूर्वक मुकाबला कर राम मोहन राय ने भारतीय हिन्दू धर्म की सेवा की। वैदिक धर्म और आर्यों के तत्त्वज्ञान की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए भी वे हिन्दुओं के आचार शास्त्र को ईसाई आचार की तुलना में अवर कोटि का ही मानते थे।^{१९} निश्चय ही इसका कारण यही रहा था कि उन्होंने हिन्दुओं के सर्वविध सामाजिक और नैतिक पतन के लिये मध्यकालीन आचार परम्पराओं को ही दोषी माना।

अब राम मोहन राय को एक ऐसे समाज को स्थापित करने की आवश्यकता अनुभूत हुई जो वेदाधारित एकेश्वरवाद को प्रतिष्ठित कर निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक परमात्मा की निर्गुण पूजा उपासना के प्रचार को अपना उद्देश्य बनाये। फलतः २५ अगस्त, १८२८

को कलकत्ता के जोड़ासांको मुहल्ले (चीतपुर रोड) में उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। इस संस्था को जन्म देकर वस्तुतः राय महाशय ने भारतीय धर्म, समाज और संस्कृति के क्षेत्र में नवजागरण के एक ऐसे बीज का वपन किया जो कालान्तर में एक महा विटप का रूप का धारण कर पुरातन वैदिक मान्यताओं और भारतीय चिन्तन की गौरव गरिमा को पुनः स्थापित करने में सक्षम सिद्ध हुआ। कहना नहीं होगा कि ब्रह्मसमाज की स्थापना के समय नवजागरण के एक अन्य प्रबल ज्येतिर्धर, कर्मठता एवं पुरुषार्थ की जीवन्त प्रतिमा दयानन्द सरस्वती की आयु मात्र चार वर्ष की ही थी। ब्रह्मसमाज का उसके संस्थापक के जीवनकाल में तो अधिक प्रचार प्रसार नहीं हुआ यद्यपि राय महाशय को प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर जैसे धनाढ्य श्रीमन्त का सर्वात्मना सहयोग प्राप्त हुआ था।

ब्रह्मसमाज की तात्त्विक दृष्टि, उसकी वैचारिक भूमि तथा कार्यप्रणाली में आगे चल कर क्या परिवर्तन हुए इस पर अधिक विचार करना यहाँ सम्भव नहीं है, किन्तु यह कहना तो प्रसंगोचित ही है कि स्वामी दयानन्द ने आर्यावर्तीय मत मतान्तरों की समीक्षा के संदर्भ में अपने विवेचन को महाभारत की समाप्ति के काल से आरम्भ कर ब्रह्मसमाज तथा उसके महाराष्ट्रीय संस्करण प्रार्थनासमाज के विचारों की आलोचना के साथ ही समाप्त किया है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने भी संसार के प्राचीनतम विद्या ग्रन्थ वेदों के आविर्भाव काल से आरम्भ कर महाभारत काल तक की आर्य जाति की धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्तियों की रूपरेखा प्रस्तुत की है। तत्पश्चात् इस धारणा को प्रमाणित करते हुए कि महाभारत युद्ध के आरम्भ होने के कुछ समय पूर्व से ही आर्यावर्तीय धर्म, समाज और संस्कृति में विकृति के कुछ कुछ लक्षण दिखाई देने लगे थे, हमने यह बताने का प्रयास किया कि महाभारत की समाप्ति के साथ साथ इस देश के सर्वविध पतन तथा यहाँ के निवासियों की बहुविध दुरवस्था की कहानी आरम्भ होती है। किसी जाति या समाज की बाह्य एवं अन्तः शक्ति, उसकी प्राणवत्ता, उसका स्वास्थ्य तथा उसकी जीवन्तता मुख्यतः उसकी वैचारिक सम्पदा पर निर्भर होती है। ये विचार धर्म, दर्शन, अध्यात्म, लोक-परलोक तथा समाजनीति, अर्थनीति आदि अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित होते हैं। इसलिये आर्यावर्तीय मत मतान्तरों की दयानन्द कृत समीक्षा का अध्ययन करने से पूर्व महाभारत काल के पूर्व तथा उत्तरवर्ती धार्मिक परिदृश्य की विशद रूपरेखा प्रस्तुत करना हमने आवश्यक समझा है।

पादटिप्पणियाँ

१. द्रष्टव्य- ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १ तथा अन्य अग्नि देवता के सूक्त
२. द्रष्टव्य- ऋग्वेद मण्डल २ सूक्त १२ तथा अन्य इन्द्रदेवता के सूक्त

३. द्रष्टव्य- ऋग्वेद मण्डल ६ सूक्त ८६ तथा अन्य वरुण देवता के सूक्त
४. द्रष्टव्य- ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १५४ विष्णु देवता के सूक्त संख्या में मात्र पांच या छः ही हैं।
५. द्रष्टव्य- ऋग्वेद मण्डल २ सूक्त ३३ रुद्र देवता के कुल ३-४ सूक्त ऋग्वेद में मिलते हैं। यजुर्वेद के १६ वें अध्याय के सभी ६६ मंत्र रुद्र को समर्पित हैं।
६. इन सम्प्रदायों की विस्तृत जानकारी के लिये डा. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर लिखित ग्रन्थ **Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious Systems** पठनीय है।
७. कालीतंत्रादि में।
८. द्रष्टव्य- वाममार्गीय रहस्य साधना शीर्षक भारतीय विद्या भवन की पत्रिका भारती (सितम्बर १९६१) में देवदत्त का लेख।
९. शान्ति पर्व अध्याय ३३७ तथा अनुशासन पर्व ६/३४, ११६/५६-५८
१०. अध्याय ५७/९१-१२५
११. मनुस्मृति अ. ९/३१७, ३१८, ३१९।
१२. न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
१३. अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्थानिलः।
१४. अग्निहोत्रं त्रयोवेदासिदण्डं भस्म गुण्ठनम्।
बुद्धिं पौरुषं हीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।।
१५. पशुभ्येनिहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते।।
१६. मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेतृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेय कल्पनम्।।
१७. त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्ड धूर्त निशाचराः।।
१८. जर्जरं तुर्जरित्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्।
१९. कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः।
कृपाणैर्विशंशासैनं त्रिभिः परमया मुदा।।
पतत्रिणा तदा सार्द्धं सुस्थितेन च चेतसा।
अवसद्रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया।।
रामायण बालकाण्ड सर्ग १४। ३३। ३४
२०. यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा धृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।
२१. मरणमेव मोक्ष
२२. मनुस्मृति २। ११
२३. श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५ अध्याय ४
२४. पुराणों में निम्न मुख्य १० अवतार वर्णित हुए हैं- मत्स्य, कच्छप (कूर्म), वराह, नृसिंह, दामन, राम, परशुराम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि।
अन्य गौण अवतार हैं-कपिल, नर नारायण, ध्रुव, पृथु, ऋषभ, हरि (गजेन्द्र मोक्ष), व्यास आदि
२५. योगदर्शन में अनागत दुःख को हेय कहा है- हेयं दुःखमनागतम् २। १६
२६. द्रष्टा पुरुष और दृश्य प्रकृति के संयोग को हेय हेतु कहा गया है योग दर्शन २। १७
२७. चित्तवृत्ति और पुरुष के संयोग का अभाव हान है। योगदर्शन २। २५

२८. विवेकख्याति हानोपाय है। योगदर्शन २। २६
२९. बुद्ध स्वीकृत अष्टांगिक मार्ग में निम्न आठ बातें स्वीकृत हैं—
सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वचन, सम्यक कर्म, सम्यक आजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि।
३०. द्रष्टव्य—बौद्धमत और वैदिक धर्म तथा Mathatma Buddha an Arya Reformer.
३१. न जटाहि न गौतेन न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चे च धम्मो च सो सुखी सो च ब्राह्मणो ।। २६। ११
जटा, गोत्र या जाति (जन्म) से कोई ब्राह्मण नहीं होता। जिसमें सत्य और धर्म हो, वही सुखी और ब्राह्मण है।
३२. द्रष्टव्य—राहुल सांकृत्यायन कृत बुद्धचर्या की भूमिका
३३. इन मतों की आलोचना के लिये सत्यार्थप्रकाश का १२ वाँ समुल्लास द्रष्टव्य है। बौद्ध धर्म के हीनयान तथा महायान नाम से दो अन्य भेद भी किये गये हैं। मूर्तिपूजा आदि आडम्बरों से युक्त बौद्ध धर्म महायान तथा इनसे युक्त बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं पर आधारित शाखा हीनयान कहलाई।
३४. चन्द्रकीर्ति, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों ने आर्य न्याय शास्त्र का खण्डन किया है।
३५. भागवत (२। ७। ३७) में बुद्धावतार का उल्लेख हुआ है—
देवद्विषां निगम वर्त्मनि निष्ठितानां
पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः।
लोकान् घ्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम् ।।
श्लोक का भाव यह है कि जब दैत्य लोग वेद मार्ग का अनुसरण करने लगेगे तब भगवान् लोगों की बुद्धि में मोह और अत्यन्त लोभ उत्पन्न करने वाला वेष धारण कर बुद्ध के रूप में उपधर्मों का उपदेश करेंगे।
विष्णु पुराण में बुद्धावतार के वर्णन के लिये देखें —
(३। १८। १२, १९, २४, ३०)
गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव ने विष्णु के बुद्धावतार का उल्लेख करते हुए उन्हें वेदों का निन्दक कहा है—
निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदयहृदयदर्शितपशुघातम्।
केशव धृत बुद्ध शरीर— जय जगदीश हरे।
३६. वाल्मीकीय रामायण में नारद ने वाल्मीकि को राम के जिन गुणों का परिचय दिया वे मनुष्य राम के हैं, किसी अवतारी राम के नहीं। इसी प्रकार महाभारत (उद्योग पर्व ७९। ५) में कृष्ण स्वयं के कार्य को पुरुषोचित कहते हैं न कि दैवकृत—
अहं हि तत् करिष्यामि पर पुरुषकारतः।
दैवं तु न मया शक्यं कर्म कर्तुं कथञ्चन ।।
३७. द्रष्टव्य—यजुर्वेद अध्याय १६ के मंत्र ६, ४१ आदि
३८. भारत में विवेकानन्द पृ. ३२६
३९. श्री मद्भागवत १। ७। १७
४०. यजुर्वेद ३६। ३
४१. स्वामी दयानन्द ने शंकर का जन्म २२०० वर्ष पूर्व बताया है। पं. उदयवीर शास्त्री के ग्रन्थ वेदान्त

दर्शन का इतिहास में शांकर मठों में मिलने वाले अभिलेखों के आधार पर इसी तिथि की पुष्टि की गई है। द्रष्टव्य The Age of Shankar (उदयवीर शास्त्री, अनुवादक लक्ष्मीदत्त दीक्षित)

४२. गौडपाद लिखित ये कारिकायें संख्या में २१५ हैं और ये आगम, वैतथ्य, अद्वैत तथा अलात शान्ति नामक चार प्रकरणों में समाविष्ट हैं। गौडपाद की कारिकाओं पर बौद्ध विचारधारा का सीधा प्रभाव था, यह इस तथ्य से परिलक्षित होता है कि अलातशान्ति प्रकरण के आरम्भ में आचार्य ने भगवान् बुद्ध (सम्बुद्ध) को प्रणाम किया है—

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान् ।

ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ।।

संस्कृत साहित्य के इतिहास के लेखक प्रो. ए.बी. कीथ ने स्पष्ट माना है कि माण्डूक्य कारिकाओं पर बौद्ध धर्म के शून्यवादी सिद्धान्तों का प्रभाव है— "There is no doubt that this work (कारिका) of which the first part deals with the short Mandukya Upanisad is strongly influenced by the nihilistic School of Buddhism." (p. 476)

४३. प्रो. ए.बी. कीथ लिखते हैं कि वेदान्त सूत्रों के रचयिता बादरायण शंकर के मायावाद के पोषक नहीं थे— "What does seem clear is that Badarayana was not a believer in the illusion doctrine of Shankar's School." (p. 475)

४४. कीथ यह स्वीकार करता है कि शंकर की युक्ति बड़ी प्रबल है, किन्तु वह यह भी कहता है कि उसने बादरायण के मूल सिद्धान्त को गलत रूप में पेश किया है— "Shankar's dialectical skill is great but he doubtless misrepresents Badrayana." (p. 477) इस प्रसंग में श्री अरविंद का निम्न लेख भी विचारणीय है— "साधरणतया वेदान्त, शब्द को कट्टर अद्वैतवाद और माया के उस विशिष्ट सिद्धान्त को जिसे शंकर की उच्च और तापस बुद्धि ने स्थापित किया था, एक ही समझ लिया जाता है। किन्तु उपनिषदें ही वेदान्त के मूल ग्रन्थ हैं न कि शंकर का उन पर तथा वेदान्तदर्शन पर लिखा भाष्य।" अदिति ६ठी कला।

४५. शंकर दिग्विजय (माधवाचार्य) पर आनन्द गिरि की टीका—

अध्याय २६।

४६. पद्मपाद, सुरेश्वर, हस्तामलक तथा तोटक।

४७. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित्र-भूमिका।

४८. वही

४९. सात्वस्मिन् परम प्रेम रूपा। सूत्र २

५०. यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति। सूत्र ४

५१. यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमेत नोत्साही भवति। सूत्र ५

५२. यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। सूत्र ६

५३. सा परानुरक्तिरीश्वरे १।१।२

५४. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित्र-भूमिका

५५. ये शूद्राः भगवद्भक्ता विप्रा भागवता स्मृताः।

सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्दन" अर्थात्— जो भगवान के भक्त शूद्र हैं वे ही वास्तव में विप्र हैं, किन्तु जो जनार्दन के भक्त नहीं हैं वे ही शूद्र कहलाने योग्य हैं।

"यश्चण्डालोऽपि रामेति वाचं वदेत् तेन सह संवदेत् तेन सह संवसेत् तेन सह संभुंजीयात्" (रामचरितमानस की श्री रामचरणदास कृत टीका में उद्धृत) अर्थात् यदि चाण्डाल भी राम नाम लेता है तो उसके साथ

वार्तालाप, निवास तथा भोजन करना चाहिए।

५६. द्रष्टव्य— पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखित 'कबीर'।

५७. द्रष्टव्य— लाला लाजपत राय की पुस्तक 'दुखी भारत' में प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रकरण।

५८. द्रष्टव्य— सत्यार्थप्रकाश का ११ वाँ समुल्लास तथा सत्यार्थप्रकाश के आदिम (१८७५ में प्रकाशित)

संस्करण का यही समुल्लास

५९. माइकेल मधुसूदन दत्त ने बंगला में मेघनाद बध जैसा उत्कृष्ट महाकाव्य लिखा है।

६०. दिल्ली कालेज में गणित का प्राध्यापक।

६१. प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय संस्कृत विद्वान्।

६२. इसका कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि हिन्दू पुराणों में जो कथा कहानियाँ तथा

अवतार चरित्र वर्णन हुए हैं, वे नैतिकता के किसी उच्च आदर्श को नहीं बतलाते।

१ लेखक का प्रयोजन

अर्वाचीन भारतीय धर्म-सुधारकों में ऋषि दयानन्द का नाम अन्यतम है। उन्होंने पुरातन वैदिक धर्म की पुनः स्थापना का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। मध्यकालीन युग में धर्म के नाम पर जिन मिथ्यावादों का प्रचलन हो गया था और जिनके कारण सम्पूर्ण भारतीय हिन्दू समाज में अवसाद, निष्क्रियता तथा जड़ता छा गई थी उसे दूर कर धर्म के मौलिक स्वरूप को प्रकट करना उनका प्रमुख लक्ष्य रहा। ऋषि दयानन्द के धर्म-संशोधन का कार्य द्विविध प्रवृत्तियों का अनुसरण करता है। सर्वप्रथम वे धर्म के वास्तविक प्राकृत स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं और उसके अनन्तर धर्म के नाम पर प्रचलित विभिन्न बाह्याडम्बरोँ और पाखण्डों के पुंज स्वरूप मत-मतान्तरों की आलोचना में प्रवृत्त होते हैं। प्रत्येक धर्म-संशोधक को इन दोनों प्रवृत्तियों का सहारा लेना ही पड़ता है। धर्म के विधेयात्मक स्वरूप की रूपरेखा निश्चित करने के अनन्तर उसके लिए यह भी आवश्यक हो जाता है कि धर्म के नाम पर प्रचलित जो नाना कुसंस्कार, अन्धविश्वास और रूढ़िबद्ध धारणायें हैं, उनके माया-जाल से जनसमाज को मुक्त किया जाय। पुरातन कालीन सभी संस्कारकों ने यह कार्य किया। बुद्ध ने अपने आचार-प्रधान धर्म का उपदेश तो दिया ही, साथ ही वे तत्कालीन ब्राह्मण-धर्म में उत्पन्न हुए विकारों की कटु आलोचना करने से भी विरत नहीं हुए। शंकर ने वाममार्गी, कापालिकों और जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायों का जो कटु खण्डन किया है वह किसी भी जानकार से छिपा नहीं है।^१ कबीर से लेकर राममोहन राय तक के धर्म सुधारकों में यही प्रवृत्ति स्पष्टतया लक्षित होती है।

सत्यार्थप्रकाश की रचना

ऋषि दयानन्द ने अपने सिद्धांतों और मान्यताओं के स्पष्टीकरण हेतु जो बृहद् साहित्य निर्मित किया, उनमें सत्यार्थप्रकाश अन्यतम है। इसके चौदह समुल्लासों का वर्गीकरण और ग्रन्थ के पूर्वाद्ध में मानव मात्र के आचरणीय धर्म की विस्तृत मीमांसा तथा

१. द्रष्टव्य : माधवाचार्य लिखित 'शंकर-दिग्विजय' का यह श्लोक—

शाक्तेः पाशुपतेरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवैः ।

रण्यनैरखिलैः खिलं खलु खलैर्मतादिभिर्वैदिकम् ।।

मार्गं रक्षितुमुग्रवादि विजयं नो मानहेतोर्व्यधात् ।

सर्वज्ञो न यतोऽस्य सम्भवति सम्मानग्रहग्रस्तता ।।

चार समुल्लासों में भारतवर्षीय तथा अन्य देशस्थ मत-सम्प्रदायों की आलोचना यह सिद्ध करती है कि वे अपने इस कर्तव्य की प्रति पूर्णतया जागरूक थे तथा यह भी मानते थे कि एक धर्म-संशोधक के नाते उन्हें मत-मतान्तरों की समीक्षा-रूपी कठोर किन्तु आवश्यक कर्तव्य का पालन करना है।

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम प्रकाशन १८७५ ई० में^१ मुरादाबाद निवासी राज जयकृष्णदास की प्रेरणा से हुआ।^२ उस समय शीघ्रतावश सत्यार्थप्रकाश के केवल बारह समुल्लास ही प्रकाशित हो पाये थे। कालान्तर में जब इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने की योजना बनी, तो स्वामी जी ने समग्र रूप से ग्रन्थ का संशोधन एवं परिवर्धन किया। प्रथम संस्करण में लेखकों के प्रमाद तथा प्रूफ शोधन आदि की भूलों के कारण कई ऐसी बातें भी छप गईं जो स्वामी जी के अभीष्ट के प्रतिकूल थीं। अपने अत्यधिक व्यस्त जीवन के कारण स्वामी जी सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण का आद्योपान्त परिष्कार नहीं कर सके थे। उनकी मातृभाषा भी गुजराती थी और तब तक उन्हें आर्य भाषा (हिन्दी) का विशेष अभ्यास भी नहीं था, अतः ग्रन्थ की भाषा और शैली में भी सौष्ठव नहीं आ सका।^३

परन्तु द्वितीय संस्करण में इन सभी न्यूनताओं का परिष्कार करने की चेष्टा की गई। प्रायः शंका की जाती है कि सत्यार्थप्रकाश में खण्डन-मण्डन के समुल्लासों का लेखन क्यों आवश्यक था? क्या लेखक के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं था कि वह धर्म के वास्तविक स्वरूप-सत्य अर्थ का प्रकाशन करके ही अपनी लेखनी को विराम देता, इसी में सत्यार्थप्रकाश की सार्थकता होती। क्या उसके लिये एतद्देशीय तथा अन्य देशोत्पन्न मत-मतान्तरों की कठोर एवं आक्रामक आलोचना से विरत होना उचित नहीं होता? स्वामी जी को भी इस प्रकार के आक्षेपों की पूर्ण आशंका थी। फलतः उन्होंने स्वयं ही ग्रन्थ की भूमिका में मत-मतान्तरों की आलोचना में निहित अपनी तटस्थ किन्तु सारग्राहिणी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए लिखा है— “मेरा इस ग्रन्थ को बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना लिखना और मानना सत्य कहाता है।”^३

मत-मतान्तरों की समालोचना में स्वामी दयानन्द पूर्णतया पूर्वाग्रह-मुक्त दृष्टिकोण लेकर प्रवृत्त हुये थे। वे यह अनुभव करते थे कि वैदिक धर्म के दिव्य आलोक से जो मत एवं सम्प्रदाय जितने दूर चले गये हैं, मानव जाति को पथभ्रष्ट करने में वे उतने ही सक्षम

१. यह ग्रन्थ मुन्शी हरिवंशलाल द्वारा स्टार प्रेस, बनारस में मुद्रित हुआ था।

२. द्रष्टव्य—सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका—द्वितीय संस्करण।

३. सत्यार्थप्रकाश-भूमिका।

हैं। इस प्रकार ईसाइयत और इस्लाम, जहाँ पैगम्बरवाद, स्वर्ग-नरक की मिथ्या कल्पनाओं तथा अनेक प्रकार के विद्या विरुद्ध, विज्ञान विरुद्ध एवं तर्करहित मतवादों का एक पुंज मन्त्रि रह गये हैं वहाँ भारत में ही उत्पन्न बौद्ध और जैन धर्म में आस्तिक भावना से शून्य वेद-विरोधी सिद्धान्तों का ही बाहुल्य है। और तो और; जो शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में वेद-प्रामाण्य को स्वीकार भी करते हैं वे भी वेदों की अमल धवल पावन एवं लोक कल्याणकारी शिक्षाओं से बहुत दूर हट चुके हैं। अतः सत्यार्थप्रकाशकार के लिये सैमेटिक मतों का खण्डन जितना आवश्यक था, उतना ही आर्यावर्त-देशोत्पन्न साम्प्रदायिक अभिनिवेश को चतुर्दिक् फैलाने के लिए उत्तरदायी मत-पन्थों का निराकरण भी अनिवार्य था। इसी देश के करोड़ों लोगों द्वारा अभिमत विभिन्न सम्प्रदायों और मतों का निस्संकोच भाव से खण्डन कर स्वामी दयानन्द ने जहाँ अपनी पक्ष पातशून्य दृष्टि का परिचय दिया, वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया कि धर्म-संशोधक के लिये खण्डन-मण्डन का कार्य, चाहे वह कितना ही अग्रिय क्यों न हो, अवश्यमेव करणीय होता है। शंकर से लेकर राममोहन राय तक के धर्म-सुधारकों में भी यही प्रवृत्ति स्पष्टतया लक्षित होती है।

इस प्रसंग में स्वामी जी लिखते हैं— “यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ— तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मत वालों के साथ भी वर्तता हूँ.... ..क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा हानि और बंद करने में तत्पर होते हैं वैसे ही मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं।”

स्वामी दयानन्द ने अपनी भूमिका में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि किसी ग्रन्थ का अध्ययन करते समय वाक्यार्थ बोध के लिये आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य का जानना आवश्यक है। लेखक अपने जिस अभिप्राय को स्पष्ट करना चाहता है, वही उसके वाक्यों से स्फुट हो, यह आकांक्षा कहलाती है। जिस शब्द में जिस अर्थ को प्रकट करने की शक्ति होती है, वह योग्यता है। जिस पद का जिस अन्य पद से संबंध होता है उसे उसके समीप रखना या बोलना आसत्ति कहलाती है। वक्ता या लेखक के अभिप्राय को ही उसके लेख या कथन से निकालना ‘तात्पर्य’ कहलाता है, क्योंकि लेखक के अभिप्राय से विरुद्ध तात्पर्य निकालना सर्वथा अन्याय पूर्ण है।

सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध के लेखन में स्वामी जी को पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा था। उन्होंने उपदेशक अवस्था में आने से पूर्व व्यापक देशाटन, भ्रमण, मत-मतान्तरों

एवं सम्प्रदायों-पंथों के विभिन्न रूपों का दर्शन, विभिन्न पूजा-उपासना-प्रणालियों के सम्यक आलोचन तथा धार्मिक ग्रन्थों के विपुल अध्ययन के द्वारा धर्म के नाम पर प्रचलित विश्वासों की यथार्थता को जान लिया था। वे यह भी अनुभव करते थे कि धर्मालोचन तथा मत-समीक्षण का कार्य पर्याप्त कंटकाकीर्ण होता है इसलिये सत्यार्थप्रकाश की भूमिका को समाप्त करते-करते उन्होंने यह भी आशंका प्रकट की है कि इस ग्रन्थ को देखकर अविद्वान् लोग अन्यथा ही विचारेंगे। परन्तु उन्हें मानव के विवेक पर भी पूर्ण विश्वास था। अतः वे यह भी लिखने से नहीं चूके कि बुद्धिमान् लोग यथायोग्य इसका (ग्रन्थ का) अभिप्राय समझेंगे।

इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश जैसे धार्मिक विश्व-कोश की रचना में निहित अपनी धारणा को स्पष्ट करने के अनन्तर ही स्वामी दयानन्द ने ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में विभिन्न आध्यात्मिक, सामाजिक, पारिवारिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय एवं दार्शनिक प्रश्नों की मीमांसा की। ईश्वर और उसका स्वरूप,^१ बालकों की शिक्षा, अध्ययन^२ और पालन,^३ गार्हस्थ्य जीवन और उसकी आनुषंगिक समस्याएँ,^४ वानप्रस्थ और परिव्राजकों के कर्तव्य,^५ राजा और प्रजा के अन्योन्याश्रित धर्म,^६ वेद और उसकी सार्वभौम शिक्षाएँ,^७ सृष्टि-उत्पत्ति विषयक दार्शनिक चिन्तन,^८ बंधन और मोक्ष का रहस्य^९ तथा आचार, अनाचार भक्ष्याभक्ष्य^{१०} जैसे लौकिक विषयों का प्रसंगोपात्त विवेचन करने के अनन्तर स्वामी जी ने वैदिक धर्म से इतर मत-मतान्तरों की समीक्षा के गुरुतर कार्य के लिये लेखनी उठाई।

एकादश समुल्लास की अनुभूमिका—

खण्डन-मण्डन-प्रधान प्रत्येक समुल्लास के प्रारम्भ में स्वामी जी ने पृथक्-पृथक् अनुभूमिकाएँ लिखी हैं जिनमें उन्होंने तत्-तत् मत-सम्प्रदाय की समीक्षा के विषय में अपने दृष्टीकोण को स्पष्ट किया है। एकादश समुल्लास में आर्यावर्त्त (भारतवर्ष) में जन्मे मतों की आलोचना निबद्ध हुई है, अतः यह आवश्यक था कि वे इस अनुभूमिका में, अपने एतद्विषयक आलोचनात्मक दृष्टीकोण को व्यक्त करते। लेखक की यह धारणा है कि महाभारत के युद्ध से पूर्व न केवल इस देश में अपितु अन्य देशों में भी वैदिक रीति नीति का ही प्रचलन था और वेदोक्त मान्यताओं को स्वीकार कर संसार के सब देशवासी परस्पर मैत्री और बन्धुत्व भाव में आबद्ध थे। महाभारत का प्रचण्ड युद्ध मानों आर्य संस्कृति के विनाश का दूत बनकर आया। कौरवों-पाण्डवों के गृह-कलह ने दोनों ओर के वीर पुरुषों का तो विनाश किया ही, उससे आर्य धर्म के प्रवक्ता ऋषि, मुनि धराधाम से लुप्त हो गये। क्षत्रियगण निर्वीर्य, कदर्य और भीरु बन गये। ऐसी स्थिति में अज्ञान और अविद्या

१. समुल्लास प्रथम २. समुल्लास द्वितीय ३. समुल्लास तृतीय ४. समुल्लास चतुर्थ ५. समुल्लास पंचम
६. समुल्लास षष्ठ ७. समुल्लास सप्तम ८. समुल्लास अष्टम ९. समुल्लास नवम १०. समुल्लास दशम।

के वशवर्ती होकर नाना भ्रान्त मतों का प्रचलित हो जाना स्वाभाविक ही था।

लेखक ने वेद विरुद्ध मतों को मोटे तौर पर चार वर्गों में विभाजित किया है और अपनी अनुप्रासप्रियता के कारण उन्हें पुराणी,^१ जैनी,^२ किरानी^३ और कुरानी^४ का नाम दिया। वेदोक्त सिद्धान्तों को विस्मृत किये जाने के परिणामस्वरूप तंत्र एवं पुराणाश्रित जो मत-पंथ भारत में उत्पन्न हुए उन्हें पौराण मत कहना ही समीचीन था। इन वेद विरुद्ध मतों के भेद-प्रभेद इतने अधिक हैं कि उनको ठीक प्रकार से गिनना भी सम्भव नहीं है, किन्तु स्वामी जी ने वाम मार्ग, शैव, वैष्णव, निर्गुण मत आदि अवान्तर मत-सम्प्रदायों का विशद विवेचन और परीक्षण कर यह स्पष्ट कर दिया कि ये सभी मत-पन्थ वैदिक धर्म के विकारमात्र ही हैं, जिन्होंने अपने संकीर्ण मत-विश्वासों और बाह्याडम्बरो से धर्म के वास्तविक रूप को छिपा दिया है।

स्वामी जी ने 'अनुभूमिका' में अत्यन्त विनम्रतापूर्वक यह लिख दिया है कि अपनी विद्या, बुद्धि और स्वाध्याय के बल पर ही जैसा उनको इन आर्यावर्तीय मत मतान्तरों का बोध हुआ, वैसा सबके आगे निवेदित कर दिया। लेखक की विनम्रता और आलोचना में निहित उसकी सदाशयता और पक्षपातहीनता इन शब्दों में स्पष्ट ध्वनित होती है—“इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें। क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि या विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का है।” उनकी दृष्टि में मनुष्य जन्म की सार्थकता इसी में है कि हम सत्यासत्य का निर्णय करें न कि व्यर्थ के वाद-विवाद द्वारा विरोध बढ़ाये। परन्तु साथ ही उनकी यह भी दृढ़ धारणा थी कि “जब तक इस मनुष्यजाति में परस्पर मिथ्या मत-मतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तब तक अन्योन्य को आनंद न होगा।” अतः वे सर्वशक्तिमान् परमात्मा से यह प्रार्थना कर अपने प्राक्कथन को समाप्त करते हैं कि वह (परमात्मा) एक मत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों की आत्माओं में प्रकाशित करे।

विशेष पठनीय—

१. विश्वधर्म कोश-सत्यार्थप्रकाश— डा. भवानीलाल भारतीय
२. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास— पं. युधिष्ठिर मीमांसक

१. तंत्रों और पुराणों पर आश्रित नवीन मत सम्प्रदाय।

२. इसके अन्तर्गत चार्वाक, बौद्ध आदि अवैदिक मतों की भी गणना हो सकती है।

३. ईसाइयत के अतिरिक्त यहूदी मत भी इसमें सम्मिलित है।

४. कुरान को प्रमाण मानने वाला इस्लाम।

२ आर्यावर्त का प्राचीन गौरव

भारतीय धर्माचार्यों में स्वामी दयानन्द ही प्रथम महापुरुष थे जिन्होंने धर्म, अध्यात्म और दर्शन जैसे महत्त्वपूर्ण पारलौकिक विषयों की चर्चा करते हुए भी राष्ट्रीय गौरव और देशभिमान का सर्वत्र ओजस्विनी वाणी एवं स्फूर्त उच्छ्वासपूर्ण शैली में उल्लेख किया। आर्यावर्तीय मत-मतान्तरों के खण्डन-मण्डन के विषय को आरम्भ करने से पूर्व वे स्वदेश-गौरव का आख्यान करने में प्रवृत्त हुए। उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की कि आर्यावर्त के तुल्य समस्त भू-मण्डल पर कोई अन्य देश नहीं है। धन धान्य और वैभवपूर्ण भारत भूमि को अन्य देशवासी 'स्वर्ण-भूमि' के नाम से जानते थे। यहाँ लेखक ने एक और ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख किया है और वह है आर्यों का आर्यावर्त में आदिम निवास। पाश्चात्य विद्वानों ने यह प्रवाद प्रचलित किया था कि आर्य भारत के मूल निवासी नहीं हैं। उनका मूल निवास स्थान अन्यत्र ही था। सामान्यतया यूरोपीय विद्वानों के अनुसार आर्य जाति मध्य एशिया में किसी स्थान पर रहती थी और वहाँ से आब्रजक, प्रवासी और घुमन्तू जातियों की भाँति वह भारत के उत्तरी भाग में (जिसे उन्होंने सप्त-सिन्धु प्रदेश कहा है तथा जो आज का पश्चिमी सीमाप्रान्त (पाकिस्तान) तथा पंजाब (पूर्वी और पश्चिमी) है) ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व ही प्रविष्ट हुई। आर्यों के मूल निवास स्थान के संबंध में विद्वानों में विभिन्न मतवाद प्रचलित हैं। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने ऋग्वेद के कतिपय मंत्रों की ज्योतिषपरक व्याख्या करते हुए आर्यों का मूल निवास उत्तरी ध्रुव प्रदेश बताया था^१। श्री अविनाशचन्द्र दास जैसे विद्वानों ने उसका सोपपत्तिक खण्डन अपने 'ऋग्वैदिक इण्डिया' ग्रन्थ में किया है।

पश्चिमी विद्वानों ने न केवल आर्यों के अन्य स्थानों से भारत आगमन को ही सिद्ध करना चाहा अपितु इस बात का भी प्रतिपादन किया कि उनके आने से पूर्व यहाँ द्रविड़ नाम की एक अन्य सभ्य जाति निवास करती थी, जिसका सम्पूर्ण विनाश कर आर्यों ने अपनी सभ्यता का विस्तार किया। उनके अनुसार द्रविड़ लोग रंग में काले, चपटी नाक वाले, बड़े-बड़े भवनों और दुर्गों का निर्माण करने वाले तथा लिंग पूजक (शिश्नदेवा) थे। इस प्रकार आर्य-द्रविड़ संघर्ष की निराधार कल्पना कर विदेशी विचारकों ने आर्यों

१. द्रष्टव्य— लोकमान्य तिलक लिखित *The Arctic Home in the Vedas*.

को भी अन्यान्य यूरोपीय जातियों की ही भाँति भारत में अन्य स्थान से आने वाला सिद्ध करने का निष्फल प्रयास किया। ऐसा करने में देश के गौरांग शासकों की कूटनीतिपूर्ण दुरभिसंधि भी कार्य कर रही थी। शायद अंग्रेज शासकों की यह परिकल्पना थी कि यदि आर्य लोग ही इस देश के मूल निवासी सिद्ध न किये जा सकें तथा उन्हें आक्रमणकारी के रूप में प्रस्तुत किया जाय तो इससे उनका भारत में आकर स्वत्व स्थापित करना किसी न किसी रूप में औचित्यपूर्ण सिद्ध किया जा सकेगा और वे कह सकेंगे कि भारतवासियों का स्वराज्य प्राप्त करने हेतु चेष्टा करना व्यर्थ है, क्योंकि उनके पूर्वज आर्य भी तो कुछ शताब्दियों पूर्व उन्हीं की भाँति (आक्रमणकारी परकीय जाति की भाँति) सप्त सिन्धु प्रदेश में प्रविष्ट हुये थे— उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों को धुर दक्षिण में भगाकर अपना अधिकार जमा लिया था।

सत्यार्थप्रकाश के लेखक की विचक्षण दृष्टि ने विदेशी शासकों की इस आपत्तिजनक कल्पना का निरास करना आवश्यक समझा तथा उन्होंने सर्वप्रथम अत्यन्त प्रबल रूप में यह प्रतिदन किया कि आर्य ही आर्यावर्त के मूल निवासी हैं और उनके बाहर से आने की कल्पना पूर्ण निराधार है। इसी ग्रन्थ के अष्टम समुल्लास में भी स्वामी जी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सृष्टि के आरम्भ काल में मनुष्योत्पत्ति पृथ्वी के सर्वोच्च स्थल त्रिविष्टप (वर्तमान तिब्बत) में हुई तथा वहाँ से ही आर्यगण भूमण्डल के इस सर्वश्रेष्ठ खण्ड 'आर्यावर्त' में आये। उनका मूल निवास होने के कारण ही यह स्थल 'आर्यावर्त' के नाम से विख्यात हुआ।

'आर्य' और 'दस्यु' शब्द जातिवाचक न होकर गुणवाचक हैं। श्रेष्ठ, गुण, कर्म और स्वभाव को धारण करने वाले आर्य तथा निकृष्ट आचरणों वाले दस्यु नाम से अभिहित किये जाते हैं। इस प्रकार भारत के निवासी आर्यों के पुरातन गौरव तथा माहात्म्य को एक बार पुनः स्थापित कर सत्यार्थप्रकाश ने देशवासियों के राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा की।

भारतवर्ष सदा से भूमण्डल की समग्र मानव जाति का आदि गुरु रहा है। यहाँ के अग्रजन्मा ब्राह्मणों के चरणों में बैठकर ही पृथ्वी के समस्त मनुष्यों ने धर्म, अध्यात्म और चारित्र्य की शिक्षा ग्रहण की है। आचार्य मनु के शब्दों में—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः । । २ । २०

इसी आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों से भूगोल के मनुष्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि सब अपने-अपने योग्य विद्या, चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि स्वामी जी ने ब्राह्मण का अर्थ 'विद्वान्'

किया है न कि जन्मगत जाति का अभिमान करने वाला ब्राह्मण । दयानन्द की क्रान्तदर्शी विचारधारा के दर्शन इस ग्रन्थ में पदे-पदे होते हैं ।

स्वामी दयानन्द की ध्रुव धारणा थी कि सृष्टि के आरम्भ काल से लेकर पाँच हजार वर्ष पूर्व तक (अर्थात् महाभारत काल पर्यन्त) आर्यों का अखण्ड चक्रवर्ती, सार्वभौम साम्राज्य समस्त पृथ्वी-मण्डल पर रहा । महाभारत से भी आर्यों के सार्वभौम प्रभुत्व की सूचना मिलती है । महाराज युधिष्ठिर ने भगवान् कृष्ण के परामर्शानुसार जिस राजसूय यज्ञ का सम्पादन किया उसमें अन्य देशवासी राजा अपनी माण्डलिक सत्ता और स्थिति के अनुसार चक्रवर्ती सम्राट, युधिष्ठिर के प्रति सम्मान व्यक्त करने हेतु सम्मिलित हुये थे । उदाहरणार्थ, चीन के राजा भगदत्त, पाताल देश (अमेरिका) के शासक वभ्रुवाहन, यूरोप के विडालाक्ष एवं यूनान (ग्रवन) के शल्य का स्पष्ट उल्लेख महाभारत में मिलता है । रामायण कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करने से भी यही विदित होता है कि तत्कालीन रघुवंशी राजाओं का आधिपत्य समग्र पृथ्वी-मण्डल पर था ।

आर्यों की पुराकालीन सुदृढ़ राज-व्यवस्था, सम्पन्न आर्थिक स्थिति तथा समृद्ध संस्कृति के होने पर भी पाँच सहस्र वर्ष पूर्व महाभारत काल से ही उनका सार्वत्रिक अधःपतन होने लगा । इसके कारणों की मीमांसा करते हुए स्वामी जी ने लिखा है कि "इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता ।" आर्य जाति की पतनावस्था के कारणों की मीमांसा करते हुए लेखक ने आलस्य, पुरुषार्थहीनता, ईर्ष्या, द्वेष, विषयासक्ति, प्रमाद, विद्यानाश, दुर्गुण और दुर्व्यसनों की वृद्धि, मद्य-मांस सेवन, बाल विवाह, स्वेच्छाचारिता आदि को भारत की अधोगति के लिये उत्तरदायी ठहराया है । जिस देश में सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, कुवल्याश्व, यौवनाश्व, बद्धश्व, अश्वपति, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, ननक्तु, शर्याति, ययाति, अनरण्य, अक्षसेन, मरुत्त, भरत जैसे चक्रवर्ती राजा हुए उसकी सन्तान का अभाग्योदय से राजभ्रष्ट होकर विदेशियों से पादाक्रान्त होना कितना दुःखद है!

आर्यों ने प्राचीन काल में युद्ध-विद्या में अपार उन्नति और प्रगति की थी । संस्कृत में शताधिक ग्रन्थ ऐसे हैं जो सेना की साज-सज्जा, युद्ध-कौशल तथा रणनीति को लक्ष्य बनाकर लिखे गये हैं । उनमें जिन अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख है उनसे यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में अग्नि, वाष्प, वायु, जल, विद्युत आदि प्राकृतिक शक्तियों का विभिन्न प्रकार से उपयोग कर आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, तथा मोहनास्त्र जैसे अस्त्रों का आविष्कार किया गया था । आज जिन्हें तोप और बन्दूक कहते हैं उनके लिये संस्कृत भाषा में 'शतघ्नी' और 'भुशुण्डी' के नाम प्रचलित थे । मध्यकाल में जब आर्यों के पुरुषार्थ, पराक्रम और ज्ञान-विज्ञान का सार्वत्रिक ह्रास हुआ तो विभिन्न अंध विश्वासों ने जड़ जमाई । मिथ्या

तंत्र-मंत्रों का प्रचार हुआ और सामान्य लोग यह मानने लगे कि देवताओं को मन्त्रों से सिद्ध कर किसी भी शत्रु का अनिष्ट किया जा सकता है। लोकव्यापी इन मिथ्या धारणाओं का खण्डन कर स्वामी जी ने स्पष्ट किया कि 'मंत्र' का अर्थ है विचार। अर्थात् प्रत्येक क्रिया विचारपूर्वक-मंत्रपूर्वक ही की जाती है। अस्त्र-शस्त्र मंत्रों से चलाये जाते थे, इसका यह अर्थ नहीं है कि केवल कुछ शब्दों के उच्चारण कर देने मात्र से ही अस्त्र-शस्त्र अपना प्रभाव दिखलाने लगते थे अपितु इसका अभिप्राय यह है कि अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग भी विचारपूर्वक, प्रयोगकर्ता के विवेकानुसार होता था। इस प्रकार संकेत मात्र से ही लेखक ने आर्य जाति के विगतकालीन सावदेशिक प्रभाव और प्रभुत्व का निर्देशन किया है।

जब तक पश्चिमी विद्वानों को संस्कृत भाषा और उसके समृद्ध साहित्य का साक्षात् परिचय नहीं मिला था, तब तक वे यह स्वीकार करने के लिये कदापि तत्पर नहीं हुए कि भारत का अतीत काल भी समृद्ध और गौरवपूर्ण रहा है। परन्तु जब सर विलियम जोन्स तथा उनके समकालीन और परवर्ती अन्य यूरोपीय विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन किया तथा गीता, मनुस्मृति एवं वैदिक साहित्य से परिचित हुए तो मानो उनके नेत्रों के आगे से परदा उठा गया। उन्होंने संस्कृत की भाषागत समृद्धि को स्वीकार किया तथा उसे ग्रीक और लैटिन से भी उत्कृष्ट एवं परिपूर्ण बताया। धीरे-धीरे पश्चिमी विपश्चितों में वैदिक साहित्य के अध्ययन, अन्वेषण और संस्कृत वाङ्मय की व्यापक खोज की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। स्वामी जी ने जिस काल में भारतीय सांस्कृतिक जागरण का कार्य आरम्भ किया, उसी समय यूरोप में भी प्रो० मैक्समूलर एवं प्रो० मोनियर विलियम्स जैसे संस्कृतज्ञ मनीषी प्राच्यविद्याओं के क्षेत्र में कार्य कर रहे थे। भारत में भी इन संस्कृतप्रेमी विद्वानों को लेकर नाना प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचार पा रही थीं। वस्तुतः पाश्चात्यों द्वारा संस्कृत-अध्ययन एक दृष्टिकोण-विशेष को ध्यान में रखकर ही किया जाता था। वे भारतीय धर्म और सभ्यता के प्रशंसक नहीं थे, अपितु ईसाई मत के प्रति अपने पूर्वाग्रह तथा शासक जाति से सम्बन्धित होने के कारण यदा-कदा उन्होंने भारतीय साहित्य और संस्कृति की आलोचना करते हुए आर्य विचारधारा और जीवन-पद्धति को आदिम, बर्बर तथा अविकसित

१. निम्न आचार्यों ने यंत्र विद्या पर संस्कृत में ग्रन्थ-रचना की थी-

नारायण, शौनक, गर्ग, वाचस्पति, चाक्रायणि, धुण्डिनाथ, विश्वनाथ, गीतम, तल्ल, विश्वम्भर, अगस्त्य, बुडिल, गोभिल, शाकटायन, अत्रि, कपर्दि, गालव, अग्निमित्र, वाताप, साम्ब, बोधायन, भरद्वाज, सिद्धनाथ, ईश्वर, आश्वलायन, व्यास, पराशर, अंगिरा, विरूप, वसिष्ठ, जैमिनि, आपस्तम्ब, नारद, वाल्मीकि। यन्त्र विद्या का मूल वेद में है, यह बोधायन के निम्न प्रमाण से ज्ञात होता है-

निर्मय तद्बोधाब्धि भरद्वाजो महामुनिः।

नवनीतं समुद्धृत्य यन्त्रसर्वस्व रूपकम्।।

ही सिद्ध किया।

स्वामी दयानन्द का कार्यक्षेत्र यद्यपि भारत ही था, परन्तु वे यूरोप में होने वाले संस्कृत और वैदिक अध्ययन पर भी अपनी सतर्क दृष्टि रखे हुए थे। उन्होंने भारतवासियों में प्रचलित इस अतिशयोक्तिपूर्ण धारणा का सप्रमाण खण्डन किया कि प्रो० मैक्समूलर जितने बड़े संस्कृतज्ञ हैं उतना अन्य कोई नहीं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान के पल्लवग्राही पाण्डित्य को देखकर उन्हें 'यस्मिन् देशे द्रुमो नास्ति तत्रैऽरण्डोऽपि द्रुमायते' वाली उक्ति का स्मरण हो आया। स्वामी जी ने तो जर्मन देशवासी एक प्राचार्य के पत्र से यह भी जान लिया था कि संस्कृत के जिस व्यापक अध्ययन और प्रचार की बात वहाँ के लिए कही जाती है, वह सर्वांश में सत्य नहीं है। जर्मनी में तो संस्कृत पत्र का अर्थ कर देने वालों की संख्या भी नगण्य हैं। उसी समय मैक्समूलर ऋग्वेद के सायण भाष्य का सम्पादन और अंग्रेजी अनुवाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आर्थिक साहाय्य से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित करा रहे थे। स्वामी जी ने भी मैक्समूलर कृत वेदार्थ का अवलोकन किया और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि इस विदेशी वेदज्ञ की वेद में नितान्त अल्प गति है।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः।

रोचन्ते रोचना दिवि।। ऋग्वेद १।६।१

उपर्युक्त मंत्र की व्याख्या करते हुए प्रो० मैक्समूलर ने मंत्र में प्रयुक्त 'ब्रध्न' शब्द का अर्थ 'घोड़ा' किया जबकि वास्तविक रीति से देखा जाय तो उपासनापरक होने के कारण इस शब्द का अर्थ 'परमात्मा' ही लेना उचित है। 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में आलोच्य मन्त्र को प्रस्तुत करते हुए स्वामी जी ने इस मन्त्र के आध्यात्मिक (उपासना परक), आधिदैविक (ब्रह्म का अर्थ आदित्य करते हुए) तथा प्राणपरक अर्थ भी किये हैं तथा अपने अर्थों के प्रमाण में निघण्टु^१ शतपथ ब्राह्मण^२ तथा प्रश्नोपनिषद्^३ के प्रस्तुत किया है यद्यपि निघण्टु में एक स्थान पर 'ब्रध्न' का अर्थ अश्व भी किया है किन्तु प्रस्तुत मन्त्र में यह अर्थ ग्रहण करना समीचीन नहीं है। आचार्य सायण ने भी मन्त्र का पारमार्थिक अर्थ न लेकर 'ब्रध्न' का तात्पर्य 'आदित्य' ग्रहण किया जो एकदेशीय ही माना जायगा। इस एक उदाहरण से ही स्वामी जी ने यूरोपीय वेदज्ञों की वेद विद्या के अधूरेपन को स्पष्ट कर दिया।

वस्तुतः जिन पश्चिमी विद्वानों ने पूर्वाग्रहमुक्त दृष्टि से भारतीय साहित्य का अवगाहन किया वे तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि समस्त विद्याओं और विज्ञानों का आदि स्रोत वेद ही है तथा समस्त संसार में ज्ञान का प्रचार भारत से ही हुआ। फ्रांसीसी विद्वान् जैकालियट रचित 'बाइबिल इन इण्डिया' (Bible in India) का उद्धरण देते हुए लेखक

१ अ. ३। खं. ३। २. का. १३। अ. २। ६। १। ३. प्रश्न. १। मन्त्र ५

ने भारत को सम्पूर्ण विद्याओं का मूल स्वीकार किया है। उपनिषदों में प्रतिपादित भारतीय अध्यात्म विद्या पर मुगल सम्राट् शाहजहाँ का बड़ा पुत्र युवराज दाराशिकोह इतना मुग्ध हुआ कि उसने उपनिषद् वाङ्मय के एक बृहद् अंश का फारसी में रूपान्तर किया। केवल दर्शन और अध्यात्म में ही नहीं, अपितु खगोल, भूगोल और ज्योतिष आदि भौतिक-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में भी भारतीयों ने असाधारण उन्नति की थी। जयपुर के महाराजा सवाई मानसिंह ने काशी, जयपुर, दिल्ली और उज्जैन आदि स्थानों में ज्योतिष की जो वेधशालाएँ बनवाई, वे इस बात का प्रमाण हैं कि मध्यकाल की अवनतिपूर्ण दशा में भी, भारत ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति की थी।

इस प्रकार आर्यावर्त के अतीतकालीन गौरवपूर्ण इतिवृत्त का संकेत-मात्र से दिग्दर्शन कराने के पश्चात् स्वामी जी ने उसकी वर्तमानकालिक अधोगति के कारणों की मीमांसा की। वस्तुतः महाभारतकालीन युद्ध ही देश के सार्वत्रिक अधःपतन का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुआ। पारस्परिक फूट और कलह ने देश में विनाश के बीज बोये। कौरव-पाण्डवों के गृह कलह में देश के प्रबुद्ध वर्ग के सहस्रों व्यक्ति काम आये। अद्वितीय वीर, अपूर्व मेधा-सम्पन्न ऋषि-मुनि मारे गये। देश की राजनीतिक एकता छिन्न भिन्न हो गई। समाज के नेता, अग्रगन्ता और मुखिया ब्राह्मण विद्याभ्यास को छोड़ बैठे। संस्कृत-अध्ययन केवल पुरोहिताई के लिए ही रह गया। जीविका मात्र के लिये ही कर्म काण्ड की शिक्षा दी जाने लगी। ब्राह्मण जब गुणहीन, विद्याहीन और नेतृत्व की योग्यता से शून्य हो गये तो उन्होंने अपनी वस्तुस्थिति से अन्य वर्णों के लोगों को अपरिचित रखना ही श्रेयस्कर समझा। ब्राह्मणों के मिथ्या माहात्म्य के श्लोक रचे गये। 'ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः' जैसी उक्तियाँ गढ़ी गई और ब्राह्मणोत्तर वर्णों को अपने जाल में सदा सर्वदा के लिए फंसाये रखने का षड्यंत्र हुआ। जब ब्राह्मण ही कर्तव्यच्युत होकर समाज व्यवस्था के सन्तुलन को बिगाड़ने के कारण बने तो क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के अधःपतन की कोई सीमा ही नहीं रही। वर्णव्यवस्था, जो शास्त्रकारों ने गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर निर्धारित की थी— अब जन्ममात्र से मानी जाने लगी। वेदपठन-पाठन, यजन-याजन आदि कर्मों को छोड़कर दान ग्रहण करना मात्र ही ब्राह्मणों का कर्तव्य रह गया। यहाँ तक कि मृतक का दान ग्रहण करने में भी कोई संकोच नहीं रहा। ब्राह्मणों ने अपने आपको 'भूदेव' कह कर गौरवान्वित तो करना चाहा परन्तु उनके लक्षण दानवों और राक्षसों जैसे हो गये। 'ब्रह्म द्रोही विनश्यति' जैसे कथनों को उद्धृत कर वे बार-बार शाप देने के लिए तत्पर होते परन्तु उनकी स्थिति उस निर्विष सर्प से अधिक भिन्न नहीं थी जिसकी फूटकार से अब किसी को भय नहीं होता।

स्वामी जी ने पेटार्थी, स्वार्थी एवं शोषण करने में तत्पर तथाकथित पुरोहित वर्ग को

पोप की संज्ञा से अभिहित किया है। पूर्वपक्षी के आपत्ति करने पर कि वे ब्राह्मण और साधुओं को 'पोप' क्यों कहते हैं, स्वामी जी ने ठीक ही लिखा कि जिस प्रकार ईसाइयों के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के धर्म गुरु पोप ने मध्यकालीन यूरोप में अपना प्रचण्ड आडम्बर फैला कर लोगों को ठगना आरम्भ किया और म्रियमाण व्यक्ति के लिए स्वर्ग में स्थान निश्चित करने हेतु आदेश-पत्र जारी करना प्रारम्भ किया था, उसी प्रकार भारत के ब्राह्मणों ने भी समाज के अन्य लोगों का सब प्रकार से शोषण करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। जब मार्टिन लूथर नामक एक जर्मन धर्म सुधारक ने पोप के इन कारनामों का भण्डाफोड़ किया तब यूरोपवासियों को धर्म के नाम पर प्रचलित भयंकर पाखण्डों का ज्ञान हुआ।

आज यूरोप में चाहे पोप का प्रभुत्व समाप्त हो गया हो परन्तु भारत में ब्राह्मण नामधारी पोपों की लीला सर्वत्र व्याप्त है। यद्यपि स्वामीजी ने आर्य-धर्म को इस प्रकार विकृत होने देने के लिए तथाकथित ब्राह्मण-वर्ग को ही उत्तरदायी ठहराया है, किन्तु वे उन सच्चे ब्राह्मणों के तो प्रशंसक ही हैं जो धार्मिक, विद्वान् और परोपकारी हैं। इतना ही नहीं, जिन त्यागी, तपस्वी और निष्ठावान् ब्राह्मणों ने अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वेदादि शास्त्रों की पूर्ण सुरक्षा की तथा पद, क्रम, घन, जटा, माला, स्वर, आदि विभिन्न पाठों के द्वारा सहस्राब्दियों से वेदों को यथावत् सुरक्षित रखा, उनके प्रति अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता ज्ञापित करना लेखक अपना पुनीत कर्तव्य मानता है। स्मृतियों में आये 'साधुर्न हन्तव्यः', 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' आदि वाक्य भी उन्हीं तपोधन, सर्वस्व त्यागी तथा धर्म के तत्त्वार्थ को जानने वाले ब्राह्मणों और साधुओं के लिये प्रयुक्त हुए थे न कि धूर्त, पाखण्डी और धर्म के नाम पर व्यवसाय करने वाले तथाकथित साधु एवं ब्राह्मणों के लिए।

जब ब्राह्मणेतर वर्णों में अविद्या और अज्ञान की वृद्धि हुई तो स्वार्थी ब्राह्मणों ने अपने अनुशासन का शिकंजा और भी कड़ा कर दिया। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि बिना तथाकथित ब्राह्मणों तथा उनके मनोकल्पित शास्त्रों की आज्ञाओं के लोगों का खाना, पीना, उठना, बैठना और सोना, जागना भी हराम हो गया। दैनिक कामों तथा धार्मिक कर्मकाण्ड की जटिलता बढ़ी तथा बात-बात में शास्त्र-प्रमाण की दुहाई दी जाने लगी।

धर्म और समाज में व्याप्त यह अधोगति एक दिन की उपज नहीं थी। इस विकृति का आरम्भ लेखक के अनुसार महाभारत काल से भी एक सहस्र वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो गया। यद्यपि धर्म के व्यवस्थापक ऋषि-मुनियों का उस समय पूर्णतया हास नहीं हुआ किन्तु लोगों में आलस्य, प्रमाद, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुणों के बीजों का वपन आरम्भ हो गया था।

१. स्वामी जी ने पूना के व्याख्यानों में मार्टिन लूथर की बड़ी प्रशंसा की थी।

तथ्य तो यह है कि जब तक समाज में जागरूक उपदेशकों और शिक्षकों की परम्परा स्थिर एवं निर्बाध गति से चलती रहती है, तब तक विघटन, जड़ता एवं अन्धविश्वास के कीटाणु बल नहीं पकड़ते। किन्तु जब दूरदर्शी दृष्टिकोण वाले उपदेशकों और नेतृत्व से समाज शून्य हो जाता है तभी अन्ध परम्परायें प्रवर्तित होने लगती हैं। महाभारत काल के बाद यही स्थिति आ गई थी। महाभारत की घटनाओं की सूक्ष्म पर्यालोचना करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ धर्म का तत्त्व जानने वाले भीष्म और द्रोण जैसे पुरुष भी अधर्म का पक्ष लेते हैं और 'अर्थस्य पुरुषो दासः' की दुहाई देते हैं, कर्ण और एकलव्य जैसे मेधावी और पुरुषार्थी व्यक्तियों का जन्मगत जाति के कारण तिरस्कार किया जाता है, धर्मराज कहलाने वाले युधिष्ठिर भी जुआ खेलते हैं और नारी की प्रतिष्ठा को भी दाँव पर लगाने में नहीं चूकते, उस समाज का विनाश सुनिश्चित ही था।

महाभारत की समाप्ति के पश्चात् देश में सर्वत्र निराशा, अवसाद और भ्रान्ति की अमा निशा छा गई। धर्म-ग्लानि, सामाजिक दुरवस्था और राजनीतिक अस्थिरता एवं अराजकता ने जिस स्वेच्छाचार और दुराचार को प्रोत्साहित किया उसका अवश्यम्भावी परिणाम आचार-विचार के भयंकर विनाश के रूप में हमारे सामने आया। विषयासक्ति, व्यभिचार और कदाचारों को धर्म के नाम पर प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और वैदिक धर्म के सार्वत्रिक पतन ने वाम मार्ग को जन्म दिया।

३. वाम मार्ग समीक्षा

वाम मार्ग की उत्पत्ति

जिस समय वैदिक धर्म का शुद्धतम रूप लुप्त हो गया, यज्ञों में माँस-विधान, पशु-हिंसा आदि का प्रचलन बढ़ा, धर्म के नाम पर मनुष्य अपनी इन्द्रियों के तुष्टीकरण में प्रवृत्त हुआ, उसी समय भारत में वाममार्गी उपासना पद्धति उत्पन्न हुई। मनुष्य की यह प्रवृत्ति है कि वह कठिनाई को त्यागकर सरलता का अनुसरण करना चाहता है। त्याग, तपस्या, वैराग्य, इन्द्रिय-निग्रह का मार्ग कठिन है। इसके विपरीत यदि यथेष्ट मात्रा में स्वैराचार करते हुए, इन्द्रियों के भोगों को भोगते हुए भी यदि मोक्ष का मार्ग हाथ आ जाय तो वह किसे अस्वीकार्य होगा? वाम मार्ग के प्रवर्तकों ने एक ऐसी साधना पद्धति का आविष्कार किया जिसका अनुसरण करने पर न तो इन्द्रियनिग्रह की आवश्यकता थी और न श्रुति-स्मृतिप्रोक्त धर्माचरण करने की। इन्द्रियों के स्थूल भोगों को भोगते हुए भी वाम मार्गी साधक मोक्ष को हस्तामलकवत् देखता था। पुनः ऐसा सीधा, सरल और ऋजु मार्ग उसके आकर्षण का केन्द्र क्यों न बनता? तभी तो महेन्द्र विक्रम वर्मा लिखत मत्तविलास नामक संस्कृत प्रहसन में एक वाम मार्गी कापालिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक भगवान् पिनाकपाणि शिव को आशीर्वाद देते हुए कहता है—

पेयासुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं,

ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः ।

येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म

दीर्घायुस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः । ।

अर्थात् जिस मोक्ष मार्ग में मदिरा सेवन की आज्ञा हो, प्रियतम भैरवी का मुख देखने की इजाजत हो, और सहज विकृत वेष धारण करना भी ग्राह्य हो, ऐसे सहज सुगम मोक्ष-मार्ग के द्रष्टा भगवान् शिव दीर्घायु प्राप्त करें। संस्कृत में 'प्रबोध चन्द्रोदय' की परम्परा के जितने नाटक हैं उनमें वाममार्ग का ऐसा ही चित्रण किया गया है।^१ वाममार्गी मत का यह विकृत और भ्रष्ट रूप केवल नाटककार की कल्पना की उपज ही नहीं है,

१. हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत भारत दुर्दशा तथा रुद्रदत्त शर्मा लिखित आर्यमत मार्तण्ड नाटक इसी प्रकार के हैं।

अपितु यह तत्कालीन तन्त्र निरूपित इस विकृत साधना-पद्धति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण पर आधारित है।

तान्त्रिकों ने अपनी साधना-प्रणाली को किस प्रकार भोग और मोक्ष का एक अद्भुत समन्वयकारी उपाय मान रक्खा था यह निम्न श्लोक में द्रष्टव्य है—

“यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो नहि तत्र भोगः ।

श्री सुन्दरीपूजनतत्परणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥”

अर्थात् जहाँ भोग है, वहाँ मोक्ष नहीं है और जहाँ मोक्ष-साधन हैं वहाँ भोग के लिये गुंजाइश नहीं है, परन्तु जो श्री सुन्दरी (शक्ति) के उपासक हैं उनके लिये भोग और मोक्ष करतलगत ही हैं। यह है तांत्रिक मत की विशेषता(?)। जहाँ न तो सांसारिक भोगों पर ही कोई पाबंदी है और न संयम, नियम और सदाचार के नियमों के पालने का कोई आग्रह। तभी तो एक व्यक्ति वाममार्ग के अनुयायियों की मुक्ति-कामना का उपहास करते हुए कहता है—

कौलिका मुक्तिमिच्छन्ति स्पष्टमेतम् विडम्बनम् ।

अर्थात् कौल मार्ग के अनुयायी भी मुक्ति की इच्छा रखते हैं, इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है?

“सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।”

सेवा-धर्म परम गहन है जो योगियों के लिये भी अगम्य है। यह बात तो हम अब तक सुनते रहे, परन्तु अब वाममार्ग के प्रशंसकों ने अपने मर्यादा-हीन, लोक एवं शास्त्रविरुद्ध कौल मार्ग की प्रशंसा में कहना आरम्भ किया है—

वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे चालि पात्रम् ।

अग्रे मुद्रा सरस बटकाः शूकरस्योश्न शुद्धिः । ।

पृष्ठे वीरा विविध विषया भोग भावैकभव्याः ।

कौलो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः । ।

अर्थात् वाम पार्श्व में संभोग में निपुण भैरवी विराजमान है और दक्षिण पार्श्व में मधु पात्र रक्खा है। आगे सरस बड़े और सूअर का मधुर मांस रक्खा है। पीछे की ओर विविध भोगों में निपुण वीर (कौल मार्ग के अनुयायी) विराजमान हैं। ऐसा अद्भुत कौल मार्ग अत्यन्त गहन और योगियों के लिए भी अगम्य है। वस्तुतः ऐसा भोगप्रधान मार्ग वामाचारियों के लिए ही प्रशस्त हो सकता है। यम नियमादि अष्टांग योग की साधना में दत्तचित्त राजयोगियों का भला उससे क्या प्रयोजन?

इन वाममार्गियों में सर्वश्रेष्ठ कौन माना जाता है?

हालां पिबेद्दीक्षितमंदिरेषु,
स्वपन्निशायां गणिकागृहेषु ।
गृहे-गृहे चर्वणमेव कुर्वन्,
विराजते कौलिकचक्रवर्ती ।।

अर्थात् जो मदिरालय में जाकर हाला पान करता है, तथा गणिका के घर में जाकर अपनी रात्रि व्यतीत करता है । जो घर-घर में जाकर यथेच्छ (पशु तुल्य) चरता रहता है, वही कौलों में चक्रवर्ती के तुल्य और प्रतिष्ठा का पात्र बनता है ।

मत्स्य-प्रिय वाममार्गियों का तो यह दावा है कि स्वयं भगवान् विष्णु ने मछली का अवतार उन लोगों की उदरदरी को भरने के लिए ही लिया था—

“कौलिकानां हितार्थाय मत्स्योभूद्भगवान् हरिः ।”

अब यह वैष्णवों के लिये विचार का स्थान है कि वे अपने पूज्य मत्स्यावतार को वामी लोगों के जठरानल का शिकार होते कैसे देख सकेंगे?

अन्यान्य मत-सम्प्रदायों की अपेक्षा अपने आपको श्रेष्ठ घोषित करने की परिपाटी तो वाममार्गियों में सदा से ही प्रचलित रही है, तभी तो वे कहते हैं—

वैष्णवादुत्तमं शैवं शैवाच्छाक्तमतोत्तमम् ।

शाक्तेषु कौला विज्ञेया कौलात् परतरं नहि ।।

अर्थात् वैष्णवों से शैव उत्तम हैं और शैवों से शाक्त (स्मार्त मतानुसार देवी के दक्षिणमार्गी भक्त) कहीं श्रेष्ठ हैं । शाक्तों में भी कौल (वाममार्गी) सर्वोत्तम हैं । कौलों से परे और कोई नहीं । परन्तु अपने आपको अन्य मतावलम्बियों से श्रेष्ठ मानने वाले इन तांत्रिकों में इतना नैतिक साहस कभी नहीं रहा कि समाज के समक्ष अपने वास्तविक रूप को लेकर आते । तभी तो उनके बारे में यह उक्ति सदा से प्रचलित रही है—

“अन्तः शाक्ताः बहिःशैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः ।

नाना रूपधरा कौलाः विचरन्तिः महीतले ।।”

जो भीतर से शाक्त हैं किन्तु बाह्यचारों से शैव प्रतीत होते हैं, सभा के बीच जो अपने को वैष्णव कहते हैं, ऐसे नाना रूप धारण कर वाममार्गी कौल ही धरती पर सर्वत्र विचरण करते हैं ।

१. पाठ भेद से यह श्लोक कौलोपनिषद् तथा कुलार्णव तंत्र में आता है ।

अन्तः शाक्ताः बहिः शैवाः लोके ते खलु वैष्णवाः ।

अन्तः कौलो बहिः शैवो जनमध्ये तु वैष्णवः ।

कौलं सुगोपयेद्देवि नारिकेल फलाम्बुवत् ।।

वल्लभ दिग्विजय में इस श्लोक का पाठान्तर इस प्रकार मिलता है—

अन्तः शाक्ताः बहिःशैवा सभामध्ये च वैष्णवाः ।

नानारूपधरैः कौलैः स्थातव्यं स्वार्थसिद्धये ।।

वाम मार्ग पर सर्वप्रथम आलोचनात्मक विचार ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में व्यक्त किये हैं। यहाँ उन्होंने तन्त्र-ग्रन्थों के उद्धरण देकर इस मत के नाना वीभत्सतापूर्ण क्रियाजालों का भण्डाफोड़ किया। तंत्रों की विद्या (यदि उसे दुर्जनतोष न्याय से विद्या कहा जाय) बहुत कुछ गुप्त रही, इसीलिये सामान्य लोग तन्त्र-प्रतिपादित दूषित एवं अपवित्र शिक्षाओं से अनभिज्ञ रहे। वाम मार्ग के प्रति लोगों के अपरिचय का यह भी एक कारण है। प्राचीन काल में तांत्रिक वामोपासना भारत के पूर्वी क्षेत्रों— बंगाल और कामरूप (आसाम) में ही विशेष रूप से प्रचलित रही, आज भी इन्हीं प्रान्तों में दुर्गापूजा के रूप में वाममार्गी उपासना का ही किञ्चित् परिष्कृत रूप प्रचलित है। यह बात नहीं कि उत्तर भारत में अन्यत्र शाक्त मत का प्रचार न रहा हो। राजस्थान में शतशः ऐसे शाक्त पीठ और मंदिर हैं जहाँ अब भी मध्य युगीन तांत्रिक पूजा पद्धतियों और पशु बलिदान से देवी का पूजन होता है।^१ आज भी ऐसे साधक और पुजारी हैं जो तांत्रिक मत के अनुसार पंचमकारों का सेवन करते हैं।

वाममार्गी साधन पद्धति की प्रतीकात्मक व्याख्या सम्भव नहीं—

तन्त्रोक्त वाम मार्ग के गर्हित, कुत्सित और वीभत्स पहलू को भुलाकर उसका श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करनेवाली एक विचारधारा भी सदा से विद्यमान रही है। बंगाल के शाक्त आचार्य श्री रामकृष्ण परमहंस और उन के शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने काली-पूजा के द्वारा अनेक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं, ऐसा उनके अनुयायियों का दावा है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो मानते हैं कि वाम मार्ग की उपासना-प्रणाली में आक्षेप के योग्य कुछ भी नहीं है। वे पंचमकारों की आध्यात्मिक-प्रतीकात्मक व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन— मनुष्य में पाये जानेवाले दुर्गुणों और दुर्व्यसनों के प्रतीक हैं जिन पर विजय पाना ही साधक के लिए इष्ट है। अतः यह देखना आवश्यक है कि क्या वस्तुतः पंचमकारों की रूपकात्मक व्याख्या की जा सकती है, अथवा वे अपने प्रकृत अर्थ के ही द्योतक हैं।

तन्त्र ग्रन्थों के विशद अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि वाममार्गी उपासना के अंगभूत पंचमकारों की आध्यात्मिक व्याख्या करना एक क्लिष्ट कल्पना मात्र है, तथा इन ग्रन्थों में जो इनका उल्लेख मिलता है वह मद्य, मांस आदि पदार्थों के सेवन का ही है। ऋषि दयानन्द ने कालीतंत्रादि का एक उद्धरण दिया है—

मद्यं मांसं च मीनं य मुद्रा मैथुनमेव च ।

एते पंचमकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे । ।

१. जयपुर की पुरानी राजधानी आमेर के दुर्ग में स्थित शिलादेवी के मन्दिर में नित्यप्रति नियमितरूप से पशुबलि होती है।

अर्थात् प्रत्येक युग में पंचमकारों का सेवन मोक्षदायक होता है। महानिर्वाण तन्त्र में इसे और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

मद्यं मांस तथा मत्स्यं मुद्रा मैथुनमेव च ।
शक्ति पूजा विधावाद्ये पंच तत्त्वं प्रकीर्तितम् ॥
पंच तत्त्वं विना पूजा अभिचाराय कल्पते ।
नेष्टसिद्धिर्भवेत्तस्य विघ्नस्तस्य पदे पदे ॥

अर्थात् मद्यादि पाँच उपकरण शक्तिपूजा के पाँच तत्त्व हैं। पंच तत्त्वों के बिना शक्ति पूजा अभिचार हो जाती है। इनके अभाव में इष्ट सिद्धि नहीं हो सकती, पग-पग पर विघ्न होता है। यहां हम तांत्रिक साधना के समर्थक कतिपय लेखकों के मतों को पूर्व पक्ष के रूप में उद्धृत करना चाहते हैं जिन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि तन्त्र-साधना के उपकरणों का स्थूलार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए। वाममार्गीय रहस्य-साधना के लेखक श्री देवदत्त का मत है— “साधना में पंचमकार प्रयुक्त होते हैं, पर इन शब्दों के रूढ़ अर्थ ग्रहण कर लेने के कारण प्रतीकात्मक अर्थ लुप्त हो गये हैं।” मुण्डमाला तंत्र का एकवचन उद्धृत करते हुए लेखक लिखते हैं—

छागे दत्ते भवेत् वाग्मी मेषे दत्ते कविर्भवेत् ।”

अर्थात् बकरे की बलि देने वाला साधक वाग्मी हो जाता है और भेड़ की बलि देने वाला कवि हो जाता है। यहाँ छाग और मेष के प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण करने का आग्रह करते हुए कहा गया है— “यहाँ पर सभी जीव मनोवैज्ञानिक विपत्तियों के प्रतीक हैं। जैसे मेष अहंकार तथा बकरा क्षणिक वासना का प्रतीक है।” स्व. डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने भी यही बात अवान्तर रूप से कही, “यह समझना भूल है कि शाक्त उपासना में माँस आदि का सेवन करना आवश्यक है। किसी तन्त्र ग्रन्थ का एक श्लोक कहता है—

अजैर्मेषैश्च माजरिर्नरैरुष्ट्रैश्च माहिषैः ।

पलैर्भिर्यजेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः । ।

अर्थात् बकरे, भेड़, बिल्ली, मनुष्य, ऊँट और भैंसे के मांस से यज्ञ करने वाला निश्चय ही मुक्त हो जाता है। यह पशु क्रमशः काम, मोह, लोभ, अभिमान, मत्सर, और क्रोध के प्रतीक हैं। तात्पर्य यह हुआ कि इन दुर्गुणों का दमन करना सच्चा बलिदान है।”

परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। यह सम्भव है कि तन्त्रोक्त पंचमकारों के कहीं-कहीं प्रतीकार्थ भी लिये गए हों परन्तु अधिकांश में वाममार्गी पूजा-पद्धति इनका स्थूलार्थ ग्रहण करने के पक्ष ही में है। सभी वाममार्गी साधकों ने शक्ति पूजा में मद्य, मांस की अनिवार्यता

१. ‘भारती’ मातृपूजा विशेषांक

२. धर्मयुग का विजयदशमी अंक

घोषित की है। आश्चर्य तो यह है कि पंचमकारों के प्रतीक अर्थ लेने का आग्रह करनेवाले स्वयं भी यह मानते हैं कि शक्तिपूजा में इनका प्रयोग स्थूल अर्थ में होता है तथा वे इसे दोषावह भी नहीं मानते। उपर्युक्त लेखक श्री देवदत्त के मतानुसार, “पूजा के समय साधक मद्य को द्रव्यमयी तारा (भगवती) के रूप में ग्रहण करता है। साधक सुरा को पहले गुरु, फिर शक्ति को अर्पित करके बचे अंश का ही पान करता है तथा मद्य का इस प्रकार सेवन करने से कुण्डलिनी जागृत होती है।” मद्य को तारा रूप समझना तो वाममार्गियों की आपातमरणीय कल्पना ही है। यह कहना भी कोई अर्थ नहीं रखता कि साधक सुरा को पहले गुरु और शक्ति के समर्पित कर पुनः पीता है। यदि प्रत्येक दुष्कर्म को भगवद्-अर्पण करने से ही उसके दोषों का परिमार्जन हो जाय, तब तो आचार-अनाचार का अन्तर ही मिट जायेगा। मद्यपान से कुण्डलिनी शक्ति किस प्रकार जागृत होती है यह बताना तो उक्त लेखक के लिए भी दुष्कर होगा।

महानिर्वाण तंत्र में मद्यादि के शोधन का जो विस्तृत विधान दिया गया है वह भी यही सिद्ध करता है कि इन वस्तुओं को प्रतीकार्थ में नहीं लिया जाता था। मद्यघट-शोधन के लिये यहाँ लिखा है—

“प्रणम्य कलशं रक्तपुष्पं दत्त्वा विशोधयेत्” तथा

ब्रह्म हत्या शाप विमोचितायै सुधादेव्यै नमः

आदि से मदिरा-कलश को लाल पुष्प अर्पित करना तथा ब्रह्महत्या वश लगे शाप को नष्ट करने में समर्थ मद्य को नमस्कार का विधान लिखा है।

इस प्रकार इन ग्रन्थों में मद्य के जो विभिन्न भेदादि वर्णित हुए हैं उससे भी उनके लोक प्रसिद्ध अर्थ लेना ही वांछनीय प्रतीत होता है। कुलार्णव तन्त्र में लिखा है—

मद्यान्येकादशैतानि भुक्तिमुक्तिकराणि च । तथा

माध्वी मुक्तिकरी ज्ञेया सुरा स्याद् देवतार्चने ।।

अर्थात् यह ग्यारह प्रकार की मदिरा भोग एवं मोक्ष प्रदान करने वाली है। माध्वी से मुक्ति मिलती है और सुरा देवतार्चन में प्रयुक्त होती है। इसी प्रकार महानिर्वाण तंत्र में जिन-जिन पदार्थों से शराब बनती है उनका तथा उनके भेदों का निरूपण किया गया है।

गौड़ी पैष्टी तथा माध्वी त्रिविधा चोत्तमा सुरा ।

सैव नानाविधा प्रोक्ता ताल खर्जूर सम्भवा ।।

तथा देशविभेदेन नानाद्रव्यविभेदतः ।

बहुधेयं समाख्याता प्रशस्ता देवतार्चने ।।

अर्थात् गौड़ी (गुड़ से बनने वाली) पैष्टी (पीठी से बनने वाली) तथा माध्वी (महुवे

से बनने वाली) यह तीन प्रकार की सुरा उत्तम है। वही ताड़, खजूर आदि से बनने वाली नाना प्रकार की होती है तथा देश भेद और द्रव्य भेद से नाना प्रकार की है। यह सब देवतार्चन में उत्तम मानी गई है। क्या तंत्रों के उपर्युक्त स्पष्ट उद्धरणों से यह सिद्ध नहीं होता कि यहां 'मद्य' से स्थूल मदिरा ही ग्रहण की गई है।

इसी प्रकार मांसाहार को भी वाममार्गी-साधना में प्रशस्त माना गया है। वहाँ कहा गया है—

मांसं त्रिविधं प्रोक्तं जलभूचरखेचरम् ।
यस्मात्तस्मात्समानीतं येन तेन विघातितम् । ।
तत्सर्वं देवताप्रीत्यैर्भवेदेव न संशयः ।
बलिदानं विधौ देवि विहितः पुरुषः पशुः ।
स्त्रीपशुर्न हन्तव्यस्तत्र शाम्भवशासनात् । ।

अर्थात् मांस जलचर, भूचर और खेचर(आकाशचारी) प्राणियों का होता है। जिससे जिसने मारा वह उसका है— इसमें कोई सन्देह नहीं। हे देवि, बलिदान नर पशु का होता है। अतः शम्भु के शासन से मादा पशु को नहीं मारना चाहिए। तृतीय मकार 'मत्स्य' के सम्बन्ध में भी तंत्रों में कहा है—

उत्तमास्त्रिविधा मत्स्याः शालपाठीन रोहिताः ।
मध्यमा कण्टकैर्हीना अधमा बहु कण्टकाः ।
तेपि देव्यैः प्रदातव्या यदि सुष्ठु विभर्जिताः । ।

अर्थात् मछलियाँ तीन प्रकार की होती हैं— उत्तम—शाल, पाठीन और रोहित, कांटों से रहित मध्यम और कांटों से युक्त अधम होती हैं। यदि भली प्रकार भुनी हुई हों तो वे भी देवी के अर्पण की जानी चाहियें। मछलियों के इस स्पष्ट विवरण को पढ़कर कौन यह कहने का साहस करेगा कि इनका तंत्रों में केवल प्रतीकात्मक अर्थ ही लिया गया है? 'मुद्रा' नामक चतुर्थ मकार के सम्बन्ध में तंत्र कहते हैं—

मुद्रापि त्रिविधा प्रोक्ता उत्तमादि विभेदतः ।
चन्द्रबिम्बनिभं शुभ्रं शालितण्डुलसम्भवम् । ।
यवगोधूमजं वापि घृतपक्वं मनोरमम् । ।
मुद्रेयमुत्तमा मध्यमा भृष्टधान्यादि सम्भवा ।
भर्जितान्नबीजानि अधमा परिकीर्तिता । ।

अर्थात् मुद्रा भी उत्तमादि भेद से तीन प्रकार की होती है। चन्द्रबिम्ब के तुल्य स्वेच्छ, शालि चावलों से बनी घी में पकाई हुई गेहूँ और जौ की बनी मुद्रा उत्तम होती है। भुने अनाज की मध्यम और भुने हुए बीज रहित पदार्थ अधम होते हैं।

वाममार्गी साधकों ने अपनी पूजा-पद्धति को मद्य और मांस जैसे तामसिक पदार्थों से ही दूषित नहीं किया, अपितु उन्होंने सदाचार के अत्यन्त विनाशक परदार-संगम को भी अपनी भ्रष्ट साधना-पद्धति का एक अपरिहार्य अंग घोषित किया। वाममार्गी लोग मैथुन को उसके स्थूलार्थ स्त्री-पुरुष-समागम के रूप में ही लेते हैं, इसे स्वयं तांत्रिक साधना पद्धति के पक्षपोषकों ने भी स्वीकार किया है। 'वाममार्गी रहस्य-साधना' के लेखक के अनुसार "शक्ति पूजा के रूप में रहस्य साधना का सबसे कठिन अंश मैथुन है। इसकी एक विशेष प्रणाली है जो इस प्रकार है— प्रथम मंत्रों से शक्ति (वह स्त्री जिसके साथ उपासक को मैथुन कर्म करना है) का अभिषेक किया जाता है। फिर उसमें काली, लक्ष्मी, सरस्वती की शक्तियों का आह्वान किया जाता है। तत्पश्चात् क्षोभरहित होकर साधक शक्ति की योनि को स्पर्श करता हुआ और सिद्धि के लिये गुरु मंत्र का जप करता हुआ मैथुन करता है।" यह है उस ग्राम्य कर्म की स्वीकृति जो सभी प्रकार के प्रतीकात्मक आडम्बरों का विसर्जन कर अपने नग्न रूप में उपस्थित है। मैथुन को अपने वास्तविक रूप में स्वीकार करते हुए उपर्युक्त लेखक यह कहकर उसके दोषों का किंचित् मार्जन करना चाहता है कि 'साधारण नियम यह है कि यह क्रिया अपनी पत्नी के साथ ही की जाय' परन्तु आगे चलकर वह यह भी स्वीकार करता है कि "परकीया शक्ति-साधन केवल मंत्र सिद्ध वीराचारी के लिये ही है।" क्या इस प्रकार स्पष्ट ही परकीया-गमन को नहीं मान लिया गया है?

कुलामृत तंत्र में कहा गया है—

“पूजाकालं विना नैव पश्येच्छक्तिं दिगम्बराम् ।

पूजाकालं विना नैव सुधा पेया च साधकैः ।।”

अर्थात् पूजाकाल के अतिरिक्त नग्न शक्ति (नारी) को न देखे और न ही पूजाकाल के बिना मद्यपान ही करे। अर्थात्पति से सिद्ध हुआ कि वाममार्गी पूजा-पद्धति में दिगम्बर शक्ति (नारी) को देखा ही नहीं जाता उसका उपभोग भी किया जाता है और पूजाकाल में शराब भी पी जाती है। ऐसे स्पष्ट प्रमाणों की विद्यमानता में यह कथन विडम्बना मात्र ही है कि पंचमकारों का तंत्रों में उल्लेख प्रतीकार्थ रूप में है।

तन्त्रों में जिस स्वैराचार का नग्न वर्णन उपलब्ध होता है, उसका उल्लेख मात्र भी शिष्टाचार के प्रतिकूल है। रुद्रयामल तन्त्र में वारांगना-गमन को प्रयाग स्नान, घोबिन से समागम को पुष्कर यात्रा, चर्मकारी से सम्बन्ध स्थापित करना काशी स्नान तथा रजस्वला गमन को सर्वतीर्थसेवन के तुल्य कहा गया है। वाममार्गी यह भी जानते

१. भारती: मातृपूजा विषेषांक

२. वही

थे कि हमारे इन समाज-विरोधी अनैतिक कृत्यों की साधारण जनसमाज में निन्दा ही होगी अतः वे मद्य, मांस सेवन तथा अन्य प्रकार के अनाचरों को स्पष्ट भाषा में वर्णित करने की अपेक्षा उनका परोक्ष रूप से उल्लेख करना ही श्रेयस्कर समझते थे। फलतः उन्होंने मद्यादि पंचमकारों के लिये क्रमशः तीर्थ, शुद्धि, तृतीया, चतुर्थी और पंचमी नाम रक्खे। स्वयं के लिये कौल, वीर, शाम्भव तथा अपने सम्प्रदाय के विरोधी के लिये कंटक, पशु आदि अभद्र नाम प्रयुक्त किये।

भैरवीचक्र— वाममार्ग तो समाज-स्वीकृत सभी प्रकार की मर्यादाओं तथा आचार-विचार की मान्यताओं का एकान्त विरोध करता है। कुलार्णव तंत्र में लिखा है—

अनाचारः सदाचारस्त्वकार्यं कार्यमुत्तमम् ।

असत्यमपि सत्यं स्यात् कौलिकानां कुलेश्वरि ।।

अपेयमपि पेयं स्यादभक्ष्यं भक्ष्यमेव च ।

अगम्यमपि गम्यं स्यात्कौलिकानां कुलेश्वरि ।।

मातरं पितरं भार्या भ्रातरं बान्धवं सुतम् ।।

कुलन्निदाकरं देवि हन्यादेवाविचारयन् ।।

अर्थात् कौल मतानुयायियों के लिये अनाचार ही सदाचार, अकार्य ही कार्य, असत्य ही सत्य होता है। वे अपेय को ही पेय तथा अभक्ष्य को ही भक्ष्य मानते हैं। अगम्यागमन में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होता है। हे देवि, जो व्यक्ति वाममार्ग की निन्दा करे, वह चाहे माता, पिता, पत्नी, भाई, बंधु और पुत्र ही क्यों न हो, उसे बिना विचार किये ही मार डालना चाहिये।

उक्त उद्धरणों से वाममार्ग की अतिवादी शिक्षायें तथा उसका भयंकर स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। वाममार्गी साधना की चरम परिणति भैरवीचक्र है, जिसमें सभी प्रकार की शालीनता, मर्यादा तथा शिष्टजनोचित मान्यताओं को तिलांजलि देकर घोर अभद्रता, अश्लीलता तथा नग्नता का आचरण किया जाता है। 'सत्यार्थप्रकाश' के लेखक ने भैरवीचक्र का जो आँखें खोल देने वाला विवरण दिया है, उसके लिये तंत्रों के निम्न प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

नाऽत्र जातिविचारोऽस्ति नोच्छिष्टादि विवेचनम् ।

चक्रमध्यगता वीरा मम रूपा न चान्यथा ।। म० नि० ८।१८

अर्थात् इस भैरवीचक्र में न जाति का विचार होता है और न ही उच्छिष्ट आदि का। हे देवि, चक्र के बीच में गये हुये सभी वीर मेरे रूप हैं न कि अन्य।

तदारूढेषु वीरेषु कार्याकार्यं न विद्यते ।

इच्छैव शास्त्रसम्मतिरित्याज्ञैव परमेश्वरि ।।

उस भैरवीचक्र में प्रवृत्त वीरों के लिये कार्य-अकार्य का कोई भेद नहीं होता, उसकी इच्छा ही शास्त्र सम्पत्ति है, ऐसी आज्ञा है। अर्थात् वाममार्गी शास्त्राज्ञा का पालन न कर सर्वथा स्वेच्छाचारी होते हैं।

तत्र यद्यत्कृतं कर्म शुभ यदि वाऽशुभम् ।

तत्सर्वं देवता प्रीत्यै जायते सुर सुन्दरि । ।

उस भैरवीचक्र में जो कुछ शुभ या अशुभ कर्म किये जाते हैं वे सभी देवी की प्रसन्नता के साधन ही बनते हैं।

जल्यो जपफलं तन्द्रा समाधिरभिधीयते ।

विक्रिया पूजनं देवि उदितं भैरवी बलिः । ।

भैरवीचक्र में बकवाद ही जाप का फल देता है। तन्द्रा ही समाधि कहलाती है। अंट शंट क्रिया को भैरव बलि कहा जाता है।

मुक्तिः स्याच्छक्तिसंयोगः स्तोत्रं तत्कालभाषणम् ।

तदुल्लासे कृता नाना या चेष्टा सा च सत्क्रिया । ।

भैरवीचक्र में स्त्री-समागम ही मुक्ति है, उस समय के श्रृंगाररस वर्धक वचन ही स्तोत्रपाठ हैं, उस उल्लास में की गई नाना चेष्टायें सत्कार हैं।

कार्याकार्य विचारस्तु यः करोति स पातकी । ।

उस समय जो करणीय और अकरणीय का विचार करता है, वह पापी होता है।

रोदनं भाषणं पातः समुत्थानं विजृम्भणम् ।

गमनं विक्रिया देवि योग इत्यभिधीयते । ।

उस भैरवीचक्र में रोना, बोलना, गिरना, उठना, जंभाई लेना, जाना तथा अन्य प्रकार की विकृत चेष्टायें ही योग कहलाती हैं।^१

चक्रेऽस्मिन् योगिनो वीरा योगिन्यो मदमन्थराः ।

समाचरन्ति देवेशि, यथोल्लासं मनोगतम् । ।

इस भैरवीचक्र में वीर योगी तथा मदालस योगिनियाँ प्रसन्नता-पूर्वक स्वेच्छानुसार आचारण करते हैं।

मत्ता स्वपुरुषं मत्त्वा कान्तान्यवलम्बते ।

तथैव पुरुषश्चापि प्रौढान्तोल्लाससंयुतः । ।

मतवाली स्त्रियाँ भैरवी चक्र में पुरुष को अपना पति मानकर उसका आलिंगन करती हैं, इसी प्रकार पुरुष भी अन्य स्त्री को अपनी मान कर उसका सहारा लेते हैं।

१. वाह! योग की कैसी सुन्दर परिभाषा है। आज के युग में आचार्य रजनीश आदि भी अपने माने, रोने, वस्त्र उतार कर नग्न होने को ही योग की संज्ञा देते रहे हैं।

मुखे आपूर्य मदिरा स्त्रियः पाययन्ति प्रियान् ।

उपदंशं मुखे क्षिप्त्वा निक्षिपन्ति प्रियानने ॥

स्त्रियाँ अपने मुख में मदिरा का कुल्ला भरकर प्रिय के मुख में फेंकती हैं ।

योगिनो मदमत्ताश्च पतन्ति प्रमदोरसि ।

मदाकुलाश्च योगिन्यः पतन्ति पुरुषोपरि ॥

भैरवीचक्र में मदमत्त योगी स्त्रियों की छाती पर गिरते हैं और मदाकुल योगिनियाँ भी पुरुषों पर गिरती हैं ।

मनोरथं सुखं पूर्णं कुर्वन्ति परस्परम् ।

इत्यादि विविधा चेष्टा कुर्वन्ति कुल नायिके ॥

हे कुल नायिके, इस प्रकार एक-दूसरे के मनोरथों को सुखपूर्वक पूर्ण करते हुये विविध चेष्टायें करते हैं ।

न निन्देन्त हसेत्क्वापि चक्रमधु मदालसान् ।

एतच्चक्रगतां वार्तां बहिर्नैव प्रकाशयेत् ॥

इस भैरवीचक्र में सम्मिलित होने वाले शराब में मस्त मतवालों पर न हँसे, न उनकी निन्दा करें तथा उनकी बातों को बाहर भी प्रकट न करे ।

स्त्री वाऽय पुरुषः षण्ढः चाण्डालो वापि द्विजोत्तमः ।

चक्रेऽस्मिन्नैव भेदोऽस्ति सर्वे शिवसमा स्मृताः ॥

भैरवीचक्र में उपस्थित पुरुष हो या स्त्री, नपुंसक हो या चाण्डाल या द्विजश्रेष्ठ, उनमें कोई भेद नहीं है, सभी शिवरूप हैं ।

बहुना च किमुक्तेन चक्रमध्ये कुलेश्वरि ।

मद्रूपा पुरुषाः सर्वे त्वद्रूपाः प्रमदाः प्रिये ॥

हे कुलेश्वरि, अधिक क्या कहूँ, चक्र में सभी पुरुष मेरा रूप हैं और स्त्रियाँ तेरा रूप हैं ।

भैरवीचक्र की इसी वीभत्सता को 'सत्यार्थप्रकाश' के लेखक ने वास्तविक रूप में उपस्थित किया है । वाममार्गी तांत्रिकों ने शिव और पार्वती के संवाद रूप में अनेक मिथ्या, कपोलकल्पित ग्रन्थ लिखकर अपने भ्रष्टाचार को तो आडम्बरपूर्ण शैली में उपस्थापित किया ही, विभिन्न सूत्र तथा स्मृति ग्रन्थों में भी पशुहिंसा, सुरापान आदि की अनाचारपूर्ण प्रवृत्तियों को समाविष्ट करने में भी इन्होंने कोई कसर नहीं उठा रक्खी । ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे प्रक्षिप्त अंश उपलब्ध होते हैं जिनमें सौत्रामणि नामक याग में सुरापान को कर्तव्य बताया है । दूर क्यों जायें? प्रचलित मनुस्मृति में मांस-भक्षण विधायक अनेक श्लोक प्रक्षिप्त किये गये हैं ।

यथा— प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च कामया ।

यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ।। ५ । २७

अर्थात् ब्राह्मणों की यदि इच्छा मांस खाने की ही तो यज्ञ में प्रोक्षण विधि से शुद्ध करके खाये और प्राण रक्षा के हेतु विधि के नियम से ।

आगे चलकर पशुवध को यज्ञ के लिये उचित ठहराते हुए मनुस्मृति में यह श्लोक मिलाया गया—

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।

यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्वं तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ।। ५ । ३९

अर्थात् ब्रह्मा ने स्वयं ही यज्ञ की सिद्धि के लिये पशुओं की सृष्टि की है । अतः यज्ञ में पशुवध को वध नहीं मानना चाहिये ।

इस प्रकार स्मृतिकार भगवान् मनु के नाम से इन वाममार्गी पशु वध-समर्थकों ने निम्न परिस्थितियों में पशुवध का औचित्य सिद्ध किया है—

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।

अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ।। ५ । ४१

मधुपर्क, यज्ञ तथा पितृ एवं दैव कर्म में ही मनु ने पशुवध को विधेय कहा है । अन्यत्र नहीं ।

परन्तु मनुस्मृति का ध्यानपूर्वक परीक्षण करने पर हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि स्मृतिकार का मूल अभिप्राय अहिंसा का प्रतिपादन तथा मांस-भक्षण निषेध में ही है । यह एक सामान्य बात है कि कोई भी विचारशील लेखक परस्पर विरुद्ध लेखन नहीं करता, परन्तु आज मनुस्मृति जिस रूप में उपलब्ध है उसमें एक साथ ही मांसाहार विरोधी तथा समर्थक श्लोक मिलते हैं । इस स्थिति में या तो हम यह मान लें कि इस स्मृति शास्त्र का लेखक कोई परले सिरे का पागल व्यक्ति था, जिसने किसी झोंक में आकर ही ऐसी परस्पर विरुद्ध बातें लिख दीं, अन्यथा हमें यह स्वीकार करना होगा कि स्मृतिकार की भावना के प्रतिकूल मांसाहार-समर्थक श्लोक कालान्तर में उसमें घुसेड़े गये हैं ।

शास्त्रों को इस प्रकार दूषित करने वाले वाममार्गियों के प्रति 'सत्यार्थप्रकाश' के लेखक का सात्विक क्रोध उमड़ पड़ता है और वह लिखता है— "प्रोक्षित अर्थात् यज्ञ में मांस खाने का दोष नहीं, ऐसी पामरपन की बातें वाममार्गियों ने चलाई हैं । उनसे पूछना चाहिए कि वे जो वैदिकी हिंसा हिंसा न हो तो तुझे और तेरे कुटुम्ब को मार के होम कर डालें तो क्या चिन्ता है?"

वस्तुतः मनुस्मृति तो अहिंसा और मांसाहार त्याग का ही उपदेश देती है । वहाँ स्पष्ट

लिखा है—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।

न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ।। ५।४८

अर्थात् प्राणि हिंसा के बिना मांस प्राप्त नहीं होता । प्राणिवध स्वर्गप्राप्ति का हेतु नहीं है । अतः मांस को सर्वथा त्याग देना चाहिए ।

जब यज्ञों के नाम पर पशुहिंसा का प्रचलन हुआ तो अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि की कल्पना की गई तथा विभिन्न पशुयागों का ब्राह्मण एवं सूत्र ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया । वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थप्रोक्त यागों का वास्तविक अभिप्राय पशुवध से नितान्त भिन्न ही था । किन्तु यज्ञों में निहित रहस्य को न समझ कर पश्चात्तर्वी लेखकों ने अश्वमेधादि यज्ञों में अश्ववादि पशुओं को मारकर होम की कल्पना की । यज्ञों के नाम पर अनाचार इतना बढ़ा कि वैदिक मंत्रों के अर्थों का अनर्थ कर उनसे पशु हिंसा का समर्थन किया जाने लगा ।

ऋषि दयानन्द ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने यज्ञों के शुद्ध, सात्विक रूप का निरूपण कर उन पर आरोपित हिंसाकाण्ड का दृढ़ स्वर में निराकरण किया । यजुर्वेद के २३ वें अध्याय में अश्वमेध का प्रकरण आया है । यजुर्वेद के व्याख्यान रूप शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेध की व्याख्या उपलब्ध होती है । यहाँ प्रजापति तथा राष्ट्र को ही अश्वमेध कहा है “प्रजापतिर्वै जमदग्निः सो अश्वमेधः” तथा राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति’ इन ब्राह्मण वाक्यों को उद्धृत कर स्वामी दयानन्द ‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका’ में लिखते हैं— ‘ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण में परमेश्वर का नाम अश्वमेध है ।..... राज्य की शोभा धन है और ज्योति का नाम हिरण्य है तथा अश्व नाम परमेश्वर का भी है क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज सामर्थ्य से नहीं जान सकता किन्तु अश्व अर्थात् जो ईश्वर है वही उनके लिए स्वर्ग सुख को जनाता और जो मनुष्य प्रेमी तथा धर्मात्मा है उनको सब स्वर्ग, सुख देता है । यही बात शतपथ में भी कही गई है कि सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करने के कारण ईश्वर अश्व है तथा राज्य का नाम भी अश्वमेध है । इसी प्रकार ‘सत्यार्थ प्रकाश’ के प्रस्तुत प्रसंग में भी “अन्नं हि गौः” तथा “अग्निर्वा अश्वः” आज्यं मेधः” आदि शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण प्रस्तुत कर स्वामी जी ने अश्वमेध का अर्थ राजा द्वारा न्याय एवं धर्मपूर्वक प्रजापालन तथा इन्द्रिय, किरण, पृथ्वी आदि का यथावत् उपयोग लेना

१. शतपथ ४।३१।२५

२. शतपथ ३।६।२।५

३. ‘मेधो वा आज्यम्’-शतपथ १३।३।६।२

गोमेध का अभिप्राय बताया है। मनुष्य का मृत्यु-उपरान्त अन्त्येष्टि संस्कार ही नरमेध यज्ञ है।^१

यज्ञ में पशुहिंसा का प्रचलन वैदिक यज्ञ-प्रथा के सात्विक एवं उदात्त रूप को दूषित करने का वीभत्सतम प्रयत्न था। पशुवध-समर्थक याज्ञिकों ने वेदमन्त्रों के ही दोषपूर्ण अर्थ कर हिंसापरक विधान प्रचलित किए और मंत्रों का अनुचित और अन्यथा विनियोग किया। यज्ञों के नाम पर होने वाले ग्लानिदायक एवं हिंसापूर्ण हत्याकाण्ड की ओर से जनसाधारण का ध्यान हटाने के लिए यजमान और मारे गये पशु के स्वर्ग जाने तथा मृत्यु के उपरान्त पुनः पशु को जीवित करने के मिथ्या प्रवाद भी प्रचलित किए गये।
वेद मंत्रों का विनियोग—

इसी प्रसंग में लेखक ने वेद मंत्र और कर्मकाण्ड में उनके विनियोग के शास्त्रीय प्रकरण को भी स्पष्ट किया है। वस्तुतः वेदमंत्र विनियोग के पीछे नहीं चलते, अपितु मंत्रों में वर्णित विषय को देखकर ही तदनुकूल, याज्ञिक क्रियाओं में उनका विनियोग याज्ञिक काल में किया था। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण ने इसे रूपसमृद्धि कहा है— एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।^२ अर्थात् यदि ऐसा मंत्र बोला जाय जिसमें उसी क्रिया का वर्णन हो जो यज्ञ में की जाने वाली हो तो इसको रूप-समृद्धता कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब यज्ञ रचे गये और उनमें पढ़ने के लिये मंत्र छांटे गये तो उन मंत्रों को चुना गया जिनके शब्दों से उस क्रिया का लगभग वर्णन प्रकट होता था। पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय के अनुसार विनियोग में जितने मंत्र पढ़े जाते हैं उन सब में रूप-समृद्धता नहीं होती परन्तु रूपसमृद्धता अच्छी समझी जाती है।^३ कालान्तर में जब यज्ञ पक्ष को प्रधानता मिली तो मंत्रों के वर्ण्य विषय को सर्वथा गौण मानकर उनके ब्राह्मण तथा सूत्र ग्रन्थों में उल्लिखित विनियोग को ही महत्त्व मिल गया। मध्यकालीन भाष्यकारों ने भी प्रत्येक मंत्र का किसी न किसी यज्ञ क्रिया में विनियोग बतलाकर उसके याज्ञिक अर्थ को ही प्रधानता दी। विनियोग में भी आचार्यों के विभिन्न वैकल्पिक पक्ष हैं। “इससे सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न लोग एक ही अवसर पर भिन्न-भिन्न मन्त्रों को पढ़ना पसन्द करते थे।..... इससे सिद्ध हुआ कि वेद मन्त्र पहले उपस्थित थे। यज्ञ के आचार्यों ने यज्ञकर्म में अवसरोचित मन्त्रों का विनियोग किया।..... यदि मन्त्रों का निर्माण उन नियत अवसरों के लिए होता तो इस विषय में भिन्न-भिन्न मत न होते।”^४

१. संस्कार विधि— अन्त्येष्टि प्रकरण “इसी को नरमेध, पुरुषमेध, नरयाग, पुरुषयाग भी कहते हैं।”

२. ऐतरेय ब्राह्मण १। ४.

३. ऐतरेय ब्राह्मण हिन्दी अनुवाद प्राक्कथन पृ.-२ (हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित सं० २०००६ वि.)

४. वही पृ.-३

सत्यार्थप्रकाशकार ने भी मन्त्रों के पशुहिंसा विधायक विनियोगों की आलोचना करते हुए लिखा है— “मन्त्र किसी को कहीं पढ़ने से नहीं रोकता क्योंकि वह एक शब्द है। परन्तु उनका अर्थ ऐसा नहीं है कि पशु को मारके होम करना।” जब यज्ञों के नाम पर हिंसा, बीभत्सता और अश्लीलता की वृद्धि हुई तब उनका प्रतिवाद होना स्वाभाविक ही था। अश्वमेध यज्ञ में पड़े जाने वाले यजुर्वेद के ‘गणानां त्वा गणपतिं हवामहे’ आदि मंत्रों के महीधर आदि मध्यकालीन भाष्यकारों ने इतने भेदे, अश्लील तथा गर्हित रुचि वाले अर्थ किये हैं कि उन्हें पढ़कर वेद तथा यज्ञ से घृणा हो जाना स्वाभाविक ही था। आश्चर्य तो यह है कि अश्वमेधादि यज्ञों के इस प्रकार विकृत किए जाने का किसी भी हिन्दू धर्माचार्य ने विरोध नहीं किया।

वाम मार्ग की प्रतिक्रिया जैन, बौद्धादि अवैदिक मत

परन्तु सदाचार तथा नैतिकता की सामान्य धारणाओं का विरोध करने वाले इन विकृत एवं भ्रष्ट यज्ञों के विरोध में एक प्रबल आन्दोलन शीघ्र ही जनता में व्यापक हो गया। चार्वाक, जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों के विचारकों ने वेदों का तथाकथित आधार लेने वाले इन यज्ञों तथा तद्विषयक मान्यताओं का प्रबल उपहास किया। उन्होंने कहा—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।

स्वपिता यजमानेन तत्र कथं न हिंस्यते ॥^१

अर्थात् यदि पशु को मारकर अग्नि में होम देने से पशु को स्वर्गलोक मिलता है तो यज्ञकर्त्ता यजमान अपने पिता को ही मारकर स्वर्ग क्यों नहीं भेज देता।

इसी प्रकार मृतक व्यक्ति का उसके पुत्र पौत्रादि द्वारा श्राद्ध करने तथा श्राद्ध द्वारा दिवंगत पुरुष के तृप्त होने का मजाक बनाते हुए चार्वाक ने कहा—

मृतानमिह जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् ।

गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थ पाथेयकल्पनम् ॥^२

यदि मृतक को श्राद्ध तर्पण से अन्न जल पहुँचाया जा सकता है तो विदेश प्रस्थान करने वाले यात्री को पथ का पाथेय देना व्यर्थ ही है। क्यों नहीं उस यात्री के लिए भी घर में बैठकर ही श्राद्ध कर लिया जाय? इस प्रकार वेदों के नाम पर प्रचलित यज्ञ, श्राद्ध

१. हरिभट्टसूत्र कृत सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाकमत प्रकरण। तुलनीय—

निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते ।

स्वपिता यजमानेन किन्तु तस्मान्न हन्यते ॥ विष्णु पुराण ३।१८।२७

२. तुलनीय—

तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येनचेत्ततः ।

कुर्याच्छ्राद्धं श्रमायान्न न बहेन्नु प्रवासिनः ॥ विष्णु पुराण ३।१८।२८

आदि कर्मकाण्डों के विरोध करने तथा वर्णव्यवस्था के विकृत रूप, जाति-व्यवस्था के प्रतिकार हेतु वैदिक मान्यताओं के प्रबल विरोधी चार्वाक, जैन और बौद्ध आदि लोकायत मतों का जन्म हुआ। जन-साधारण ने इस विचारधारा का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। जैन-बौद्ध मान्यताओं के लोकव्यापी होने के कुछ स्पष्ट कारण थे। ये सम्प्रदाय ब्राह्मणों के धर्म और समाज पर अनुचित एवं अलोकतन्त्री वर्चस्व तथा प्रभुत्व का एकान्त विरोध करते थे। अतः उस समय के उन निम्न वर्गों की उन्हें सहज ही सहानुभूति प्राप्त हुई जो ब्राह्मण-तानाशाही से त्रस्त, दुःखी तथा भयभीत थे।

जैन एवं बौद्ध धर्मों के असामान्य प्रचार का एक कारण यह भी था कि इन विचारधाराओं में ईश्वर, आत्मा तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि अदृष्ट तत्त्वों के सम्बन्ध में विशेष ऊहापोह न करने तथा सामान्य नैतिक आदर्शों के अनुपालन पर ही अधिक जोर दिया गया था। इस प्रकार पारलौकिक चिन्तन की क्लिष्ट कल्पनाओं तथा याज्ञिक जटिल कर्मकाण्ड दोनों प्रकार की अतिवादितों से बचकर जैन-बौद्ध आदि श्रमण संस्कृति के उन्नायक धर्मों ने मध्यम मार्ग को अपनाया जो सामान्य जनता के लिये अधिक आकर्षक और उत्साहवर्धक था।

परन्तु जैन-बौद्ध आदि श्रमण धर्म भी सर्वथा दोषमुक्त ही रहे हों, ऐसी बात नहीं थी। स्वामी दयानन्द ने इन मतों में प्रचलित दोषों को निम्न प्रकार सूत्रित किया है—

१. ब्राह्मण धर्म की ही भांति श्रमण मतों में भी नाना पाखण्ड एवं आडम्बर यथा शीघ्र व्याप्त हो गये।

२. वेद के तत्त्वार्थ से अनभिज्ञ होने के कारण इनकी वेद की आलोचना सर्वथा भ्रान्त तथा मिथ्या पर आश्रित थी। वेदाध्ययन, यज्ञोपवीत तथा ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों का अकारण खण्डन सर्वथा अनुचित था।

३. वैदिक चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था का विरोध करने, अनधिकारी व्यक्तियों को भी गृहस्थ से विमुख कर भिक्षु बनाने आदि के कारण भारतीय समाज-व्यवस्था को आघात पहुँचा।

४. जैन-बौद्ध आदि मतों में सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की सत्ता तो स्वीकार की ही नहीं गई थी, किन्तु ईश्वर के स्थान पर तीर्थकरों तथा बोधिसत्त्वों आदि को ही ईश्वर मानने तथा यत्र-तत्र उनकी प्रतिमाओं की स्थापना कर उनको पूजने से मूर्तिपूजा जैसे जड़ संस्कारों का प्रचलन हुआ। इस प्रकार जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों ने विभिन्न राजाओं तथा सम्राटों का आश्रय प्राप्त कर देश तथा देश के बाहर अवैदिक विचारधारा को प्रचारित किया। वैदिक शिक्षा एवं संस्कारों से हीन आर्यावर्त्त की बहुमुखी अधोगति का कारण इन अवैदिक जैन-बौद्ध आदि मतों को ही मानना होगा।

४ शंकराचार्य और नवीन वेदान्त

जिस समय इस देश में सर्वत्र जैन-बौद्ध आदि अवैदिक-नास्तिक मतों का बोलबाला था, श्रमण सम्प्रदायों द्वारा उपदिष्ट मिथ्या वैराग्य के वशवर्ती होकर भारतवासी निर्वीर्य, हीन सत्त्व तथा दुर्बल हो रहे थे, वर्ण और आश्रम की मर्यादों के लुप्त हो जाने के कारण समाज में सर्वत्र अनाचार, दुराचार और अराजकता का साम्राज्य छाया हुआ था, उस समय दक्षिण के केरल प्रदेशान्तर्गत कालड़ी ग्राम में शिवगुरु नामक एक ब्राह्मण के यहाँ शंकराचार्य का जन्म हुआ। अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठाता, महान् दार्शनिक तथा वैदिक धर्म के पुनरुद्धारकर्ता इस आचार्य के आविर्भाव का उल्लेख सत्यार्थप्रकाशकार ने इस प्रकार किया- “बाइस सौ वर्ष हुए कि एक शंकराचार्य द्रविड़ देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर सोचने लगे कि अहह, सत्य आस्तिक वेदमत का छूटना और जैन नास्तिक मत का चलना बड़ी हानि की बात हुई है, इनको किसी प्रकार हटाना चाहिये।”

शंकराचार्य के जीवन तथा उनके धर्मप्रचार एवं शास्त्रार्थ विषयक यात्राओं का विस्तृत उल्लेख माध्ववाचार्य कृत शंकरदिग्विजय में उपलब्ध होता है। शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद तथा दादा गुरु गौड़पाद थे। गौड़पाद ने ही सर्वप्रथम माण्डूक्योपनिषद् पर कारिकायें लिखकर अद्वैतवाद की दार्शनिक विचारधारा प्रस्तुत की। शंकराचार्य ने अद्वैत दर्शन को नाना युक्तियों और तर्कों से पुष्ट किया। उन्होंने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता पर विस्तृत भाष्य लिखे। शंकराचार्य की अद्भुत तर्कशक्ति, उनका विवेचन कौशल तथा ऊहा कुछ ऐसी प्रबल थी कि वे सहज ही अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की छाप न केवल समकालीन, अपितु आने वाले युग पर भी छोड़ने में समर्थ हो सके। उन्होंने वेदान्त सिद्धान्त को अपने ही विचारों के अनुसार व्याख्यात किया तथा अपने से पूर्ववर्ती वेदान्त दर्शन के भाष्यकर्त्ताओं की भेदवादी व्याख्याओं को निरस्त कर एक ब्रह्मवाद की स्थापना की।^१

स्वामी शंकराचार्य को योग्य शिष्य मिले जिन्होंने उनके सिद्धान्तों को सर्वत्र प्रचारित

१. शंकराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्य बोधायन ने वेदान्त सूत्रों पर विस्तीर्ण व्याख्या लिखी थी। रामानुज ने भी उसी बोधायनकृत वृत्ति के आधार पर अभेदवाद का खण्डन करते हुए अपना भाष्य लिखा- “भगवद् बोधायन कृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्र वृत्तिं पूर्वाचार्यः संक्षिपु तन्मतानुसारेण सूत्रासाराणि व्याख्यास्यन्ते।”

करने में अपनी मेधा का प्रचुर उपयोग किया। शंकर दीर्घजीवी नहीं हुए। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यचतुष्टय^१ ने उत्तर में ज्योतिर्मठ, दक्षिण में श्रृंगेरी मठ, पूर्व में भूगोवर्धन मठ तथा पश्चिम में शारदा मठ की स्थापना की। शंकराचार्य के जीवन और कृतित्व का संक्षिप्त उल्लेख करने के अनन्तर सत्यार्थप्रकाशकार ने उनके दार्शनिक मन्तव्यों पर अपनी सम्मति इस प्रकार व्यक्त की है— “अब इसमें विचारना चाहिये कि जो ‘जीव-ब्रह्म की एकता जगत् मिथ्या’ शंकराचार्य का निज मत था तो वह अच्छा मत नहीं और जो जैनियों के खण्डन के लिये उस मत का स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है।”

स्वामी दयानन्द की सम्मति में यदि शंकराचार्य ने केवल जैन बौद्धादि के खण्डन के लिये ही अद्वैतवाद को स्वीकार किया हो, तब तो एक नीति के रूप में उसे थोड़ा प्रशस्त माना जा सकता है, परन्तु तत्त्वतः अद्वैत सिद्धान्त सर्वथा निर्भ्रान्त हो, ऐसी बात नहीं है। स्वामी जी ने वेदान्त की इस शंकर-प्रतिपादित व्याख्या पर अनेक आपत्तियाँ उठाई हैं तथैव पूर्वपक्ष-उत्तर पक्ष की रीति से नवीन वेदान्त का खण्डन किया है।

शंकराचार्य के दार्शनिक मत को यदि सूत्र रूप में उपस्थित करना हो तो निम्न श्लोकांश प्रस्तुत किया जा सकता है—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः । ।

ब्रह्म ही सत्य है, जगत् स्वप्न की भाँति मिथ्या है। जीव और ब्रह्म में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।

— जगत् को मिथ्या कहने में वेदान्ती रज्जु में सर्प, सीप में रजत, मृगतृष्णा में जल आदि के दृष्टान्त देते हैं तथा गंधर्व नगर और इन्द्रजाल की भाँति संसार को झूठा कहते हैं। वस्तुतः मिथ्या तो वह है जो त्रिकाल में भी प्रतीत न हो तथा जिसका अस्तित्व ही सिद्ध न हो। संसार के मिथ्यात्व प्रतिपादन में रज्जु-सर्प और सीप-रजत के दृष्टान्त पूर्णतया घटित नहीं होते। स्वप्न के आधार पर भी संसार का मिथ्यात्व प्रतिपादित नहीं होता। स्वप्न में जिन वस्तुओं को देखा जाता है, देशान्तर में तो उनकी स्थिति और अस्तित्व होता है। उनके संस्कार भी हमारी आत्मा में अवशिष्ट रहते हैं। अतः स्वप्नावस्था में उन्हीं संस्कारों के वशवर्ती होकर हम स्वप्न देखते हैं। यह अवश्य है कि कभी-कभी हम विचित्र स्वप्न भी देखते हैं जो अश्रुतपूर्व, अदृष्टपूर्व और अभूतपूर्व होते हैं किन्तु ऐसे स्वप्नों का भी कोई न कोई संस्कारगत आधार अवश्य होता है। अतः स्वप्न आदि का उदाहरण देकर संसार का मिथ्यात्व सिद्ध करना उचित नहीं है।

नवीन वेदान्तवादियों के समक्ष अनेक ऐसे यक्ष प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनका त्रिकाल

१. पद्मपाद, सुरेश्वर, टोटकाचार्य और हस्तामलक

में भी समाधान करना उनके लिये सम्भव नहीं प्रतीत होता । जीव और ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादित करने वाले शंकर मतानुयायी भी इस प्रश्न का उत्तर संतोषप्रद ढंग से नहीं दे सकते थे कि यदि ब्रह्म और जीव तत्त्वतः एक ही हैं तो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वज्ञ ब्रह्म अपने आपको अल्पज्ञ, सीमित तथा बद्ध क्यों मान बैठता है? इसमें अविद्या या अज्ञान को कारण माना गया है परन्तु इस प्रकार तो अविद्या एक स्थायी तत्त्व सिद्ध हो जाता है जो समय-समय पर ब्रह्म को स्ववशवर्ती कर उसे अपने पारमार्थिक स्वरूप से भ्रष्ट कर देता है । जब शंकराचार्य अज्ञान, अविद्या या उपाधि रूपा माया को सद् असद् से भिन्न अनिर्वचनीया कहते हैं तो वे अपने कथन को वदतोव्याघात दोष से युक्त बना लेते हैं ।

शंकराचार्य ने अन्य भी अनेक लौकिक दृष्टान्तों के द्वारा ब्रह्म की अद्वितीय सत्ता किन्तु उपाधि भेद से उसके बहुधा व्यक्त होने का प्रतिपादन किया है । जिस प्रकार आकाश तो एक ही है, किन्तु घट के भीतर का घटाकश, मठ के भीतर का मठाकाश, मेघों से आच्छन्न मेघाकाश पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं इसी प्रकार माया, उपाधि, व्यष्टि, समष्टि और अन्तः करणादि उपाधियों से ब्रह्म भी अज्ञानियों को पृथक्-पृथक् दिखाई देता है । पूर्वपक्षी नवीन वेदान्तियों ने अपने इस कथन के समर्थन में कठोपनिषद् का निम्न प्रमाण प्रस्तुत किया—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपंप्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।। ५ । ९

जैसे अग्नि विभिन्न आकृति वाले पदार्थों में प्रविष्ट होकर तदाकार दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार सर्वव्यापक परमात्मा अन्तःकरणों में व्यापक होकर अन्तःकरणाकार हो जाता है किन्तु प्रकृत्या वह उनसे अलग ही होता है ।

उपर्युक्त युक्तियों और प्रमाणों का उत्तर देना भी अशक्य नहीं है । जिस प्रकार घट, मठ आदि के भेद होने पर भी उनमें व्यापक आकाश में भेद नहीं होता उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक ब्रह्म अपने से स्थूल जीव तथा प्रकृति में व्याप्त होकर भी अपने सूक्ष्मत्व के कारण उनसे निर्लिप्त ही रहता है । जहाँ तक कठोपनिषद् के उपरि उद्धृत प्रमाण का सम्बन्ध है उसका अर्थ इस प्रकार किया जाना चाहिये— जैसे एक अग्नि लोक-लोक में व्याप्त हुआ प्रत्येक रूपवान् वस्तु के तुल्य रूप वाला हो रहा है, वैसे ही सबका अन्तर्यामी परमात्मा प्रत्येक रूप के सदृश रूप वाला है परन्तु वह इन सबसे पृथक् है ।

आकाश से भी ब्रह्म की तुल्यता एक सीमा तक ही बताई जा सकती है । जैसा कि स्वामी जी ने लिखा है— “जैसे परमेश्वर निराकार, सर्वत्र आकाशवत् व्यापक होने से ब्रह्म से कोई पदार्थ वा पदार्थों से ब्रह्म पृथक् नहीं हो सकता और व्याप्य व्यापक सम्बन्ध से एक भी नहीं हो सकता ।” जिस प्रकार एक ही सूर्य के विभिन्न प्रतिबिम्ब पृथिवीस्थ शतशः

जलकुण्डों में पड़ने के कारण भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ते हैं, परन्तु सूर्य एक ही होता है, तथा कुण्डों के नष्ट हो जाने पर भी सूर्य क्री सत्ता अविचलित रहती है ।' उसी प्रकार विभिन्न जीवों के अन्तःकरणों में ब्रह्म का आभास पड़ता है । अन्तःकरण विशिष्ट ब्रह्म ही जीव रूप है । अन्तःकरणों के नष्ट हो जाने पर वह ब्रह्मरूप हो जाता है । वेदान्तवादियों की इस युक्ति का समाधान करते हुए स्वामी दयानन्द उपर्युक्त दृष्टान्त की व्यर्थता निरूपित करते हैं । सूर्य और जलकुण्ड दोनों ही साकार हैं जबकि ब्रह्म निराकार है अतः उसका प्रतिबिम्ब पड़ना सम्भव नहीं है ।

कहने को तो अद्वैतवादी एक ही चेतन तत्त्व की सर्वोपरि अद्वितीय सत्ता को स्वीकार करते हैं, परन्तु व्यवहार-दृष्ट्या वे बहुतत्त्ववादी हैं— जैसा कि उनके सम्प्रदाय में निम्न श्लोक प्रसिद्ध हैं—

जीवेशौ च विशुद्धचिद् विभेदस्तु तयोर्द्वयोः ।

अविद्या तच्चित्तोर्योगः षडस्माकमनादयः । १

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।

कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते । २

अर्थात् जीव, ईश्वर, विशुद्ध चेतन ब्रह्म, जीव ईश्वर का भेद, अविद्या (अज्ञान, माया) अविद्या और शुद्ध चेतन ब्रह्म का परस्पर सम्बन्ध— ये छः तत्त्व अनादि माने जाते हैं । अन्तःकरण उपाधि विशिष्ट ब्रह्म जीव है, कारण उपाधि (सृष्टिकर्ता होने के कारण) से युक्त ब्रह्म को ईश्वर कहा जाता है, परन्तु जब यह ब्रह्म कार्य-कारण-उपाधि से सर्वथा रहित होता है तब उसकी शुद्ध निष्कल 'ब्रह्म' संज्ञा होती है । ब्रह्म के अतिरिक्त पाँच तत्त्वों को अनादि सान्त माना गया है जबकि ब्रह्म अनादि अनन्त है । परन्तु जब अविद्या और ब्रह्म के सम्बन्ध को भी नित्य माना लिया गया तब अद्वैत का स्वतः ही खण्डन हो जाता है ।

नवीन वेदान्त का मायावाद

शंकराचार्य ने माया को अविद्या का पर्याय तथा सद्-असद् से विलक्षण, अकथनीय एवं अनिर्वचनीय कहा है । परन्तु जिसका अस्तित्व न होने पर भी जो भासमान् हो उसे स्वीकार करना कैसे सम्भव है? वस्तुतः नवीन वेदान्त की विचारधारा एक सर्वथा नूतन दर्शन प्रणाली है जिसे योगवासिष्ठ, शंकर कृत ग्रन्थों तथा निश्चलदास रचित वृत्ति प्रभाकर आदि अर्वाचीन ग्रन्थों का प्रश्रय प्राप्त हुआ है । स्वामी दयानन्द शंकराचार्य के व्यक्तित्व, वैदुष्य तथा नास्तिक मतों के विरुद्ध उनके वैदिक धर्म प्रचारक अभियान से निश्चय ही

१. सिद्धांत लेश संग्रह (अच्युत ग्रन्थ माला काशी से प्रकाशित) पृ. ३६ पर टिप्पणी में उद्धृत ।

२. सिद्धांत लेश संग्रह में यह वचन संक्षेप शारीरक से उद्धृत किया गया है ।

प्रभावित हुए थे। परन्तु वे ये लिखने में भी नहीं चूके— “अनुमान है कि शंकराचार्य आदि ने तो जैनियों के मत के खण्डन करने ही के लिये यह मत स्वीकार किया हो क्योंकि देशकाल के अनुकूल अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये बहुत से स्वार्थी विद्वान् अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये अपने आत्मा के ज्ञान के विरुद्ध भी कर लेते हैं।” परन्तु वे निश्चलदास आदि नवीन वेदान्त के पुरस्कर्ता उन मध्यकालीन लेखकों द्वारा प्रस्तुत युक्तियों को सर्वथा हेय और तिरस्करणीय समझते हैं जिन्होंने जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन उनमें पाये जाने वाले चेतनता रूपी धर्म की समानता के कारण किया है। यथा—

जीवो ब्रह्मभिन्नेश्चेतनत्वात्

साधर्म्य मात्र से दो पदार्थों में परिपूर्ण एवं सार्वत्रिक एकता नहीं होती क्योंकि यदि चेतन होने मात्र से ही जीव और ब्रह्म अभिन्न हों तो जड़ होने से जल और पृथ्वी की भी अभिन्नता मानी जानी चाहिये— ‘पृथिवी जलाऽभिन्ना जडत्वात्’। वस्तुतः चेतनता रूपी साधर्म्य के जीव तथा ब्रह्म दोनों में समान रूप से विद्यमान रहने पर भी जीव अल्प, अल्पज्ञ तथा भ्रान्तिमत्वादि धर्म युक्त है जबकि ईश्वर सर्वगत, सर्वज्ञ तथा निभ्रान्त है। निश्चलदास के अल्प पाण्डित्य की समीक्षा कर स्वामी जी घोषित करते हैं कि योगवासिष्ठ को त्रेतायुगीन महर्षि वसिष्ठ या वाल्मीकि की रचना मानना भी भूल है। यह किसी अर्वाचीन वेदान्ती की कृति है जिसने इस ग्रन्थ को वसिष्ठ-राम संवाद के रूप में लिख डाला।

युक्ति एवं तर्क द्वारा नवीन वेदान्त के मन्तव्यों का खण्डन करने के पश्चात् स्वामी दयानन्द शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर भी स्वमत का मण्डन करते हैं। पूर्व पक्षी ने वेदान्तदर्शन के कतिपय सूत्र प्रस्तुत कर जीवब्रह्म की एकता का निरूपण करने का प्रयत्न किया था। परन्तु सिद्धान्ती ने उन सूत्रों का वास्तविक अर्थ कर जीवेश्वर-भेद के सिद्धान्त को पुष्ट किया। पुनः स्वमत-समर्थन में उसने वेदान्त दर्शन के दस सूत्र उपस्थित किये। नेतरोनुपपत्तेः।^१ भेद व्यपदेशाच्च।^२ विशेषणभेद व्यपदेशाभ्यां च नेतरो।^३ अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति।^४ अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्।^५ भेदव्यपदेशाच्चान्यः।^६ गुह्यं प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्।^७ अनुपपत्तेस्तु न शारीरः।^८ अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्।^९ शारीरश्चोऽभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते।^{१०} इन सूत्रों में जीव तथा ईश्वर का भेद स्पष्ट प्रतिपादित किया है। सूत्रों का सरलार्थ इस प्रकार है—

१. वेदान्त दर्शन १।१।१६। २. वेदान्त दर्शन १।१।१७। ३. वेदांत दर्शन १।२।२२। ४. वेदांत दर्शन १।१।१९। ५. वेदांत दर्शन १।१।२०। ६. वेदांत दर्शन १।१।२१। ७. वेदांत दर्शन १।२।११। ८. वेदांत दर्शन १।२।१३। ९. वेदांत दर्शन १।२।१८। १०. वेदांत दर्शन १।२।२१। तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मणन्द वल्ली ४।

१. ब्रह्म से इतर जीव में सृष्टिकर्तृत्व घटित नहीं हो सकता, क्योंकि वह (जीव) अल्पज्ञ, अल्प सामर्थ्य वाला है।

२. “रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति” आदि उपनिषद् वाक्यों में जीव और ब्रह्म की पृथक्ता का स्पष्ट प्रतिपादन है। उस रस अर्थात् आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को जानकर तथा प्राप्त करके ही यह जीव आनन्द रूप होता है।

३. उपनिषदादि शास्त्रों में ब्रह्म और जीव के विशेषण भी पृथक्-पृथक् बताये गए हैं। दिव्योद्दामूर्तः पुरुषः^१ आदि औपनिषदी श्रुतियों में ब्रह्म को दिव्य, अमूर्त, सर्वत्र परिपूर्ण, बाह्य भीतर निरन्तर व्यापक, अजन्मा, मन रहित, शुभ्र तथा अक्षर-प्रकृति एवं जीव से भी परे कहा गया है।

४. इसी सर्वव्यापक ब्रह्म में जीव का योग (दर्शन की प्रक्रियानुसार) उपदिष्ट हुआ है। अतः इन दोनों का पार्थक्य स्पष्ट है। योग दो भिन्न पदार्थों में ही होता है।

५. ब्रह्म में ही अन्तर्यामी आदि धर्म कहे गये हैं।

६. जीव की ही भाँति परमात्मा इन्द्रिय, अन्तःकरण, पृथिवी आदि भौतिक पदार्थों से भी भिन्न है।

७. ‘गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके’^२ आदि उपनिषद्-वाक्यों से भी जीव एवं ईश्वर के भेद का निरूपण होता है।

८. व्यष्टि शरीर में अभिमानी के रूप में रहने वाला ‘शारीर’ जीव है, वह ब्रह्म से भिन्न है।

९. बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण में परमात्मा को अधिदेव, अधिभूत और अध्यात्म सभी का अन्तर्यामी रूप कथन किया है।

१०. शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है क्योंकि ब्रह्म से जीव का भेद स्वरूपतः सिद्ध है।

इस प्रकार विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों के द्वारा भी सत्यार्थप्रकाशकार ने शंकर मत की अप्रामाणिकता को सिद्ध किया है। दार्शनिक क्षेत्र में शंकर का विरोध करना वस्तुतः एक साहस का ही कार्य था और यह साहस दयानन्द जैसा अपूर्व मेधा-सम्पन्न, निर्मल आर्ष प्रज्ञा का धनी महापुरुष ही दिखला सकता था। शंकराचार्य ने न केवल जैन, बौद्ध आदि अवैदिक मतों का ही खण्डन किया अपितु शैव, शाक्त, वैष्णव, पाशुपत, कापालिक आदि वैदिक धर्म (व्यापक दृष्टि से) के अंगभूत सम्प्रदायों का भी प्रबल प्रतिवाद किया। उनके निधन के पश्चात् आर्यावर्त में वैदिक और जैन-बौद्ध पण्डितों का परस्पर वादविवाद पर्याप्त समय तक चलता रहा। बौद्ध दार्शनिकों ने वेदांत, न्याय, मीमांसा आदि वैदिक दार्शनिक मन्तव्यों के खण्डन में बड़े तर्कपूर्ण ग्रन्थ लिखे। इसी प्रकार वात्स्यायन,

१. मुण्डकोपनिषद् २।१।२। २. कठोपनिषद् १।३।१।

उद्योतकर, उदयन वैदिक आचार्यों ने जैन, बौद्ध आदि के दार्शनिक दृष्टिकोण की समीक्षा की।

यह एक विडम्बना ही है कि शंकराचार्य ने जिस पुराण-प्रतिपादित शैव मत की समीक्षा की, उसी शैव मत के अनुयायियों ने शंकराचार्य को साक्षात् शिव का ही अवतार घोषित किया। आज भी शंकराचार्य की गद्दी पर आसीन आचार्यगण अपने आपको शैव कहलाने में गौरव का अनुभव करते हैं, जबकि उनके आदि गुरु आद्य शंकराचार्य ने शैव-मान्यताओं का कटु खण्डन किया था।

शंकर वेदान्त के खण्डन में रचित साहित्य

१. वेदान्त तत्त्व कौमुदी— म.म. आर्य मुनि
२. अद्वैतवाद— गंगाप्रसाद उपाध्याय
३. शंकर भाष्यालोचन— गंगाप्रसाद उपाध्याय
४. तत्त्वमसि अथवा अद्वैत मीमांसा— विद्यानन्द सरस्वती
५. वेदान्तः प्राचीन और नवीन— रामगोपाल शास्त्री

५ शैव सम्प्रदाय समीक्षा

मध्यकालीन आर्यावर्तीय मत-सम्प्रदायों में शैव और वैष्णव ही प्रमुख हैं। शिव के उपासक अपने आपको शैव कहते हैं। यद्यपि शैव मत का प्रचार महाभारत के बाद से ही होने लगा था, परन्तु उसको बल उस समय मिला जब शिव, लिंग आदि पुराणों की रचना हुई और शिव के नाना अवतारों का वर्णन इन ग्रन्थों में किया गया। शिव के नाना नाम वस्तुतः वेदों में ही प्रयुक्त हुए हैं। यजुर्वेद के १६ वें अध्याय में जिस 'रुद्र' का वर्णन है उसे ही पुराणकारों ने 'शिव' नाम से अभिहित किया है। इस रुद्र प्रकरण में रुद्र देवता का वर्णन है जो सेनापति,^१ देववैद्य^२ आदि के रूपों में वर्णित हुआ है। अध्याय के आरम्भ में ही रुद्र के मन्यु को नमस्कार किया गया है तथा उसकी बलशाली भुजाओं के लिये आदर व्यक्त किया है।^३ यह रुद्र देवताओं का प्रथम भिषक् है जो नाना रोगों के कीटाणु रूपी यातुधानों (राक्षसों) को नष्ट करता है। यही रुद्र नीलग्रीव, सहस्राक्ष,^४ कपर्दी,^५ आदि नामों से यजुर्वेद में वर्णित है। रुद्राध्याय के ४१ वें मन्त्र में शम्भु, शंकर, शिव आदि शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र को संध्योपासना के अन्त में नमस्कार मन्त्र के रूप में विनियुक्त किया है।

कालान्तर में वैदिक रुद्र के स्वरूप का लोप हो गया और उसके स्थान पर पौराणिक शिव-महादेव नामधारी रुद्र की कल्पना विस्तृत हुई जिसमें कैलासवासी, पार्वती-पति शंकर की सपरिकर कल्पना की गई। ब्रह्मा और विष्णु के साथ शिव को भी हिन्दू देवत्रयी में गणनीय स्थान मिला। शिव को आशुतोष कहा गया। उसके सम्बन्ध में नाना विचित्र कथाओं के अंबार लग गये। शिव पूजा तथा शैव धर्म का देश में व्यापक प्रचार हुआ। यत्र-तत्र-सर्वत्र शिवलिंगों से युक्त शिवालय ही दिखाई पड़ने लगे।

स्वामी दयानन्द स्वयं शैव सम्प्रदाय के किसी समय समर्थक रह चुके थे।^६ उनके पिता करसन जी तिवारी कट्टर शैव थे। स्वयं सामवेदी होने पर भी शैव पिता ने अपने पुत्र को आग्रहपूर्वक यजुर्वेद का अभ्यास भी इसीलिये कराया था, क्योंकि यजुर्वेद में ही रुद्र-शिव का प्रमुख रूपेण वर्णन हुआ है। कहना नहीं होगा कि मूर्तिपूजा से वितृष्णा उत्पन्न करने में भी शिव-लिंग तथा शिवरात्रि का महोत्सव ही स्वामी जी के लिये कारण बने

१. यजुर्वेद १६। २६। २. यजुर्वेद १६। ४९। ३. यजुर्वेद १६। १। ४. यजुर्वेद १६। ८। ५. यजुर्वेद १६। १०। ६. सं० १९२३ वि० में प्रथम जयपुर-प्रवास काल में।

थे। फिर भी शैव सम्प्रदाय के लिये स्वामी जी के हृदय में यत् किञ्चित् कोमलता का भाव था, यह इसी बात से प्रकट होता है कि उन्होंने शैवों को वाममार्गियों की तुलना में अधिक वेद विरोधी नहीं बताया है। अपने प्रथम बार के जयपुर-प्रवास में तो स्वामी जी ने वैष्णव मत के विरोध में खुले आम शैव सम्प्रदाय का पक्ष ग्रहण किया था। पूना में दिये अपने आत्मकथापरक व्याख्यान में उन्होंने कहा— “वहाँ (जयपुर में) मैंने वैष्णव मत का खण्डन करके शैव मत का स्थापन किया। जयपुर के महाराजा सवाई रामसिंह भी शैव मत की दीक्षा ले चुके थे। शैव मत के फैलने पर हजारों रुद्राक्ष की मालायें मैंने अपने हाथों से लोगों को पहनाईं। वहाँ शैव मत का इतना प्रचार हुआ कि हाथी-घोड़ों के गलों में रुद्राक्ष की मालायें पहनाई गईं।^१ परन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं चली। जब स्वामी जी को विदित हुआ कि शैव मत भी वेद की मौलिक शिक्षाओं से पर्याप्त दूर हट गया है, तब वे उसका भी दृढ़ता से खण्डन करने लगे।

शैव मत का प्रासंगिक उल्लेख करते हुए सत्यार्थप्रकाशकार ने आर्यावर्त के उस काल की एक झलक प्रस्तुत की है, जिस समय इस देश में संस्कृत विद्या तथा संस्कृत काव्य का प्रबल प्रचार था। भोज और विक्रमादित्य जैसे विद्या तथा संस्कृत काव्य का प्रबल प्रचार था। भोज और विक्रमादित्य जैसे विद्या लिप्सु राजाओं का आश्रय ग्रहण कर कालिदास जैसे कवियों ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। कालिदास तथा उसके आश्रयदाता राजा को लेकर संस्कृत वाङ्मय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। वस्तुतः वह युग देश में सुख, शांति, वैभव और सांस्कृतिक गरिमा का युग था। अतः लोगों का ध्यान काव्य कला और मनोविनोद की ओर ही अधिक था। स्वामी दयानन्द जैसे संशोधक एवं धर्म, समाज एवं राष्ट्र में सर्वतोन्मुखी क्रान्ति के विधाता महापुरुष के लिये काव्य आदि ललित कलाओं के प्रति आसक्ति दिखाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, अतः उन्होंने कालिदास तथा उसके रघुवंश आदि काव्यों का विशेष नोटिस नहीं लिया और न उन्हें महत्व ही दिया।

शैव सम्प्रदाय की यहाँ संक्षिप्त आलोचना की गई है। वस्तुतः मध्य काल में शैव-वैष्णव विवाद पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था। सम्प्रदायों के पक्षपात और अभिनिवेश में ग्रस्त मताग्रही लोग अपने-अपने मत-पन्थों में स्वीकृत बाह्य कर्मकांड, पूजा-उपासना की बाह्य विधियों पर ही अधिक जोर देते थे। उन्हें केवल अपने सम्प्रदाय की बातों के प्रति आसक्ति, विश्वास या श्रद्धा प्रकट करने मात्र से ही संतोष नहीं होता था, इसके विपरीत वे अन्य विरोधी सम्प्रदायों के क्रिया-कलामों, पूजा-पद्धतियों और मत-विश्वासों का उपहास करने में भी कम रस नहीं लेते थे। परिणाम यह होता कि सारा धार्मिक जगत् साम्प्रदायिक कलह और परस्पर की निन्दा स्तुति का अखाड़ा बनकर रह जाता था।

अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में स्वामी दयानन्द ने एतद्देशीय मत-सम्प्रदायों के

१. पूना प्रवचन (डा० भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित तथा वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित)

इस मायाजाल को अत्यन्त निकटता से देखा था, अतः वे 'सत्यार्थप्रकाश' में इन सबकी तलस्पर्शी समीक्षा करने में सक्षम हुए हैं। शैव मतानुयायी भस्म^१ और रुद्राक्ष^२ करने में ही महान् पुण्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में जो मनुष्य अपने कपाल पर भस्म और कंठ में रुद्राक्ष धारण नहीं करता, वह धिक्कार के योग्य है। साम्प्रदायिक अभिनिवेश के युग में उपनिषद् नामधारी ऐसे बहुत से ग्रन्थ लिखे गये जिनमें सम्प्रदाय विशेष के कर्मकाण्ड-पूजापाठ तथा उसके मान्य पूजा-अर्चना के उपकरणों का ही स्तवन किया गया था। एक ऐसे ही रुद्राक्ष जाबाल उपनिषद्^३ के दो श्लोकों को उद्धृत कर सत्यार्थप्रकाशकार ने शंका की है कि क्या रुद्राक्ष धारण करने मात्र से ही कोई धर्मात्मा हो सकता है? शैव सम्प्रदाय में शिव को ही सर्वोपरि आराध्य परम तत्त्व माना है। शिव

१. भस्म-धारण की नाना विधियाँ शैव शाक्त ग्रंथों में लिखी हैं। शूद्रों के लिये ब्राह्मण के रसोईघर की भस्म धारण करने का विधान है—

“शूद्राणां श्रोत्रियागार पचनाग्नि समुद्भवम्” देवीभागवत् शिरोव्रत विधि श्लोक ५ विभूति धारण से साधक शिवतुल्य हो जाता है। भस्म धारण का यह विधान स्मृतिप्रोक्त बताया गया है—

विभूति धारण विधिः स्मृतिप्रोक्तो मयेरितः ।

यदीयाचरणेनैव शिवतुल्यो न संशयः । ।

२. रुद्राक्ष धारण माहात्म्य का तो बड़ा आडम्बरपूर्ण वर्णन इन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यथा—

रुद्राक्ष धारणं साक्षाच्छिवज्ञानस्य साधनम् । । २० रुद्राक्ष माहात्म्य (देवी भागवत) । ।

रुद्राक्षधारिणः पादौ प्रक्षाल्यादिभः पिबेन्नरः ।

सर्वपाप विनिर्मुक्तः शिवलोके महीयते । । २८

रुद्राक्षधारी के चरणों को धोकर पीने वाला सब पापों से मुक्त होकर शिवलोक को प्राप्त होता है।

अश्वमेध सहस्रस्य वाजपेय शतस्य च ।

गवां शतसहस्रस्य सम्यग्दत्तस्य यत्फलम् । ५४ ।

तत्फलं लभते शीघ्रं वक्त्रैकादश धारणात् । ५५ ।

सहस्र अश्वमेध, सौ वाजपेय यज्ञ अथवा एक लाख गौओं के दान का जो फल होता है वह फल एकादशमुखी रुद्राक्ष धारण करने से सहज ही हो जाता है।

३. यह अर्वाचीन उपनिषद् किसी रुद्राक्ष प्रेमी न ही बनाया है। देवी भागवत में भी इसका संकेत इस प्रकार उपलब्ध होता है—

सर्वं तरति पाप्मानं जाबालश्रुतिराह हि ।

पशवोऽपि रुद्राक्ष धारणाद्यान्ति रुद्रताम् । ।

पापी मनुष्य भी रुद्राक्ष धारण करने से तर जाते हैं। रुद्राक्षधारी पशु भी शिवत्व को प्राप्त होते हैं।

४. देवी भागवत के रुद्राक्ष प्रकरण के निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—

किमत्र बहुनोक्तेन वर्णनेन पुनः पुनः ।

रुद्राक्ष धारणं नित्यं तस्मादेतत्प्रशस्यते । ।

अधिक क्या कहें, नित्य रुद्राक्ष धारण अत्यन्त प्रशस्त कर्म है।

स्नाने दाने जपे होमे वैश्वदेवे सुरार्चने ।

प्रायश्चित्ते तथा श्राद्धे दीक्षाकाले विशेषतः । ।

अरुद्राक्षधरो भूत्वा तत्किंचित्कर्म वैदिकम् ।

कुर्वन्चिप्रस्तु मोहेन नरके पतति ध्रुवम् । ।

विशेष रूप से स्नान, दान, जप, होम, वैश्वदेव यज्ञ, देव पूजन, प्रायश्चित्त, श्राद्ध, दीक्षा आदि कर्म रुद्राक्ष धारण किये बिना किये जायें तो इन कर्मों का कर्त्ता ब्राह्मण नरकगामी होता है

की तुलना में अन्य सभी देवता हेय तथा तिरस्कार के पात्र हैं। ऐसी आपातरमणीय पुरोणोक्तियों का यहाँ किंचित् दिग्दर्शन कराना आवश्यक है—

लिंगपुराण में कहा है—

शिवलिंगं समुत्सृज्य यजन्ते चान्य देवताः ।

स नृपः सहदेशेन रौरवं नरकं व्रजेत् ॥

जिस राजा के राज्य में शिव को छोड़कर अन्यदेवता की पूजा की जाती है, वह राजा अपने देश सहित रौरव नरक में जाता है ।

शिव भक्तो न यो राजा भक्तोऽन्येषु सुरेषु च ।

स्वपतिं युवतिस्त्यक्त्वा यथा जारेषु राजते ॥

शिव को छोड़कर अन्य देवताओं की भक्ति करना ऐसा ही है जैसे कोई नारी अपने पति को त्यागकर अन्य जार पुरुष में आसक्त हो ।

पद्मपुराण में लिखा है—

अपूजयित्वा चेशानं यो हि भुङ्क्ते नराधम ।

पापमन्नरूपाणां तस्य भोजनमुच्यते ॥

बिना शिव की पूजा किये जो मनुष्य भोजन करता है, उसका भोजन पापान्न रूप कहलाता है ।

शिवपुराण में लिखा है—

विभूतिर्यस्य नो भाले नांगे रुद्राक्षधारणम् ।

नास्ये शिवमयी वाणी तं त्यजेदधर्मं यथा ॥

जिसके मस्तक पर विभूति नहीं है, जिसने अपने अंगों पर रुद्राक्ष धारण नहीं किया, जिसकी वाणी शिव का उच्चारण नहीं करती, उसे अधम जान कर त्याग देना चाहिए ।

धिग्भस्मरहितं भालं धिग्ग्राममशिवालयम् ।

धिगनीशार्चनं जन्म धिग्विद्यामशिवाश्रयाम् ॥

भस्म रहित मस्तक, शिवालय रहित ग्राम, शिवपूजन रहित जन्म तथा शिव आश्रय-हीन विद्या को धिक्कार है ।

शैव पुराणों में मात्र शिव प्रशंसा ही होती, तब भी कोई बात नहीं थी । परन्तु इन साम्प्रदायिक दृष्टि से लिखे गये ग्रन्थों में तो अन्य देवताओं के यजन-पूजन यहाँ तक कि दर्शनमात्र से ही शिवद्रोह उत्पन्न होना माना गया है । साम्प्रदायिक द्वेष भाव की पराकाष्ठा निम्न श्लोकों में दिखाई पड़ती है ।

विष्णुदर्शनमात्रेण शिवद्रोहः प्रजायते ।

शिवद्रोहान्न सन्देहो नरकं याति दारुणम् ॥

तस्माद् विष्णुनामानि न वक्तव्यं कदाचन । ।

अर्थात् विष्णु के दर्शन करने मात्र से ही शिव का द्रोह होता है । शिवद्रोही को दारुण नरक की प्राप्ति होती है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है । इसलिये विष्णु का नाम कभी नहीं लेना चाहिये । शैवों की दृष्टि में जिस प्रकार श्मशानकाष्ठ सर्व कर्म बहिष्कृत होती है, उसी प्रकार चक्रांकित ब्राह्मण भी सब वर्णों से बहिष्कृत हो जाता है—

यथा श्मशान काष्ठं सर्वकर्म बहिष्कृतम्

तथा चक्रांकितो विप्रस्सर्ववर्णबहिष्कृतः । ।

शैव लोगों ने शिव का लिंगाकृति में पूजन प्रचलित किया । स्पष्ट ही शिव मंदिरों में स्थापित शिव लिंग पुरुष शिश्न का ही प्रतीक है । यद्यपि आजकल एक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है कि हम अपने देश के मध्यकालीन मूढ़ आचार-विचारों तथा अंधविश्वासों की भी नूतन वैज्ञानिक व्याख्या कर येन केन प्रकारेण उनका औचित्य सिद्ध करने लगते हैं, किन्तु ऐसी तथाकथित व्याख्यायें बहुत दूर तक हमारा साथ नहीं देतीं । यही बात 'शिवलिंग पूजा' पर भी घटित होती है । प्रायः पौराणिक पण्डितों का इस बात में बड़ा आग्रह रहता है तथा वे शिवलिंग को पुरुषेन्द्रिय का चिह्न स्वीकार करने में संकोच करते हैं और इसे ब्रह्माण्ड का नक्शा तथा न जाने किन-किन वस्तुओं का प्रतीक बताते हैं । परन्तु सम्पूर्ण शैव साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात् यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिव लिंग पुरुष शिश्न का ही प्रतीक है तथा जिस जलाधारी पर इसे स्थित किया जाता है वह पार्वती की योनि का प्रतीक है । लोक में शिवलिंग की पूजा क्यों प्रचलित हुई, इसके अनेक विचित्र कारण पुराणों में उपलब्ध होते हैं । भविष्यपुराण के अनुसार जब ब्रह्मा, विष्णु और महादेव तीनों देवताओं ने मिलकर अनुसूया के सतीत्व को भंग करने का प्रयास किया तो उसे सती नारी ने शाप देते हुए कहा—

महादेवस्य वै लिंगं ब्रह्मणोऽस्य महाशिरः ।

चरणो वासुदेवस्य पूजनीयो नरैस्सदा । ।

अर्थात् मेरे शाप के कारण महादेव की उपस्थेन्द्रिय, ब्रह्मा का सिर तथा विष्णु का चरण संसार में पूजे जायेंगे ।

पद्म पुराण में शिवलिंग-पूजा का करण भृगु का शाप बताया गया है । शिव को शाप देते हुए भृगु ने कहा—

नारीसंगममत्तौऽसौ यस्मान्मामवमन्यते ।

योनि लिंग स्वरूपं वै रूपं तस्मात्तस्य भविष्यति । ।

नारी संग में मत्त इस शिव ने मेरा अपमान किया है, अतः ये दोनों (शिव-पार्वती) योनि, लिंग रूप प्राप्त करेंगे। भृगु को शाप देकर ही संतोष नहीं हुआ, उसने शिव के अनुयायियों को लिंग और अस्थि धारण करने, पाखण्डी होने तथा वेद बाह्य होने का भी शाप दिया—

रुद्र भक्ताश्च ये लोके भस्म लिंगास्थिधारिणः ।

ते पाखण्डत्वमापन्ना वेदबाह्याः भवन्तु वै । ।

इसी प्रकार शिवपुराण में दारुवन की कथा वर्णित है।

उस कथा में भी शिव द्वारा तपस्वी निवास में जाकर विविध कामज चेष्टायें करना तथा उनके इस निर्लज्ज कृत्य से कुछ ऋषियों द्वारा शिवलिंग का भूमि पर गिरने का शाप देने आदि का वर्णन है। पुराणों की इन कथाओं के रहते यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता है कि शैव सम्प्रदाय में पूजे जानेवाले शिवलिंग पुरुषेन्द्रिय से भिन्न हैं। हिन्दुओं में प्रचलित इस शिशन पूजा के कारण विदेशी लेखकों तथा परमतावलम्बी प्रचारकों ने हमारी संस्कृति का उपहास किया है, यह स्पष्ट है। स्वामी दयानन्द ने इसी बात पर खेद व्यक्त करते हुए लिखा— “इन वामामार्गी और शैवों ने सम्मति कर के भग लिंग का स्थापन किया जिसको जलाधारी और लिंग कहते हैं और उसकी पूजा करने लगे। उन निर्लज्जों को तनिक भी लज्जा नहीं आई कि यह पामरपन का काम हम क्यों करते हैं?”

साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह मनुष्य को कितना अन्धा तथा मूढ़ बना देता है यह इसी बात से स्पष्ट है कि मध्यकालीन हिन्दू धर्म के अनुयायियों में सहिष्णुता तथा उदारता का भाव लेशमात्र नहीं रहा। इधर मुसलमानों के स्थायी रूप से जम जाने तथा राजकाज में फारसी आदि भाषाओं के निर्बाध प्रयोग ने विदेशी सम्पर्क को अनिवार्य बना दिया। अब धर्माचार्यों को यह चिन्ता हुई कि यदि हिन्दू लोग यावनी भाषायें पढ़ जायेंगे तो वे निस्संकोच रूप से अन्य मतावलम्बियों के साथ अपना स्वतन्त्र सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे। ऐसा होने पर पुरोहित वर्ग का आधिपत्य जन-साधारण पर से समाप्त हो जायेगा। फलतः उन्होंने धर्म और जाति-पाँति के बन्धनों को और कड़ा किया। किसी भी प्रकार का सम्पर्क और सम्बन्ध यवन तथा जैन मतावलम्बियों से न कर सकें, इसके लिए कठोर नियम बनाये गये। भविष्य पुराण में लिखा है—

न वदेद्यावनी भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि ।

हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमंदिरम् । ।

अर्थात् प्राण कण्ठगत ही क्यों न हों, यावनी भाषा कभी नहीं बोले, हाथी से पीड़ित होने पर भी जैन मंदिर में जाकर शरण न लेवे। साम्प्रदायिक संकीर्णता तथा दुराग्रह की यह चरम सीमा थी।

६ अष्टादश पुराणों का लेखन-काल तथा महाभारत में प्रक्षेप

वस्तुतः यह सारा साम्प्रदायिक ताना-बाना जिन ग्रन्थों के आधार पर बुना गया था, वे थे अठारह पुराण। यद्यपि ये समय-समय पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखे गये किन्तु पुराण मतावलम्बियों ने उन्हें कृष्णद्वैपायन व्यास प्रणीत ही माना। स्वामी दयानन्द ने पुराणों की अर्वाचीनता का भली प्रकार विचार किया था। वे अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर सके थे कि पुराणों की रचना न तो एक समय में हुई है और न उनका रचनाकाल भी एक है। वस्तुतः पुराणों का रचनाकाल वही है जब देश में शैव और वैष्णव सम्प्रदायों का एकच्छत्र शासन था। गुप्तवंशी राजा वैष्णव मतावलम्बी थे। उनके पूर्व के राजा शैव थे। उसी काल में अपने-अपने सम्प्रदायों का महत्त्व निरूपित करने के लिये व्यास के नाम से भिन्न-भिन्न शैव और वैष्णव पुराणों की रचना हुई।

शिव पुराण और मार्कण्डेय पुराण की रचना राजा भोज के राज्यकाल में व्यास के नाम से हुई। जब शासक राजा को यह ज्ञात हुआ कि साम्प्रदायिक पण्डित अपने अभीष्ट की पूर्ति के लिये पुरातन व्यासादि महर्षियों के नाम से पुराणों की रचना कर रहे हैं तो उन्होंने इन तथाकथित पंडितों को दण्डित कर यह आदेश प्रचारित किया कि जो व्यक्ति कोई नवीन ग्रन्थ-रचना करे वह अपने नाम से ही करे, न कि प्राचीन ऋषि-मुनियों के नाम से। स्वामी जी ने राजा भोज के इस आदेश का उल्लेख संजीवनी नामक एक इतिहास-ग्रन्थ के आधार पर किया है। १८७५ ई० के वर्ष में पूना नगर में दिये अपने प्रवचनों में भी स्वामी जी ने इस ग्रन्थ का उल्लेख किया—“वालियर के भिंड नामी नगर में तिवाड़ी लोग रहते हैं। उनके पास संजीवनी नामक एक पुस्तक है, उसमें महाभारत के विषय में ऐसा लिखा है कि व्यास ने पहले चार हजार चार सौ श्लोक बनाये, फिर उसके बाद व्यास के शिष्यों ने चार हजार के दस हजार कर दिये। इसके बाद फिर भरती होती चली गई। जिस समय जैन मत उन्नति पर था, उस समय केवल ब्रह्मवैवर्त और वायु पुराण आदि दो-तीन पुराण मालूम थे। आजकल कहने को तो केवल अठारह ही पुराण हैं किन्तु यह निश्चय करना कठिन है कि वास्तव में कितने पुराण हैं।”

वस्तुतः पुराणों का रचनाकाल अधिक प्राचीन नहीं है और न ये एक व्यक्ति द्वारा ही लिखे गये हैं। इन्हें व्यासकृत कहना तो सहास मात्र है। स्वयं सत्यार्थप्रकाश में ही

१. पूना प्रवचन डॉ० भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित तथा वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित

ऋषि दयानन्द ने पुराणों के व्यासकृत न होने के विषय में तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखा— “जो अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यास होते तो उनमें इतने गपोड़े न होते क्योंकि शारीरिक सूत्र, योगशास्त्र के भाष्य आदि व्यासोक्त ग्रन्थों के देखने से विदित होता है कि व्यास जी बड़े सत्यवादी, धार्मिक योगी थे। वे ऐसी मिथ्या कथा कभी न लिखते और इससे यह सिद्ध होता है कि जिन सम्प्रदायी परस्पर विरोधी लोगों ने भागवतादि नवीन कपोल कल्पित ग्रन्थ बनाये हैं उनमें व्यास जी के गुणों का लेश भी नहीं था और वेदशास्त्र विरुद्ध असत्यवाद लिखना व्यास सदृश विद्वानों का काम नहीं।”

उक्त कथन का अभिप्राय यही है कि व्यास के द्वारा रचित वेदान्त-दर्शन आदि ग्रन्थों को देखते हुए यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि इतनी योग्यता रखने वाला उच्चकोटि का दार्शनिक विद्वान् पुराणों जैसे साधारण घटिया कोटि के ग्रन्थों की रचना करे। किसी भी लेखक द्वारा रचित ग्रन्थों में विषय, भाषा और अभिव्यंजना विषयक समानताओं का पाया जाना आवश्यक है। परन्तु पुराणों में विषय-प्रतिपादन और शैलीगत विरोधों को देखते हुए उन्हें एक ही व्यक्ति की रचना कैसे कहा जा सकता है?

ऋषि दयानन्द के परवर्ती अनेक विद्वान् भी पुराणों के रचनाकाल के सम्बन्ध में यही सम्मति रखते हैं और उन्हें महाभारत के बहुत बाद के समय का मानते हैं। सुप्रसिद्ध बंगाली लेखक श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने लिखा “वर्तमान अष्टादश पुराण एक मनुष्य के बनाये या एक समय विभक्त या संगृहीत हुए हैं ऐसा मालूम नहीं पड़ता। यह पृथक्-पृथक् समय में संगृहीत हुए हैं।” अपने इस कथन को सिद्ध करने के लिए उन्होंने निम्न प्रमाण दिये हैं—

(१) एक लेखक की लेखन-शैली एक सी होती है, परन्तु पुराणों की लेखन-शैली में भिन्नता है।

(२) एक व्यक्ति एक ही विषय के अनेक ग्रन्थ नहीं लिखता, जो अनेक ग्रन्थ लिखता है, वह एक ही विषय को बारबार वर्णन करने के लिये नहीं लिखता।

(३) एक ही लेखक की रचना में पारस्परिक विरोध की सम्भावना नहीं रहती। ये सब दोष पुराणों में न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र मिलते हैं। अतः सिद्ध है कि पुराण एक ही व्यक्ति की रचना नहीं हैं।^१

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध वैदिक विद्वान डा० सम्पूर्णानन्द जी की सम्मति भी द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं— “यह मानना कि सारे पुराण व्यास जी के कहे या लिखे हैं, व्यासजी का उपहास करना है। उनको ऐसी भौड़ी बातों के लिये जो श्रुति, तर्क और इतिहास के विरुद्ध हैं, दायी बताना अन्याय है। पुराणों का अन्तःसाक्ष्य बतलाता है कि वह न तो

१. श्री कृष्ण चरित्र पृ० ८९ (पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी द्वारा मूल बंगला ग्रन्थ का अनुवाद)।

२. वही पृ० ८५।

एक समय के बने हैं न एक व्यक्ति उनका रचयिता है।'' पुराणों के व्यासकृत होने में पुनः शंका उपस्थित करते हुए डा० सम्पूर्णानन्द ने अपने एक भाषण में कहा— 'पुराणों के कर्ता व्यास माने जाते हैं परन्तु उपलब्ध पुस्तकों को देखकर मानना कठिन हो जाता है कि इन सबका रचयिता एक ही व्यक्ति था।''

अब तो स्वयं पुराण-मतावलम्बी ही इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि अठारह पुराण जिस स्थिति में मिलते हैं उन्हें व्यास-रचित कहना उचित नहीं। 'कल्याण' के ब्रह्मवैवर्त पुराण विशेषांक में यह पूर्ववक्ष उठाया गया है। "कुछ लोग यह शंका करते हैं कि यदि सब पुराण केवल व्यास के ही बनाये हैं तो उनमें पुनरुक्तियाँ क्यों हैं? उनकी रचना में भाव, भाषा, मुहाविरा और वर्णन-शैली आदि की दृष्टि से इतना अन्तर क्यों प्रतीत होता है? विभिन्न पुराणों में विभिन्न देवताओं को सर्वश्रेष्ठ बताने का रहस्य क्या है? क्या एक ही लेखक अपने ग्रन्थों में परस्पर विरुद्ध मत की स्थापना कर सकता है? पुराणों का स्वाध्याय करने से कोई भी निष्पक्ष विचारक यह मानने को तैयार नहीं होगा कि सभी पुराण एक लेखक की रचनायें हैं, अथवा एक ही लेखनी से निर्गत हुए हैं।''

इस स्वस्थापित पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए उक्त लेखक लिखते हैं— 'हम पहले बतला चुके हैं कि पुराण वेदों के समान ही प्राचीन और अनादि काल से प्रचलित हैं। वे व्यासदेव से भी पहले के हैं। पुराणों के पाठक यह भी जानते हैं कि सभी पुराणों के वक्ता और श्रोता भिन्न-भिन्न हैं और वे पुराण भिन्न-भिन्न देश-कालों में सुने तथा कहे गये हैं। यहाँ तक कि उनकी कथाओं की अवतारणा भी भिन्न-भिन्न कार्यों, कल्पों के सर्ग की प्रक्रिया तथा लोकवृत्त को ही लेकर हुई है। ऐसी दशा में यह प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए कि वे एक लेखक की रचना हैं अथवा एक ही लेखनी से निर्गत हुए हैं। जब वक्ता भिन्न-भिन्न हैं तब उनकी भाषा और वर्णन शैली में एकता कैसे रहे? एकता होनी ही आश्चर्य की बात होती, अन्तर होना तो गुण है, उनकी स्वाभाविकता और यथार्थता का परिचायक है। व्यास जी ने उन विभिन्न काल के लोक-प्रचलित प्रवचनों का संकलनमात्र किया है और उन्हें अठारह भागों में बाँटकर अपने व्यास नाम को सार्थक किया है। व्यास का अर्थ यहाँ सम्पादक समझना चाहिए।''

चलिए एक कुम्भ तो टूटा। आज तक तो यह कहा जाता था कि अठारह पुराण व्यासकृत हैं और पुराणों की प्रत्येक पंक्ति को व्यासोक्त होने के कारण आर्ष और प्रामाणिक माना जाता था, परन्तु अब व्यास जी पुराणों के लेखक न रहकर सम्पादक मात्र ही रह गये हैं। शायद एक स्थिति ऐसी भी आये जब उनका पुराणों से कोई सम्बन्ध ही न रहे। परन्तु उपर्युक्त समाधान में भी हमें कई बातें आपत्तिजनक एवं संदेहास्पद् प्रतीत होती

१. कल्याण : ब्रह्मवैवर्तपुराणांक पृ० ६ पाण्डेय श्री रामनारायणदत्त शास्त्री का लेख।

है। प्रथम तो वेदों के समान पुराणों को प्राचीन और अनादि काल से प्रचलित मनना भूल है। यह कथन भी साध्य कोटि में ही है कि वे व्यास देव के भी पहले के हैं। पुराणों की कथाओं को विभिन्न कल्पों की बताकर उनकी परस्पर विरुद्धता के दोष ढूँढ़ने का प्रयास तो बाल चेष्टा ही है क्योंकि जिन कथाओं में कुछ भी सम्भवता, स्वाभाविकता तथा संगति नहीं है तथा जो विभिन्न ढंगों से वर्णित हुई हैं उन्हें विभिन्न कल्पों में घटित बताकर अपने मन को तो संतोष दिया जा सकता है किन्तु शंका का समाधान नहीं किया जा सकता।

हमारे कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि प्राचीन काल में 'पुराण' नाम वाले किन्हीं ग्रन्थों का अस्तित्व ही नहीं था। 'पुराण' शब्द का प्रयोग तो अथर्ववेद में भी मिलता है^१ परन्तु यहाँ उसका अभिप्राय किसी ग्रन्थ विशेष से नहीं है क्योंकि वेदों में व्यक्ति वाचक नाम नहीं मिलते। अथर्ववेद के अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद्, मनुस्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी पुराणों का उल्लेख हुआ है। उपर्युक्त आर्ष ग्रन्थों में प्रयुक्त 'पुराण' शब्द का अर्थ करते हुए स्वामी दयानन्द ने 'ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति' इस ब्राह्मण वचन को उद्धृत कर लिखा है कि ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों ही के इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पाँच नाम हैं।^२ दयानन्द के ही समाकलीन बंकिमचन्द्र ने भी उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए लिखा "पुराण का अर्थ पहले पुरातन था। पीछे पुरातन घटनाओं का वर्णन हुआ। शतपथ ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण, छान्दोग्योपनिषद्, आश्वलायन गृह्य सूत्र, अथर्वसंहिता, बृहदारण्यक, महाभारत, रामायण, महाभारत, मानव धर्मशास्त्र में, जहाँ देखो पुराणों के होने की बात पाई जाती है। किन्तु इन सब ग्रन्थों में किसी में भी आजकल के पुराणों का नाम नहीं है।"^३

बंकिम के मत में शायद व्यास ने कोई मूल पुराण संहिता बनाई थी और उसका अध्ययन उसने अपने शिष्यों को कराया था, परन्तु आज वह प्राप्त नहीं है। कालान्तर में आधुनिक अठारह पुराण ही व्यास के नाम से प्रसिद्ध हो गये। बंकिम के इस मत में कोई विशेष त्रुटि दृष्टिगोचर नहीं होती क्योंकि यह तो वे मान ही चुके हैं कि प्रचलित पुराण व्यासकृत नहीं हैं।

पुराणों की अर्वाचीनता—

जब यह सिद्ध हो चुका कि पुराण व्यासकृत नहीं है तो महाभारत युद्ध से उनका

१. ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

उच्छिष्टाज्जिरे सर्वे देवा दिविश्रिताः ॥ अथर्व ११।७।२४॥

२. सत्यार्थप्रकाशः : एकादश समुल्लास।

३. कृष्णचरित्र पृ० ८८।

परवर्ती होना तो अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः इनका रचना-काल एक नहीं है। वायु और मत्स्य पुराण पर्याप्त प्राचीन हैं। विष्णु पुराण के कतिपय अंश भी पुराने हैं, परन्तु भागवत और ब्रह्मवैवर्त तो अत्यधिक नवीन ग्रन्थ हैं। पुराणों की अर्वाचीनता तथा उनकी विकासशीलता को सिद्ध करने के लिए विभिन्न प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। पुराणों में बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि अवैदिक मतों का उल्लेख,^१ रामानुजीय चक्राकित वैष्णव मत का संकेत,^२ शांकर मायावाद का खण्डन,^३ जगन्नाथ मंदिर का उल्लेख^४ तथा मुसलमान शासन काल की घटनाओं का उल्लेख^५ यह सिद्ध करते हैं कि पुराणों की रचना तथा उनमें प्रक्षेप समय-समय पर होते रहे हैं। भविष्य पुराण नाम से जो पुराण उपलब्ध है उसमें तो भारत पर मुसलमानी आक्रमण, अंग्रेजी शासन, १८५७ की राज्यक्रान्ति, महारानी विक्टोरिया का शासन, ब्रिटिश पार्लियामेंट तक का उल्लेख मिलता है।

पुराणों में प्रक्षेप—

जो लोग पुराणों को शास्त्र की कोटि में परिगणित करते हैं, उन्हें प्रामाणिक मानते हैं और व्यासप्रणीत मानकर आर्ष ग्रन्थों के तुल्य सम्मान देते हैं वे भी इस बात से सहमत हैं कि अधुना उपलब्ध पुराण नामधारी रचनाओं में बहुत से नवीन विषय कालान्तर में प्रक्षिप्त किये गये हैं। तब यदि वादितोष न्याय से यह मान भी लिया जाय कि पुराणों का रचना-काल अत्यन्त प्राचीन है और उनमें काम की बहुत सी बातें हैं तब भी उनमें मिलाये गये परवर्ती अंशों का विचार और उनका पृथक्करण एक बहुत बड़ी समस्या बन जायेगी। पुराणों के प्रसिद्ध समर्थक पं० जवालाप्रसाद मिश्र ने पुराणों में मिलने वाले गोलमाल का दायित्व बौद्धों पर डालते हुए लिखा है— “बौद्धों ने हमारे धर्मग्रन्थों को इतना नष्ट-भ्रष्ट किया था कि उनके पीछे वे अपना असली स्वरूप प्राप्त न कर सके।” जब पुराणों की

१. द्रष्टव्य-विष्णु पुराण के निम्न श्लोक—

आर्हतैतं महाधर्मं मायामोहेन ते यतः ।

प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हता स्तेन तेऽभवन् ॥ ३।१८।१२

इस श्लोक में आर्हत (जैन) मत का उल्लेख है।

इसी प्रकार—

एवं बुध्यत बुध्यध्वे बुध्यतैवमितीरयन् ।

माया मोहः सदैतेयान्धर्ममत्याजयन्निजम् ॥ ३।१८।१९

इस श्लोक में बौद्ध धर्म का संकेत है।

२. शंख चक्र तापयित्वा यस्य देहः प्रदह्यते ।

स जीवन् कुणपस्त्याज्यः सर्वं कर्म बहिष्कृतः ॥ लिंग पुराण

३. मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च ।

मयैव कथिता देवि कली ब्राह्मणरूपिणा । पद्मपुराण (विज्ञानभिक्षु कृत सांख्य प्रवचन भाष्य में उद्धृत)

४. स्कन्दपुराण

५. भविष्यपुराण

यही स्थिति है तो उनकी प्रामाणिकता के लिए आग्रह क्यों किया जाता है?

ब्रह्मवैवर्त पुराण के हिन्दी अनुवादक पं० रामनारायणदत्त शास्त्री भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। वे लिखते हैं— “विभिन्न स्थानों से प्रकाशित पुराणों की प्रतियों में जो महान् पाठभेद तथा न्यूनाधिक प्रसंग पाये जाते हैं, उन्हें देखते हुए यह स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ता है कि पुराणों में समय-समय पर कुछ प्रसंग खण्डित हुए या छूट गये हैं, साथ ही कुछ अंश जोड़े और घटाये भी गए हैं।”^१ एक अन्य लेखक की भी सम्मति द्रष्टव्य है— “कालक्रम से पुराणों में नूतन आख्यान संयोजित हो गये हैं। मौलिक पुराण आज नहीं मिलते। आपस्तम्ब धर्म-सूत्र में भविष्य पुराण का एक श्लोक उद्धृत हुआ है परन्तु वह श्लोक आज उपलब्ध भविष्यपुराण में नहीं मिलता। १३ वीं शताब्दी में निर्मित कोर्णाक मंदिर का वर्णन तथा रानी विक्टोरिया का उल्लेख भी पुराणों में दिखाई देता है। इन पुराणों में क्रमशः परिवर्तन हुआ है।”

पुराणों का त्रिविध वर्गीकरण

अष्टादश पुराणों में भी सब पुराण समान महत्त्व के तथा समान श्रद्धा के भाजन नहीं हैं। सात्विक, राजस और तामस भेद से उनका त्रिविध वर्गीकरण हुआ है। मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कन्द और अग्नि ये तामस पुराण हैं। विष्णु, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म और वराह सात्विक कोटि के हैं। शेष ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन और ब्रह्म राजस संज्ञा के हैं। अठारह पुराणों की गणना में कौन-सी कृतियाँ आती हैं, इस पर भी पुराणों में परस्पर सहमति नहीं है। मार्कण्डेय के अनुसार नृसिंह पुराण अठारह के अन्तर्गत है, किन्तु लिंगपुराण बहिष्कृत है। ब्रह्मपुराण के अनुसार लिंग पुराण स्वीकृत है परन्तु नृसिंह इस गणना में नहीं आता। इसी प्रकार भागवत पुराण के स्वरूप को लेकर वैष्णव और शाक्त सम्प्रदायों में बड़ा भारी विवाद है। शाक्त लोग देवी भागवत को महापुराण की संज्ञा देते हैं जबकि वैष्णवों के अनुसार श्रीमद्भागवत को महापुराण स्वीकार किया गया है। इस विवाद को विभिन्न साम्प्रदायिक ग्रन्थों में तीव्र आक्रोशपूर्वक उपस्थित किया गया है।^२

पुराणों के स्वरूप और स्थिति पर ऊपर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। इस

१. कल्याण : ब्रह्मवैवर्त पुराणांक

२. भागवत के पुराण होने के बारे में बड़े झगड़े हुए हैं। शाक्त कहते हैं, यह पुराण ही नहीं है, देवी भागवत ही भागवत पुराण है। यह लोग ‘भागवतं इदं भागवतं’ न कह ‘भागवत्या इदं भागवतम्’ यह अर्थ करते हैं। कुछ लोग इस प्रकार की शंका करते हैं। इसी से श्रीधर स्वामी— भागवत के पहले श्लोक की टीका में लिखते हैं— “भागवतं नामान्यदित्यपि न शङ्कनीयम्” इससे यह समझना होगा कि श्रीधर स्वामी के पहले से यह झगड़ा है कि भागवत पुराण नहीं है, देवी भागवत ही असली पुराण है। उस समय दोनों मतवालों ने अपने-अपने पक्ष के समर्थन में जो पुस्तक लिखी हैं, उनके नामों से परिमार्जित रुचि (?) का परिचय मिलता है। एक पुस्तक का नाम है ‘दुर्जन मुख चपेटिका।’ इसके उत्तर में जो पुस्तक बनीं उनके नाम ‘दुर्जन मुखमहाचपेटिका’ और दुर्जनमुख पद्मपादुका है।” श्रीकृष्णचरित्र पृ० ७७।

विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपलब्ध पुराणों को ऋषिप्रोक्त ग्रन्थों की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वे न तो व्यास-रचित ही हैं और न ऐतिहासिक सामग्री के लिये उन पर अधिक विश्वास ही किया जा सकता है। इनमें साम्प्रदायिक अभिनिवेश की जो पराकाष्ठा दृष्टिगोचर होती है उससे यह सहज निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन ग्रन्थों की रचना उस मध्यकाल में हुई जब शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदाय अपना संकीर्ण रूप विकसित कर चुके थे और इन सम्प्रदायानुयायियों में परस्पर आरोप-प्रत्यारोप का बाजार गर्म था।

महाभारत में प्रक्षेप

मध्यकालीन युग में व्यासादि ऋषियों के नाम से कपोलकल्पित पुराणादि ग्रन्थों की रचना के साथ-साथ प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में यथेच्छ प्रक्षेप भी होते रहे। कालान्तर में प्रक्षिप्त श्लोकों के कारण किसी ग्रन्थ का मूल कलेवर किस प्रकार बृहदाकार धारण कर लेता है, इसका एक उदाहरण महाभारत है। स्वामी दयानन्द ने इस सम्बन्ध में लिखा— “व्यास जी ने चार सहस्र चार सौ और उसके शिष्यों ने पाँच सहस्र छः सौ श्लोक युक्त अर्थात् दस सहस्र श्लोकों के प्रमाण भारत बनाया था।” उपर्युक्त संजीवनी इतिहास के आधार पर महाभारत में प्रक्षेपों का उल्लेख करते हुए स्वामी दयानन्द महाराज भोज की साक्षी से लिखते हैं— “वह (महाभारत) महाराज विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराज भोज कहते हैं कि मेरे पिताजी के समय में पच्चीस और अब मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोक युक्त महाभारत की पुस्तक मिलती है। जो ऐसे ही बढ़ता चला, तो महाभारत की पुस्तक एक ऊँट का बोझ बन जाएगी।”

वास्तव में ऐसा ही हुआ। आज महाभारत एक ऊँट के बोझ से कम नहीं है। यह कौन स्वीकार करेगा कि वर्तमान में प्राप्त लगभग एक लाख श्लोकों के बृहद् आकार का महाभारत ग्रन्थ अकेले व्यास की ही रचना है और उसमें कुछ भी मिश्रण नहीं हुआ है। महाभारत के प्रसिद्ध विद्वान् पं. चिन्तामणि विनायक वैद्य ने इस ग्रन्थ के जय, भारत और महाभारत नामक तीन रूप स्वीकार किये हैं और व्यास, वैशम्पायन और सौति को क्रमशः उनका लेखक स्वीकार किया है। इनमें व्यास पाण्डवों के समकालीन थे, तथा वैशम्पायन ने अर्जुन के पौत्र जनमेजय को भारती युद्ध की कथा सुनाई थी।^१ सौति उग्रश्रवा ने कई सौ वर्ष पश्चात् नैमिषारण्य में ऋषियों को महाभारत की कथा सुनाई थी। इससे सिद्ध होता है कि महाभारत प्राचीन रूपों में क्रमशः वृद्धि होती रही और उसके फलस्वरूप इसकी रचनाशैली में भी अनिवार्य रूपेण अन्तर आ गया है।

महाभारत में प्रक्षेप होने के कुछ और भी स्पष्टतर प्रमाण हैं। गरुड़ पुराण में लिखा है—

१. महाभारत मीमांसा (सरस्वती सिरीज के अन्तर्गत प्रकाशित संक्षिप्त संस्करण) अध्याय १

दैत्या सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा कलौयुगे भारते षट् सहस्रयाम् ।

निष्कास्य कांश्चिन्नव निर्मितानां निवेशनं तत्र कुर्वन्ति नित्यम् ।^१

अर्थात् दैत्य लोग कलियुग में ब्राह्मण कुलों में जन्म लेकर, जिस भारत में छः हजार श्लोक थे, उसमें से कई श्लोकों को निकाल कर नये गढ़े हुए श्लोकों को उसमें मिला देते हैं। लगभग इसी प्रकार की सम्मति सुप्रसिद्ध द्वैतवादी आचार्य श्री मध्व ने अपने 'महाभारत-तात्पर्य निर्णय' नामक ग्रन्थ में दी है—

“क्वचिद् ग्रन्थान् प्रक्षिपन्ति क्वचिदन्तरितानि कुर्युः ।

क्वचिच्च व्यत्यासं प्रमादात् क्वचिदन्यथा ।

अनुत्सन्ना अपि ग्रन्था व्याकुला इति सर्वशः ।

उत्सन्ना प्रायशः सर्वे कोट्यंशोऽपि न वर्तते ॥^२

अर्थात् धूर्त लोग कहीं ग्रन्थों में प्रक्षेप कर देते हैं, कहीं प्रमादवश पाठ बदल देते हैं और कहीं जान-बूझ कर ऐसे परिवर्तन करते हैं। इस प्रकार जो ग्रन्थ नष्ट नहीं हुए हैं वे भी अस्त-व्यस्त हो गये हैं। प्रायः तो वे नष्ट ही हो गये हैं। अब उनका करोड़वाँ अंश भी अपने शुद्ध रूप में अवशिष्ट नहीं बचा है। ऐसी स्थिति में महाभारत के वर्तमान रूप के सम्बन्ध में यह दावा करना कि वह इसी रूप में महर्षि द्वैपायन व्यास द्वारा लिखी गई थी, एक दम्भ मात्र है।

महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ ने आदि पर्व की समाप्ति पर लिखा है—
“आदि पर्वणि सप्तविंशत्यधिक द्विशताध्यायाः व्यासेन प्रतिज्ञाताः किन्तु पूर्वतन लेखक-प्रमादेन चतुर्त्रिंशदधिक द्विशताध्यायाः दृश्यन्ते। एवं सति बहु पुस्तक पाठ साम्यस्य विद्यमानत्वात् कुत्रकुत्राध्यायाधिक्यं जातं तन्निश्चयो न भवति। श्लोक संख्यायाऽपि वैषम्यं तत्प्रमादेनैवेति बोध्यम्।”^३ अर्थात् आदि पर्व में २२७ अध्याय लिखने की प्रतिज्ञा व्यास ने की थी परन्तु अब २३४ अध्याय मिलते हैं। श्लोकों की संख्या में भी न्यूनाधिक्य है। वे अध्याय और श्लोक कहाँ और कैसे बढ़े, लेखकों के प्रमाद से किस प्रकार ऐसा हो गया, यह निश्चय नहीं होता।

कृष्णचरित्र की समालोचना के प्रसंग में प्रसिद्ध बंगला लेखक स्व० बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने महाभारत में प्रक्षेपांश को सिद्ध करने के लिये निम्न हेतु दिये हैं—

(१) आदि पर्व के द्वितीय अध्याय का नाम पर्व संग्रहाध्याय है। इसमें महाभारत के लगभग सभी विषयों का उल्लेख है और छोटी से छोटी घटना भी नहीं छूटी है। अब जो बड़ा प्रकरण महाभारत में आये और जिसका उल्लेख इस पर्व संग्रहाध्याय में न हो,

१. गरुडपुराण (ब्रह्मकाण्ड १। ६९) वैकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित पृ० २१९)।

२. महाभारत तात्पर्य निर्णय (सर्वमूल) (कुम्भकोणम्)।

३. महाभारत— नीलकण्ठी टीका।

उसे अवश्य प्रक्षिप्त समझना चाहिये। उदाहरण के लिये आश्वमेधिक पर्व के अनुगीता और ब्राह्मण गीता प्रकरण।

(२) अनुक्रमणिकाध्याय में महाभारत को एक लाख श्लोकों का बताया गया है और किस पर्व में कितने श्लोक हैं, यह पर्व संग्रहाध्याय में लिखा है। इसके अनुसार समस्त अठारह पर्वों में ८६८३६ श्लोक होने चाहियें। एक लाख की संख्या पूरी करने के लिए पर्व संग्रहकार ने लिखा है कि इसमें हरिवंश के १२००० श्लोक और जोड़ लिये जायें। इसे जोड़ने पर ९८८३६ श्लोक हुए, परन्तु प्रचलित महाभारत की श्लोक संख्या १०७३९० है। इससे सिद्ध हुआ कि लगभग ग्यारह सहस्र श्लोक महाभारत में बढ़ाये गये हैं।

(३) अनुक्रमणिकाध्याय में लिखा है कि व्यास ने एक सौ पचास श्लोकों की अनुक्रमणिका बनाई, किन्तु उपलब्ध महाभारत के अनुक्रमणिकाध्याय में २७२ श्लोक मिलते हैं। अतः १२२ श्लोक तो इसी अध्याय में बढ़ा दिये गये।

(४) महाभारत के वर्तमान उपलब्ध वक्ता-श्रोता परम्परा का आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि वर्तमान में प्राप्त महाभारत व्यास की सम्पूर्ण कृति नहीं है। उसमें वैशम्पायन, सूत और एक अज्ञातनामा लेखक (जिसने नैमिषारण्य प्रसंग के प्रारम्भिक श्लोक लिखे हैं) के न जाने कितने श्लोक हैं।

(५) अनुक्रमणिकाध्याय में लिखा है कि उपाख्यान भाग को छोड़ कर व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाये। शुकदेव से वैशम्पायन ने महाभारत पढ़ा और वही चौबीस सहस्र श्लोकों वाला महाभारत जनमेजय को सुनाया। वही मूल महाभारत (२४ हजार श्लोक युक्त) क्षेपकों के कारण आज चौगुने आकार का हो गया है।^१

अष्टादश पुराण समीक्षा विषयक साहित्य

१. पुराण तत्त्व प्रकाश — चिम्मनलाल वैश्य

२. पुराण परीक्षा — रुद्रदत्त शर्मा

३. पुराणोत्पत्ति — गणेशप्रसाद शर्मा

□

१. चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारतं संहिताम्।

उपाख्यानैर्विना तावत् भारतं प्रोच्यते बुधैः।।

ततोऽपि अर्धं शतं भूयः संक्षेपं कृतवान् ऋषिः।

अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तानां सपर्वणम्।।

इदं द्वैपयानः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम्।

ततोऽन्येभ्योऽनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौ विभुः।।

महाभारत आदि पर्व १०१-१०३

२ श्रीकृष्ण चरित्र पृ. ५४-५८।

७ वैष्णव मत समीक्षा

वेद में विष्णु का नाम सूर्य के अर्थ में आया है। विष्णु सूक्त^१ में जिस देवता का वर्णन है वह सौरमण्डल को प्रकाशित करने वाला सूर्य ही है। आध्यात्मिक दृष्टि से विष्णु परमात्मा का भी वाचक है— ‘वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः’^२ चर और अचर रूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम विष्णु है। ऋग्वेद के विष्णु सूक्त में विष्णु-परमात्मा के दिव्य कर्मों को देखने के लिये कहा है जो इन्द्र रूपी जीवात्मा का निकट सखा है, ‘विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा।’^३ इसी विष्णु-परमात्मा के परम पद को विद्वान् विचारशील लोग सदा देखते हैं—

‘तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।

दिवीव चक्षुराततम्।।’^४

यद्यपि वेद में विष्णु देवता विषयक सूक्त स्वल्प ही हैं, किन्तु कालान्तर में इसके महत्त्व में वृद्धि हुई। ब्राह्मण में यज्ञ को विष्णु कहा गया है— ‘यज्ञो वै विष्णुः।’^५ ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में विष्णु द्वारा असुरों से छीनकर समस्त पृथ्वी इन्द्र को दे देने का उल्लेख है। कालान्तर में वैदिक देवताओं-अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि की तुलना में विष्णु की महत्ता और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और उसको सर्वोपरि उपास्य देव के रूप में स्वीकार कर लिया गया। महाभारत के नारायणोपाख्यान, भगवद्गीता आदि अंशों में वासुदेव, नारायण, हरि, कृष्ण, विष्णु, भगवान् आदि शब्दों के प्रतीक सर्वोच्च तत्त्व को ही विष्णु का वाचक स्वीकार किया है। जब पुराणों की रचना के साथ-साथ विष्णु के विभिन्न अवतारों की कल्पना और विस्तृत हुई तो राम और कृष्ण जैसे ऐतिहासिक महापुरुषों को विष्णु का प्रमुख अवतार घोषित किया गया तथा मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, नृसिंह आदि को अवान्तर अवतार माना गया। इन अवतारों के साथ अनेक कथायें, उपाख्यान आदि जोड़े गये और वैष्णव मत अपना व्यापक रूप ग्रहण कर सका। पांचरात्र ग्रन्थों के रूप में वैष्णव मत का दार्शनिक पक्ष भी निरूपित हुआ। नारद-पांचरात्र, ईश्वर संहिता, विष्णु संहिता आदि प्रमुख पांचरात्र ग्रन्थ हैं।

उत्तर भारत की तुलना में दक्षिण भारत की भूमि वैष्णव मत के प्रचार-प्रसार के लिये अधिक अनुकूल सिद्ध हुई। शठकोपाचार्य, मुनिवाहन, यामुनाचार्य और रामानुज आदि वैष्णव मत के जो प्रमुख आचार्य हैं, वे सभी दक्षिण के थे। तमिल भाषी आलवार भक्तों

१. ऋग्वेद १। २२।

२. सत्यार्थप्रकाश : प्रथम समुल्लास।

३. ऋग्वेद १। २२। १९।

४. ऋग्वेद १। २२। २०

ने भी वैष्णव मत को प्रचारित करने में अभूतपूर्व योगदान किया। दक्षिण में तमिल वेद के प्रचारक रंगनाथ (नाथमुनि) का काल (८२४-९२४ ई०) है। इनके पौत्र यामुनाचार्य थे, जिनके गीतार्थ संग्रह, सिद्धित्रय, आगम प्रामाण्य आदि ग्रन्थ शांकर अद्वैत वेदान्त के खण्डन तथा विशिष्टाद्वैत मत के समर्थन में लिखे गए हैं। परन्तु वैष्णव मत को दर्शन के सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करने का कार्य रामानुज (१०१६-११३७) ने किया। रामानुज ने शंकर की ही भांति प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और वेदान्त सूत्र) पर भाष्य लिखा। ब्रह्मसूत्र पर उनका प्रसिद्ध श्रीभाष्य है जो शंकराचार्य प्रतिपादित जीव ब्रह्म की एकता, माया तथा विवर्त के सिद्धांतों का खण्डन कर जीव और ब्रह्म के भेद का समर्थन करता है। माया विरहित विशिष्टाद्वैत मत जीव को ईश्वर का चेतन अंश तथा प्रकृति को उस ब्रह्म का शरीर स्थानीय मानता है। संसार इनकी दृष्टि में सत्य है। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति-प्रपत्ति और भगवच्छरणागति पर रामानुज ने अधिक जोर दिया।

रामानुज ने विष्णु और लक्ष्मी को आराध्य रूप में स्वीकार किया था। उत्तर भारत में रामानन्द ने वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने विष्णु के स्थान पर राम और लक्ष्मी के स्थान पर सीता को उपास्य स्वीकार किया। रामानुज के अतिरिक्त मध्व, निम्बार्क और वल्लभ ने भी वैष्णव मत के प्रचार में अपनी-अपनी दृष्टि से योगदान किया।^१ इन सभी आचार्यों ने स्व-सम्प्रदाय की दृष्टि से प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे। शांकर मायावाद का विरोध करना इन सभी का एकांतिक लक्ष्य था, अतः ज्ञान की अपेक्षा भक्ति पर जोर देकर वैष्णव आचार्यों ने स्व-सिद्धान्त प्रचारित किये।

वैष्णव आचार्यों ने अपना दार्शनिक आधार चाहे प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और वेदान्त दर्शन) में ही तलाश करने की चेष्टा की हो किन्तु उनके सम्प्रदायों के मुख्य आधारभूत तत्त्व उन्हें पुराणों में ही प्राप्त हुए। हम यह संकेत कर चुके हैं कि सम्प्रदाय के आग्रह ने ही शैव, शाक्त तथा वैष्णव पुराणों की रचना कराई थी। आश्चर्य है कि एक ही लेखक की कृति माने जाने वाले इन अठारह पुराणों का भी सात्विक, राजस और तामस त्रिविध रूप में भेद किया गया। विष्णु, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म और वराह सात्विक पुराण कहे गये हैं। शैव पुराणों—लिंग, शिव तथा मतस्य, कूर्म और स्कन्द तथा अग्नि

१. पद्मपुराण में इन चारों वैष्णवाचार्यों के सम्बन्ध में लिखा है—

सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः। अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः।

श्री माध्वा रुद्र सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः। चत्वारस्ते कलौ देवि सम्प्रदाय प्रवर्तकाः।।

जो सम्प्रदायविहीन होते हैं उनके मंत्र भी निष्फल ही होते हैं। अतः कलियुग में चार सम्प्रदाय होंगे।

श्री, (रामानुज) मध्व, रुद्र (वल्लभ) और सनकादि (निम्बार्क) ये कलियुग में धरती को पवित्र करने वाले सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न प्रवर्तक होंगे।

पुराण को तामस पुराण माना गया।^१ शेष— ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य और वामन तथा ब्रह्म पुराण राजस संज्ञा से अभिहित किये गये हैं। पुराण अध्येता विद्वानों के समक्ष एक और रोचक विवाद प्रस्तुत होता है कि भागवत नामक महापुराण कौन सा है? वर्तमान में प्रख्यात श्रीमद्भागवत नामक वैष्णव पुराण अथवा शाक्त मत द्वारा स्वीकृत देवी भागवत। मध्यकाल में 'महापुराण' का पद प्राप्त कराने हेतु इन दोनों पुराणों के समर्थकों में पर्याप्त मतभेद था।

स्वामी दयानन्द ने भी अपने उपदेशक जीवन के आरम्भिक काल में भागव सम्बन्धी इस विवाद में रुचिपूर्वक भाग लिया था। अपने 'भागवत खण्डनम्' नामक संस्कृत निबन्ध में इसका उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं— "श्रीमद्भागवत पुराणं? नाम किमस्ति? कुतः सन्देहः? द्वे भागवते श्रूयते। एकं देवी भागवतं द्वितीयं कृष्ण भागवतं चेति, अतो जायते सन्देहः अनयोः किमस्ति व्यासकृतमिति? देवी भागवतं श्रीमद्भागवतमस्ति व्यासकृतं च नान्यत्। कुत एतत्? शुद्धत्वाद् वेदादिभ्योऽविरुद्धत्वाच्च। अतएव देवी भागवतस्य श्रीमद्भागवतसंज्ञा, नान्यस्य च भागवतस्य। कुत एतत्? अशुद्धत्वात् प्रमत्तगीतत्वाच्च।"^२ अर्थात् श्रीमद्भागवत नामक पुराण कौन सा है? यह सन्देह क्यों हुआ? दो भागवत नाम के पुराण सुनाई देते हैं। (उपलब्ध होते हैं) एक देवी भागवत और दूसरा कृष्ण भागवत। इसलिए सन्देह होता है कि इनमें कौन सा व्यासकृत है। देवी भागवत ही श्रीमद्भागवत है और वही व्यास कृत है, अन्य नहीं। यह क्यों? शुद्ध होने से और वेदादि से अविरुद्ध होने से। इसीलिये देवी भागवत की ही श्रीमद्भागवत संज्ञा है, अन्य भागवत की नहीं। ऐसा क्यों? अशुद्ध होने से और प्रमत्तगीत होने से।

स्कन्दपुराण में भी इसी मत का समर्थन मिलता है—

भगवत्या कालिकायास्तु माहात्म्यं यत्र वर्ण्यते ।

नानादैत्यवधोपेतं तद्वै भागवतं विदुः । ।

कलौ किञ्चिदुरात्मानो धूर्ता वैष्णवमानिनः ।

अन्यद्भागवतं नाम कल्पयिष्यन्ति मानवाः । ।

अर्थात् भगवती कालिका का माहात्म्य जिसमें वर्णित है तथा जिसमें उनके द्वारा नाना दैत्यों का वध वर्णित है वह भागवत ग्रन्थ है। कलियुग में कोई धूर्त, दुरात्मा वैष्णवमन्य व्यक्ति भागवत के नाम से दूसरा ग्रन्थ बना लेंगे।

महापुराणत्व को लेकर प्रचलित यह देवी भागवत और वैष्णव भागवत का विवाद सर्वथा

निरर्थक ही था। सत्यार्थप्रकाशकार ने अपना मत व्यक्त करते हुए स्पष्ट किया है— “जैसी इस देवी भागवत में महादेव, विष्णु और ब्रह्मादि की क्षुद्रता और देवी की बड़ाई लिखी है उसी प्रकार शिवपुराण में देवी आदि की बहुत क्षुद्रता लिखी है।” इसी प्रसंग में देवी-भागवत वर्णित एक कथा को उद्धृत कर स्वामी जी ने यह सिद्ध किया है कि इस पुराण में विष्णु और ब्रह्म की तुच्छता, अपदार्थता और हीनता ही प्रदर्शित की गई है। देवी भागवत के निम्न श्लोक इस मन्तव्य को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं—

शप्तो हरिस्तु भृगुणा कुपितेन कामं

मीनो बभूव कमठः खलु सूकरस्तु ।

पश्चान्नृसिंह इति यश्छल कुद्धरायाः ॥ ११९०२ ॥

तान् सेवतां जननी मृत्यु भयं न किं स्यात् । ।

जिस विष्णु के भृगु के शापवश मत्स्य, कच्छप, वराह आदि अवतार होते हैं, जो नृसिंह अवतार लेकर संसार में छल करता है, ऐसे विष्णु की सेवा करने से क्या संसार में मृत्यु का भय नहीं होगा?

इसी प्रकार शिवपुराण में विष्णु के दस अवतारों को काम के वशवर्ती होकर लक्ष्मी को हृदय से लगाये रहने वाले सामान्य मनुष्य बताकर उनकी निंदा की गई है—

मत्स्य कूर्मो वराहश्च नारसिंहश्च वामनः ।

रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्ध कल्की हरिर्दश । ।

योगेन्द्राणां प्रधानश्च संसारभयनाशनः ।

लक्ष्मीमुरसि संघत्ते मन्मथेन वशीकृतः । ।

आश्चर्य है कि शैव सम्प्रदाय के प्रवर्तकों ने अपने बाह्य क्रियाकाण्डों की सिद्धि के लिए भी वेदादि सत् शास्त्रों से ही प्रमाण जुटाने की चेष्टा की है। उदाहरणार्थ, भस्म धारण करने के लिए यजुर्वेद के मन्त्र— ‘त्र्यायुषं जगदग्ने’ का प्रमाण देते हैं।^१ इसी प्रकार उन्होंने कुछ उपनिषद् नामधारी ग्रन्थों की भी रचना की तथा उनसे अभीष्ट मन्तव्यों को सिद्ध करना चाहा। एक ऐसा ही परवर्तीकाल में लिखा गया— कालाग्निरुद्रोपनिषद् भी है जो भस्म धारण करने विषयक विधानों का संगम है। स्वामी दयानन्द ने यह स्पष्ट कर दिया कि इस प्रकार के साम्प्रदायिक उपनिषद् ग्रन्थों का कोई महत्त्व नहीं है और न उन्हें ईशावास्योपनिषद् आदि प्रामाणिक उपनिषदों की कोटि में रखा जा सकता है। ये ग्रन्थ तो केवल साम्प्रदायिक धारणाओं की पुष्टि में ही क्षुद्र स्वार्थी लोगों द्वारा रच गये

१

सर्वागोद्भूतं कुर्यात्प्रणवेन शिवेन वा ।

ततश्च पुष्टं रचयेत्त्र्यायुषसयाह्वयम् । ।

प्रणव अथवा शिवमंत्र से सम्पूर्ण देह में भस्म लगाकर ‘त्र्यायुषं जगदग्ने’ इत्यादि मंत्रों द्वारा त्रिपुष्टं धारण करे।

हैं। इसी प्रकार 'त्र्यायुषं जमदग्ने' आदि मंत्रों का वास्तविक अर्थ समझे बिना उनका विनियोग भस्म या त्रिपुण्ड्र धारण में करना अनुचित है। अपने यजुर्वेद भाष्य में स्वामी जी ने उपर्युक्त मन्त्र का वास्तविक अर्थ निरूपित करते हुए लिखा— 'हे जगदीश्वर, आपने जो विद्वानों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों की परोपकार से युक्त आयु है, जो चक्षु आदि इन्द्रियों की शुद्धि, बल, पराक्रम युक्त तीन गुणा आयु और जो ईश्वर प्रेरित त्रिगुणी अर्थात् तीन सौ वर्ष तथा उससे भी अधिक आयु विद्यमान है उस शरीर, आत्मा और समाज को आनन्द देने वाले तीन सौ वर्ष का उससे अधिक आयु हम लोगों को प्राप्त हो।' "

रुद्राक्ष धारण में शैव लोग रुद्राक्ष जाबालोपनिषद् का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं— "त्रिपुरवधार्थमहं निमीलितोऽभवम् । तेभ्यो जलबिन्दवो भूमौ पतितास्ते रुद्राक्षा जाताः ।" अर्थात् जब त्रिपुर राक्षस को मारने का संकल्प कर भगवान् शिव ने अपने नेत्र बंद किये तो उनसे जो जल बिन्दु धरती पर गिरे वे ही 'रुद्राक्ष' कहलाये ।^१ इसी उपनिषद् (?) में कहा गया है—

“रुद्राक्षस्य धारणात् सद्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते”

अर्थात् रुद्राक्ष की माला के धारण से शीघ्र ही मनुष्य सब पापों से छूट जाता है। वस्तुतः न तो रुद्राक्ष ही रुद्र के अश्रुओं से निर्मित हैं और न उनके धारण से पापों से छुटकारा सम्भव है। इसी प्रकार यह कहना कि भस्म-रुद्राक्ष धारण करने वाले शैव से यमराज भी भयभीत होता है निरी अज्ञान की बात है। सत्यार्थप्रकाशकार ने अत्यन्त तीव्र व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग करते हुए लिखा— “जब भस्म रुद्राक्ष धारण करने वालों से कुत्ता, सिंह, बिच्छू, मक्खी और मच्छर आदि भी नहीं डरते तो न्यायाधीश के गण क्यों डरेंगे?” ”

१. यजुर्वेदभाष्य ३। ६२

२. तुलनीय-देवी भागवत के निम्न श्लोक—

त्रिपुरस्य वधार्थाय देवानां तारणाय च ।

दिव्य वर्ष सहस्रं तु चक्षु रुन्मीलिता मया ।।

पञ्चान्ममाकुलाक्षिभ्यः पतिता जल बिन्दवः ।

तत्राश्रु बिन्दुतो जाता महारुद्राक्षवृक्षका ।।

३. देवी भागवत में लिखा है कि द्वादशमुखी रुद्राक्ष धारण करने वाले को सींगधारी जीवों, क्रूर पशुओं और शस्त्रधारियों से भय नहीं रहता तथा शारीरिक और मानसिक पीड़ा भी नहीं रहती। रोग और पिशाचादि के भय से मुक्त एवं सुखी होता हुआ वह व्यक्ति ईश्वर के समान हो जाता है—

शृंगिणां हरिणानां चैव व्याघ्रादीनां भयं न हि ।

न च व्याधिभयं तस्य नैव चाधिः प्रकीर्तितः ।। ५७

न च किञ्चिद्भयं तस्य न च व्याधिः प्रवर्तते ।

न कुतश्चिद्भयं तस्य सुखी चैवेश्वरी भवेत् ।। ५८

देवीभागवत रुद्राक्ष माहात्म्य

इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के लोगों ने रामायण-महाभारत आदि आर्ष काव्य एवं इतिहास ग्रन्थों में भी यथेष्ट प्रक्षेप कर उनकी कलेवर वृद्धि की है।

उस गये गुजरे जमाने में भी भारत^१में यंत्र विद्या तथा पदार्थ विज्ञान पर्याप्त उन्नत था। भोज प्रबन्ध के प्रमाण से स्वामी जी ने घोड़े के आकार के एक यंत्र कलायुक्त यान का उल्लेख किया है जो एक घड़ी में ग्यारह कोस और एक घण्टे में २७।। कोस जाता था। भूमि के अतिरिक्त यह अन्तरिक्ष में भी चलता था।^२ इसी ग्रन्थ में ऐसे पंखे का भी वर्णन मिलता है जो बिना मनुष्य की सहायता से कलायंत्र के बल पर ही चलता था तथा पर्याप्त मात्रा में वायु छोड़ता था। स्वामी जी ने इन उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया है कि यदि भौतिक कलाओं की उन्नति का यह क्रम बराबर चलता रहता तो आज यूरोप में जो वैज्ञानिक उन्नति हुई है, उसके समक्ष हम भारतवासियों को लज्जित नहीं होना पड़ता।

उन्नति और अवनति जीवन का अनिवार्य क्रम है। जो देश और जाति उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ होते हैं वे ही किसी अन्य समय अधोगति के गहन गह्वर में विश्राम लेने लगते हैं। बौद्ध एवं जैन सम्प्रदायों के प्रचलन ने हमारे राष्ट्र के ओज और तेज, शौर्य, वीर्य और पराक्रम का हास किया। इस लोक के प्रति हमारी दायित्व बुद्धि नष्ट हुई— मिथ्या त्याग और वैराग्य के प्रति झूठा आकर्षण बढ़ा। जैन मत में तीर्थकरों, उनके मन्दिरों और मूर्तियों का प्रावधान था। पौराणिक युग में उन्हीं के अनुकरण पर विष्णु के चौबीस अवतारों तथा उनके मन्दिर स्थापन एवं प्रतिमा पूजन का विधान स्वीकार हुआ। वेद के साथ हमारी आस्थाओं और मान्यताओं का जो यत्किंचित् सम्बन्ध था, वह भी समाप्त हो गया। अब जिस वैष्णव धर्म का प्रचलन हुआ वह विशुद्ध पौराणिक अवधारणाओं पर आश्रित था।

शैव, वैष्णवादि सम्प्रदायों की वेदमूलकता का खण्डन—

वेदों में रुद्र,^३ शिव,^३ विष्णु,^४ गणपति,^५ सूर्य,^६ आदि नामों के प्रयोग मात्र से यह कल्पना करना अनुचित है कि इन वेदमंत्रों में शैव, वैष्णव, गणपत्य, सौर, शाक्त आदि सम्प्रदायों का विधान मिलता है। रुद्र और शिव का उल्लेख 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' तथा 'नमः शम्भवाय च' आदि यजुर्वेद मंत्रों में है परन्तु यहाँ रुद्र नाम से दुष्टों को रूलाने वाले परमात्मा—'यो

१. प्राचीन भारत में वायुयान विद्या के विकास सम्बन्धी ज्ञान के लिए द्रष्टव्य— स्वामी ब्रह्ममुनि सम्पादित बृहद् विमान शास्त्र।

२. यजुर्वेद १६। १३. यजुर्वेद १६। ४१ ४ यजुर्वेद ५। १५ ५. यजुर्वेद २३। १९ ६. यजुर्वेद ३३। ३७

रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्र' का तथा शिव नाम से कल्याणस्वरूप और मंगलकर्त्ता ईश्वर को शिव माना गया है अतः ऐसे मंत्रों को साम्प्रदायिक देवताओं की उपासना में घटित करना अनुचित है। इसी प्रकार "विष्णोरराटमसि विष्णोः श्रन्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोध्रुवो ऽसि। वैष्णवमसि विष्णवे त्वा।" इस यजुर्मन्त्र में प्रयुक्त वैष्णव शब्द को किसी संकीर्ण सम्प्रदाय का वाचक मानना अनुचित है। स्वामी दयानन्द ने अपने यजुर्वेद भाष्य में इस मंत्र का अर्थ करते हुए लिखा है— "यदिदं विविधं जगदस्ति तद् विष्णोरराटमस्यस्ति, विष्णोः सकाशादुत्पद्य वर्तति इति यावत्। सर्वं जगद् वैष्णवमस्यस्ति....." अर्थात् जो यह अनेक प्रकार का जगत् है वह विष्णु— व्यापक परमेश्वर के प्रकाश से उत्पन्न होकर प्रकाशित होता है— सब जगत् (वैष्णवम्) यज्ञ का साधन है। यहाँ भाष्यकर ने विष्णु को यज्ञ और ईश्वर का पर्याय मानते हुए 'वैष्णव' का यज्ञ के साधन अर्थ में प्रयोग किया है।

यजुर्वेद के रुद्राध्याय में ही पठित "नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय य सवृधे च नमोऽग्नयाय च प्रथमाय च" इस मंत्र में 'वामनाय च' के प्रयोग को देखकर वैष्णवों को विष्णु के वामन अवतार के वेदोक्त होने का भ्रम हो सकता है, परन्तु उपरि उद्धृत मंत्र में 'वामन' शब्द का प्रयोग प्रशंसित ज्ञानी के अर्थ में हुआ है, न कि दानव राजा बलि को छल से पाताल में भेजने वाले विष्णु के तथाकथित अवतार वामन के लिये। यजुर्वेद के अश्वमेधाध्याय में प्रयुक्त "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे" मंत्र में प्रयुक्त 'गणपति' शब्द शिव और पार्वती के पुत्र किसी गजदन्त, महाकाय, लम्बोदर, पौराणिक देवता गणेश के लिए न होकर गणों के बीच गणों के पालने वाले ईश्वर के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। गणपति शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ करते हुए स्वामी दयानन्द इसी ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में लिखते हैं— "ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते संख्यायन्ते, तेषामीशः स्वामी पतिः पालको वा" अर्थात् जो प्रकृत्यादि जड़ और सब जीव पदार्थों का स्वामी वा पालन करने हारा है, इससे उस ईश्वर का नाम गणेश वा गणपति है।

आश्चर्य तो यह है कि यजुर्वेदोक्त गणपति शब्द का पौराणिक देवता गणेशपरक अर्थ

१. सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास

२. यजुर्वेद ५। २१

३. यजुर्वेद भाष्य (स्वामी दयानन्द प्रणीत) श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर से प्रकाशित।

४. यजुर्वेद १६। ३०

५. सत्यार्थप्रकाशः प्रथम समुल्लास

वेद के मध्यकालीन भाष्यकार सायण, उव्वट और महीधर ने भी नहीं किया ।^१ अतः इन मंत्रों के आधार पर विष्णु, शिव, सूर्य, देवी, गणपति आदि विभिन्न पुराणवर्णित देवताओं की कल्पना करना तथा उनको ही सर्वोपरि पूज्य और उपास्य मानने वाले पौराणिक सम्प्रदायों की वेद मूलकता असिद्ध है । स्वामी दयानन्द की व्यापक दृष्टि तो साम्प्रदायिक संकीर्णता, अनुदारता तथा समाज को पृथक्-पृथक् वृत्तों में विभाजित करने वाले तत्त्वों को विनष्ट कर उसे एक ही आस्था और विश्वास के सूत्र में निबद्ध करने के लिए तत्पर थी । फलतः उसने वैष्णव, शैव, गाणपत्य, भागवत तथा सौर आदि शब्दों के सुन्दर व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्रस्तुत कर इन्हें भगवान् के भक्त के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है । यथा—

शिवस्य परमेश्वरस्यायं भक्तः शैवः ।

विष्णोः परमात्मनोऽयं भक्तो वैष्णवः ।

गणपतेः सकलजगत्स्वामिनोऽयं सेवको गाणपतः ।

भगवत्या वाण्या अयं सेवकः भागवतः ।

सूर्यस्य चराचरात्मनोऽयं सेवकः सौरः । । (समुल्लास ११)

परमात्मा के ही प्रतीक विभिन्न शब्दों के वास्तविक अर्थ को न समझकर संकीर्ण साम्प्रदायिक वृत्ति के लोग किस प्रकार पारस्परिक कलह और विग्रह खड़ा कर देते हैं, इसे सत्यार्थप्रकाशकार ने एक कहानी से स्पष्ट किया है जिसमें एक वैरागी के दो मूर्ख चेले गुरु के एक एक पाँव की सेवा में संलग्न रहते थे, परन्तु गुरु के ही एक पाँव को दूसरे पर गिरते देख कर उस पांव पर आघात करने में भी शिष्य ने संकोच नहीं किया । यह क्षुद्र और संकीर्ण भावना उन सम्प्रदायाभिनिवेशी लोगों में विशेष रूप से पाई जाती है जो रुद्र, विष्णु, शिव आदि नामों को विभिन्न देवताओं का ही ज्ञापक जानते हैं किन्तु इनका एक अद्वितीय परमात्मा का वाचक होना स्वीकार नहीं करते ।

चक्रांकित वैष्णव मत

किस प्रकार वैदिक 'विष्णु' के आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थों को विस्मृत कर उसे एक देवता का स्वरूप प्रदान किया गया तथा शेषशय्या पर शयन करने वाले क्षीर सागरवासी, लक्ष्मीपति विष्णु की त्रिदेवों^२ में प्रधान, सृष्टि के पालक और रक्षक के रूप में कल्पना की गई, यह हम देख चुके हैं । वैष्णवों के अवान्तर सम्प्रदायों का दक्षिण भारत

१. प्रचलित पौराणिक देवता गणेश सर्वथा अवैदिक एवं अनार्थ है, इस बात को डॉ. सम्पूर्णानन्द ने स्वरचित 'गणेश' नामक ग्रन्थ में सिद्ध किया है । यजुर्वेद २३ । १९ मंत्र का देवता सायण आदि के अनुसार ब्रह्मणस्पति है । उसका पुराणप्रतिपादित महादेव पुत्र गणेश से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

२. त्रिदेवों की कल्पना किस प्रकार विकसित हुई, यह पं० शिवशंकर शर्मा, काव्यतीर्थ ने स्वरचित 'त्रिदेव निर्णय' नामक ग्रन्थ में प्रमाणपूर्वक स्पष्ट किया है ।

में विशेष प्रचार हुआ। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की नींव डाली। इसी दार्शनिक मन्तव्य को स्वीकार करते हुए उन्होंने वेदान्त दर्शन पर अपना श्रीभाष्य लिखा। जहाँ तक पूजा-उपासना का सम्बन्ध है, रामानुज ने विष्णु और उसकी आद्या शक्ति लक्ष्मी की उपासना का प्रचलन किया। रामानुज सम्प्रदाय को श्री सम्प्रदाय^१ कहा जाता है तथा लक्ष्मी इसकी प्रवर्तिका मानी गई हैं। विभिन्न प्रकार की पूजा-उपासना-प्रणालियों तथा बहुविध कर्मकांड एवं बाह्यचारों ने चक्रांकित वैष्णव मत को जन्म दिया। विष्णु के शंख, चक्र, गदा तथा पद्म के चिह्नों को अग्नि में तपा कर बाहुमूल में दागना, उर्ध्वपुण्ड्र-तिलक धारण करना, विष्णुदास, नारायणदास आदि दासान्त नाम ग्रहण करना, गले में कण्ठी एवं माला धारण तथा 'ओं नमो नारायणाय' आदि मंत्रों का जप, ये चक्रांकित वैष्णवों के बाह्यचार तथा पंच संस्कार हैं।^२ आश्चर्य तो यह है कि इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण कृत्यों को भी सम्प्रदाय के अनुयायीगण तथा उनके आचार्य वेदानुमोदित कहते हैं। जब उनसे पूछा जाता है कि विष्णु के शंख, चक्रादि के चिह्नों को तपाकर शरीर पर धारण करने का विधान किस प्रकार वेद के अनुकूल है तो उत्तर में वे 'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते'^३ इस ऋग्वेद के मंत्र को प्रस्तुत करते हैं। मंत्रगत अभिप्राय को न समझ कर वैष्णवों ने इसका यही अर्थ निकाला कि जो अपने शरीर को गर्म लोहे के चिह्नों से तपावे वे ही अपने शरीर को पवित्र बनाते हैं। सत्यार्थप्रकाश के लेखक ने मंत्र का वास्तविक अर्थ

१. रामानुज के अतिरिक्त मध्व, निम्बार्क और विष्णुस्वामी ने भी विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना की।

पद्मपुराण में इनका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

सम्प्रदाय विहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः ।

अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः ।

श्रीमाध्वरुद्रसनका वैष्णवा शक्ति पावनाः ।

चत्वारस्ते कलौ देवि सम्प्रदाय प्रवर्तकाः । ।

२. तापः पुण्ड्रं तथा नाम माला मन्त्रस्तथैव च ।

अमी हि पंच संस्कारा परमैकान्तहेतवः । ।

—रामानुज पटल पद्धति में किञ्चित् पाठभेद के साथ ।

पद्मपुराण के अनुसार जो गले में तुलसी दल की माला पहनते हैं, उर्ध्व पुण्ड्र धारण करते हैं, तथा शंख, चक्र आदि के चिह्नों को शरीर पर धारण करते हैं, ऐसे वैष्णव इस ब्रह्माण्ड को शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं।

ये कण्ठलग्न तुलसी नतिनाक्ष मालाः ।

ये द्वादशांग हरिनामरतोर्ध्व पुण्ड्राः । ।

ये कृष्णभक्तिसुदृढा धृतशंखचक्राः ।

ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति । ।

३. ऋग्वेद म. ९ सू. ८३ मं. १।

लिख कर 'तप' के अभिप्राय को स्पष्ट किया। 'तप' का अर्थ आर्य शास्त्रों में न तो मात्र देहदण्डन तथा आत्मपीडन से है और न पंचाग्नि तप को ही तप की संज्ञा दी जा सकती है। उपनिषदों में तो सत्यभाषण, इन्द्रियदमन, वेदानुकूल आचरण आदि को ही तप कहा गया है। इस प्रकार केवल बाह्याचारों पर ही जोर देने वाले वैष्णवों ने देश, समाज और जाति का कितना अहित किया है, यह स्पष्ट है। यहाँ वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तकों की परम्परा का ऐतिहासिक विवरण भी उपस्थित किया गया है। शठकोपाचार्य को आधुनिक वैष्णव मत का आदि संस्थापक माना गया है। भक्तमालादि ग्रन्थों के प्रमाणों से इनका एक ऐसे निम्न कुल में उत्पन्न होना सिद्ध होता है जिसमें छाज (सूप) आदि बना कर बेचने का व्यवसाय प्रचलित था।^१ शठकोप का शिष्य मुनिवाहन था। यह चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुआ बताया गया है। मुनिवाहन का शिष्य यामुनाचार्य था। यामुन के शिष्य रामानुज ब्राह्मण कुल में पैदा हुए। प्रचलित परम्परानुसार रामानुज ने भी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा और शंकर प्रतिपादित मायावाद का खण्डन कर चित्, अचित् विशिष्ट ब्रह्म को संसार का मूल कारण बताया। स्वामी दयानन्द ने इस प्रसंग में जहाँ निरपेक्ष भाव से ब्रह्म के अतिरिक्त जीव और उपादानकारणभूता प्रकृति को अस्वीकार करने के कारण शंकर की आलोचना की है, वहाँ रामानुज के दार्शनिक मत की समीक्षा भी की है, क्योंकि विशिष्टाद्वैत में भी प्रकारांतर से जीव और संसार को ब्रह्म से अभिन्न ही माना गया है तथा जीव को ब्रह्म का अंश मानकर कर्म करने में उसको पराधीन कहा है। इससे भी अधिक कण्ठी, छाप, माला, तिलक,^२ मूर्तिपूजा आदि पाखण्डों को प्रश्रय देने के कारण उन्होंने वैष्णव मत तथा उसके प्रवर्तकों को दोषी ठहराया है।

□

१. विचक्षणो विश्वविमोह हेतोः कुलोचिताचार कलानुषक्तः ।

पुण्यम्महीशूरमयो विधाय विक्रीय सूर्प विचचार योगी । ।

२. द्वारिका नगरी की मिट्टी से जो अपने ललाट पर उर्ध्व पुण्ड्र तिलक लगाता है वह विशेष फल प्राप्त करता है—

यो मृत्तिकां द्वारवतीसमुद्भवाम् करे समादाय ललाटपट्टे ।

करोति नित्यं त्वय चोर्द्धपुण्ड्रम् क्रियाफलं कोटिगुणं सदा भजेत् । ।

८ मूर्तिपूजा समीक्षा

मूर्तिपूजा भारतीय धर्म का एक ऐसा कोढ़ है जिसने हमारी सभी श्रेष्ठ और उत्तम धारणाओं, आस्थाओं और कृतियों का उन्मूलन कर उनके स्थान पर अधम पाखण्डों, अनाचारों और रूढ़िगत अंधविश्वासों की सृष्टि की है। दयानन्द के लिये तो मूर्तिपूजा का विरोध एक सहजानुभूतिजन्य स्वतः स्फूर्त प्रेरणा ही थी, क्योंकि किशोरावस्था में ही शिवप्रतिमा पर एक चूहे को क्रीड़ा करते तथा मूर्ति के प्रति निवेदित नैवेद्य को उठाते देखकर उन्होंने यह अनुभव किया कि मूर्तिपूजा का प्रचलित विधान एक बृहत् पाखण्ड के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, क्योंकि जिस अद्वितीय शक्तिसम्पन्न परमात्मा का प्रतीक बनाकर इन प्रतिमाओं का धूप, दीप नैवेद्यादि स्थूल पदार्थों से षोडशोपचार पूजन किया जाता है, वह परमात्मा तो सर्वथा निराकार, निरंजन तथा निर्लेप ही है।

यह बात नहीं कि मूर्तिपूजा का खण्डन भारतीय धर्मसंस्था में सर्वप्रथम दयानन्द ने ही किया। उनसे भी पूर्व शंकराचार्य^१ आदि ज्ञानवादी दार्शनिकों और कबीर, दादू, नानक, रैदास आदि निर्गुण मत के सन्तों ने मूर्तिपूजा के अनौचित्य को पदे पदे प्रतिपादित कर ईश्वर की निर्गुण मानसपूजा को ही शास्त्रविहित तथा लोक-सम्मत ठहराया था। तथापि दयानन्द का मूर्तिपूजा-खण्डन कुछ विशेषताओं को लिये हुए हो, इसे स्वीकारने में हमें कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये। शंकराचार्य के लिये तो अद्वैतवाद, ब्रह्मैक्यवाद जैसे सिद्धान्तों को स्वीकार करने के कारण मूर्तिपूजा, बाह्य-कर्मकाण्ड आदि का किञ्चित् भी महत्त्व नहीं था। जहाँ ब्रह्म की अखण्ड अनुभूति में कर्म, उपासना और भक्ति का भी कुछ प्रयोजन शेष नहीं रहता है वहाँ मूर्ति और प्रतीकों के लिये कहाँ अवकाश रह सकता है? फिर भी हम देखते हैं कि अपने परम्परा-प्राप्त पौराणिक संस्कारों के कारण पारमार्थिक रूप से निर्गुण ब्रह्म के अद्वैतानुभव को ही मनुष्य का एक मात्र प्रयोजनीय लक्ष्य मानते हुए भी शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थों में व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीकोपासना का भी महत्त्व स्वीकार किया है। इस प्रकार उनके विचारों में परस्पर विरुद्धता का वदतोव्याघात दोष अनायास ही आ गया है।

कबीर, नानक, दादू तथा अन्य सन्तों ने मूर्तिपूजा का जो प्रचण्ड और प्रभावी खण्डन किया, उसमें उनके तेजस्वी, फक्कड़ तथा प्रतिमा भंजक रूप के तो दर्शन होते ही हैं, एक बात यह भी ज्ञात होती है कि ये निर्गुणवादी सन्त हिन्दूशास्त्र-परम्परा तथा उससे

१. द्रष्टव्य- शंकराचार्य रचित निर्गुणमानस पूजा।

अनुमोदित क्रियाकाण्डों और उपासना-प्रणालियों को यथावत् रूप में स्वीकार नहीं करते थे। उनका मूर्तिपूजा का विरोध तथा तीर्थ, अवतार, कण्ठी, तिलक, माला, छाप आदि का खण्डन स्पष्ट ही उनकी स्वतंत्र चिंतन-शैली तथा परम्परागत शास्त्रीय व्यवस्थाओं का विरोध करने की उनकी मनःस्थिति का परिचायक है। दयानन्द का मूर्तिपूजा-खण्डन इससे भिन्न प्रकार का है। वे यह मानते हैं कि पुरातन भारतीय वैदिक धर्मचिंतन में मूर्तिपूजा के लिये कभी कोई अवकाश रहा ही नहीं। अतः यदि वे परवर्ती काल में प्रचलित मूर्तिपूजा, अवतार, तीर्थ आदि की मध्ययुगीन धारणाओं का खण्डन करते हैं तो उससे न तो शास्त्रों के विरोध का ही कोई दुःखद प्रसंग उपस्थित होता है और न उससे वैदिक आर्य धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों की ही कोई हानि होती है। इसके विपरीत कबीर आदि यह मानते हैं कि चाहे मूर्तिपूजा का विधान हिन्दूशास्त्र-सम्मत ही क्यों न हो, वे उसे मानने के लिये बाध्य नहीं हैं। दयानन्द जहाँ शास्त्र-प्रमाणवाद के पक्के समर्थक हैं, वहाँ निर्गुणवादी सन्त स्वयं संस्कृत शास्त्र-वाङ्मय से अनभिज्ञ होने एवं तथाकथित निम्न कुलों में उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मणों के शास्त्रों पर एकाधिकारवाद को देख कर अपने क्षोभ को भी शास्त्र-प्रमाण को अस्वीकार कर व्यक्त करते हैं। फलतः उनका मूर्तिपूजा-खण्डन जानबूझ कर किये गए शास्त्र एवं परम्परा-विरोध का ही एक विकृत एवं प्रतिक्रियामूलक रूप धारण कर लेता है।

मूर्तिपूजा की उत्पत्ति

वैदिक शास्त्रों के अवगाहन से यह भली-भाँति विदित हो जाता है कि उनमें ईश्वर की स्थानापन्न किसी मूर्ति, प्रतिमा या बाह्य प्रतीक की पूजा-उपासना के लिये कोई विधान नहीं है। वेदमंत्रों, उपनिषद् वाक्यों तथा स्मृति ग्रन्थों में उल्लिखित आर्य उपासना पद्धति का यदि विश्लेषण किया जाये तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनमें ब्रह्म की पराशक्ति की भक्ति, पूजा एवं उपासना की ऐसी ही प्रणालियाँ विवेचित हुईं जिनमें स्थूल कर्मकाण्ड का लेशमात्र भी नहीं है। तब यह सहज जिज्ञासा होती है कि यदि वैदिक उपासना में स्थूलता का किंचित् मात्र भी समावेश नहीं था, तो कालान्तर में विभिन्न देवी-देवताओं की नाना आकृतियाँ, उनकी मूर्तियाँ तथा मंदिर आदि का यह विराट् संभार किस प्रकार उत्पन्न हुआ तथा संपूर्ण देश में देवालयों का विस्तार तथा तत् सम्बन्धी विभिन्न व्रतोत्सवों, कर्मकाण्डों तथा स्थूल पूजापद्धतियों का यह प्रचण्ड आडम्बर किस प्रकार अस्तित्व में आया?

इस प्रश्न के उत्तर में सत्यार्थप्रकाश के लेखक ने मूर्तिपूजा की उत्पत्ति और विकास का विस्तृत लेखा-जोखा देते हुए मूर्तिपूजा का प्रचलन जैन धर्म से माना है। उनके एतद्विषयक विचार इस प्रकार हैं—

जैन धर्म में सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के लिये कोई मान्यता अथवा धारणा नहीं है। इसके

प्रतिकूल जैन दर्शन यही मानता है कि मनुष्य ही अपने सदगुणों और दैवी वृत्तियों का विकास कर सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त करता है। इस स्थिति को 'केवली दशा' कहा है। केवली अवस्था को प्राप्त जैन साधक ही सर्वज्ञ तथा तीर्थकर आदि संज्ञा प्राप्त करते हैं। कालान्तर में इन वीतराग, निष्काम तथा सांसारिक वासनाओं के प्रति तटस्थता का भाव रखने वाले जैन तीर्थकरों की प्रतिमायें बनाई गईं तथा उनकी पूजा-उपासना एवं ध्यान को मोक्ष मार्ग का साधक मान लिया गया। जब देश में जैन तीर्थकरों की प्रतिमायें बनाई गईं तथा उनकी पूजा-उपासना एवं ध्यान को मोक्ष मार्ग का साधक मान लिया गया, जब देश में जैन तीर्थकरों की मूर्तियों एवं मंदिरों का जाल-सा बिछ गया तो उन्हीं के अनुकरण पर पौराणिकों ने भी राम, कृष्ण आदि विष्णु के अवतारों की मूर्तियाँ बनाकर उनके मंदिर निर्माण करना आरम्भ किया। जैन, बौद्ध आदि वेदबाह्य मतों तथा ब्राह्मणधर्मी पौराणिकों में मानों मंदिर बनाने, मूर्तिपूजा करने और कर्मकाण्ड का जटिल जाल रचने की एक स्पर्धा-सी हो गई। यदि जैन-बौद्ध मूर्तियाँ वीतराग तीर्थकरों तथा ध्यानावस्थित बुद्ध की थीं तो पुराणमतावलम्बी लोगों ने वस्त्राभूषणों से सुसज्जित राग-भोग विषयासक्त विष्णु-लक्ष्मी, राम-सीता तथा कृष्ण-राधा आदि की मूर्तियाँ बनाईं। मूर्तिपूजा तथा तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड का बाहुल्य यह सूचित करता है कि तत्कालीन आर्यधर्मावलम्बियों में परमात्मा के सूक्ष्म, निर्गुण, निरंजन स्वरूप के ग्रहण की क्षमता नष्ट हो गई थी। मूर्तियों और मंदिरों के निर्माण और स्थापना में किस प्रकार के पाखण्ड और छल-कपट अपना योग देते हैं, इसे स्वामी दयानन्द ने भली-भाँति स्पष्ट किया है। प्रथम तो किसी पुजारी द्वारा मूर्ति को पहाड़, कन्दरा अथवा भूमि में छिपाना, तत्पश्चात् अपने सहयोगियों और अनुयायियों द्वारा यह प्रवाद प्रचलित करना कि स्वप्न में मुझे अमुक देवता ने दर्शन देकर कहा कि मैं अमुक स्थान पर गड़ा पड़ा हूँ, वहाँ से मेरा उद्धार करो, अमुक श्रेष्ठी की सहायता से मंदिर निर्माण कर मेरी प्रतिमा स्थापित करो। तदनुकूल ही मूर्ति का उद्धार कर धनी व्यक्तियों के आर्थिक सहयोग से बड़े आडम्बरपूर्वक मंदिर का निर्माण, मूर्ति की प्रतिष्ठा आदि के कार्यक्रम आयोजित होते हैं। वस्तुतः यह सारे कार्य-कलाप जीविका निर्वाहार्थ ही किये जाते हैं। इनमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है।

क्या निराकार का ध्यान सम्भव नहीं?

जब मूर्तिपूजा का प्रचलन सर्वत्र हो गया और उसे ईश्वर प्राप्ति एवं भक्ति-मुक्ति का सुलभ साधन माना गया तो उसकी पुष्टि में नानाविध तर्क-वितर्क भी दिये जाने लगे। सत्याप्रकाशकार ने इन युक्तियों को पूर्वपक्ष में रखकर उनका उचित समाधान भी किया है। मूर्तिपूजा के समर्थन में जो सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क दिया जाता है वह इस प्रकार है— "निराकार का ध्यान सम्भव नहीं। अतः यदि साकार मूर्ति के सम्मुख जाकर

हम परमेश्वर का स्मरण करें, तो इसमें क्या हानि है?'' ऊपरी दृष्टि से निर्दोष प्रतीत होने वाला यह तर्क कितना दोषपूर्ण है यह स्वामी जी द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त पक्ष से विदित होता है। उनका कथन है कि प्रथम तो निर्गुण, निराकार की मूर्ति बनाना ही सम्भव नहीं है, अतः मूर्तिपूजा किसी व्यक्ति को ईश्वर भक्त बनने की प्रेरणा दे सकती है, यह निरर्थक कथन है। यदि ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता, महत्ता तथा सर्वलोकमहेश्वरत्व का ही ध्यान करना हो तो हमें उसके द्वारा रचित विभिन्न नदी, पर्वत, अरण्य, महासागरयुक्त इस सृष्टि तथा उसके रचयिता का चिंतन करना चाहिये।^१ मूर्ति को देखने से तो उसके बनाने वाले कलाकार का ही ध्यान आता है। सर्वव्यापक तथा सर्वान्तर्यामी ईश्वर के चिन्तन से मनुष्य पाप कर्म करनेसे विरत होता है, परन्तु मूर्ति को देखकर तो उसके मन में यही भावना जागृत होती है कि इस समय तो मुझे अशुभ कर्म करते हुए देखने वाला कोई नहीं है, यह मूर्ति तो जड़ है, जब यह हमारे द्वारा अर्पित धूप, दीप, नैवेद्य आदि को ग्रहण करने में भी असमर्थ है तो हमें दण्डित करने में कहाँ समर्थ होगी? फलतः वह पाप में प्रवृत्त होता है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि मंदिरों में चोरी, दुराचार, अपहरण, हत्या, बलात्कार आदि के अपराध होते ही रहते हैं। अतः यह युक्ति सर्वथा निरर्थक ही है कि मूर्तिपूजा उपासक में सद्गुणों का समोवश कर उसे भगवत्स्मरण की ओर उन्मुख करती है।

भगवन्नाम-स्मरण

मूर्तिपूजा और नाम-स्मरण का अनिवार्य सम्बन्ध है। पुराणों में तो भगवन्नाम स्मरण को ही कलियुग में मोक्ष-लाभ का एकमेव सुलभ साधन माना है।

हरिर्नाम हरिर्नाम हरिर्नामैव केवलम्

परन्तु नामस्मरण का जो प्रचलित रूप है क्या वह निश्चय ही तथैव फलदायक है? इस प्रश्न के उत्तर में सत्यार्थप्रकाश के लेखक ने भगवन्नाम-स्मरण का वास्तविक स्वरूप प्रतिपादित किया। उनके अनुसार ईश्वर के अभिधान रूप किसी नाम का पुरस्कृतिपूर्वक उच्चारण पर्याप्त नहीं है। यह तो जिह्वा की कवायद मात्र है। नाम स्मरण का सही रूप यह है कि ईश्वर के जिस नाम को हम लें उसके अर्थ का सतत चिंतन करते हुये तदनुकूल ही अपना व्यवहार बनायें। यही नाम-स्मरण की सार्थकता है। उदाहरणार्थ, यदि हम ईश्वर

१. वेद में उसी परमात्मा के लिये अपनी भक्ति व्यक्त करने का आदेश है, जिसकी महिमा का दिग्दर्शन हिमाच्छादित शिखरों वाले पर्वत करते हैं, नदी, पर्वत जिसकी महिमा का गायन करते हैं तथा विशाल दिशायेँ जिसकी बाहु तुल्य हैं—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

—यजुर्वेद २५।११

को 'न्यायकारी' अथवा 'दयालु' के नाम से पुकारें तो हमें भी सांसारिक कर्मों में न्यायशील तथा दुःखी एवं आर्तजनों के प्रति दया का आचरण करना होगा। तभी हमारा ईश्वर को 'न्यायकारी' और 'दयालु' कहना सार्थक है। जिस प्रकार गुड़ का नाम लेने से मुँह मीठा नहीं होता, उसी प्रकार ईश्वर के विभिन्न वाचक नामों और शब्दों के उच्चारण मात्र से मानव के स्वभाव एवं प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं आता। योगदर्शनकार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

तस्य वाचकः प्रणवः ।। १ । २७

ईश्वर का वाचक नाम ओंकार (प्रणव) है। पुनः उसके जप का प्रकार बताते हुए कहा गया—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।। १ । २८

उसके जप का सही प्रकार है उसके अर्थ की भावना करना। अर्थात् जब हम ओंकार के नाम का जप करें तब बार-बार हमें ईश्वर के सर्वरक्षक और सर्वव्यापक रूप का चिन्तन करना होगा। अर्थ-चिन्तन के बिना नाम स्मरण मात्र पाखण्ड ही है।

मूर्तिपूजा और अवतारवाद

मूर्तिपूजा और अवतारवाद का घनिष्ट एवं अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। पौराणिक हिन्दू जिन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ मंदिरों में स्थापित कर पूजते हैं, उन्हें वे ईश्वर का मानवरूप धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होने वाले अवतार ही मानते हैं। अतः पूर्वपक्षी ने जब यह तर्क उपस्थित किया कि निराकार ईश्वर ही समय पड़ने पर तथा आवश्यकता उपस्थित होने पर धर्म की रक्षा एवं अधर्म के विनाश हेतु मानव-रूप धारण कर जन्म लेता है^१, अतः ऐसे शरीरधारी अवतारों की प्रतिमाओं की पूजा में क्या अनौचित्य हो सकता है? तो स्वामी जी ने अवतारवाद के सिद्धान्त को ही अवैदिक और कालान्तर में पुराणों के आधार पर कल्पित सिद्ध किया। वेदों में ऐसे अनेक मंत्र आते हैं जो ईश्वर को अजन्मा^२ अकाय^३ तथा अविनाशी सिद्ध करते हैं। जो आकाश के तुल्य सर्वत्र व्यापक तथा अनन्त ब्रह्माण्डों का धारक सहस्रशीर्षा विराट् पुरुष है^४ वह भला एक स्त्री के गर्भाशय में कैसे आ सकता है, अतः अवतारवाद पर आश्रित मूर्तिपूजा का आडम्बर भी अनायास ही धराशायी हो जाता है।

अब पूर्वपक्षी पुनः तर्क की शरण लेता है। उसने कहा— “यदि आप ईश्वर को व्यापक मानते हैं तो क्या वह मूर्ति में नहीं है? पुनः मूर्ति की पूजा करने में क्या अनौचित्य है?

१. गीता के 'यदा हि धर्मस्य' तथा 'परित्राणायाय साधूनां' आदि श्लोकों में यही भाव व्यक्त हुआ है।

२. शंनो अजएकपात् । ऋग्वेद ७। ३५। १३

३. यजुर्वेद ४०। ८—'स पर्यगाच्छुक्रमकायं'

४. यजुर्वेद ३१। १

और सबसे बड़ी बात तो भावना की है। यदि हम प्रस्तर-निर्मित मूर्ति में भी चैतन्य देवता की भावना करें तो वह भावना हमारे लिये उसी प्रकार फलदायिनी और भुक्ति-मुक्ति प्रदायिनी होगी जैसे कोई चैतन्य प्राणी होता है?''

सत्यार्थप्रकाशकार का उत्तर स्पष्ट है। सर्वत्र व्यापक परमात्मा को मूर्ति तक सीमित कर देना वैसा ही है जैसा चक्रवर्ती सम्राट् को एक छोटी-सी कुटिया का स्वामी बताना। पुनः सर्वव्यापक की मूर्ति के रूप में सेवा पूजा करना, उसके लिये धूप-दीप जलाना, घण्टानाद करना, नैवेद्य अर्पित करना क्या खिलवाड़ के तुल्य नहीं है? क्या ईश्वर इन बाल-क्रीडाओं से प्रसन्न होता है? वस्तुतः सृष्टि में सर्वत्र व्यापक और सर्वनियन्ता ईश्वर की पूजा तो भक्त अपनी श्रद्धा और भक्ति अर्पित करके ही कर सकता है।

जहाँ तक भावना का प्रश्न है। स्वामी दयानन्द ने इस भावुकतापूर्ण कथन का पूर्ण विश्लेषण कर उसे सही परिप्रेक्ष्य में उपस्थित किया है। भावना का अर्थ तो यही है कि जो वस्तु जैसी है उसको वैसी ही समझना अतः मूर्ति को मूर्ति और धातु को धातु ही मानना सही भावना है।^१ जड़ में चेतन की भावना अथवा चेतन में जड़ की भावना मिथ्या भावना है जो कभी फलवती नहीं हो सकती। यदि भावना करने से ही काम बनता हो तब तो असत् वस्तु में सत् पदार्थ की भावना कर हम अप्राप्त को भी प्राप्त कर सकते हैं। स्वामी जी की तार्किक और वैज्ञानिक चिंतन प्रणाली के समक्ष मूर्तिपूजा-समर्थकों की सभी युक्तियाँ कुण्ठित होने लगती हैं।

प्राण प्रतिष्ठा का औचित्य

जब युक्तियों और तर्क से काम नहीं चला तो प्रतिमा-पूजकों ने पौराणिक ग्रन्थों में मूर्तियों के निर्माण की विधि, मंदिर स्थापन, प्रतिमाओं की शास्त्रीय (?) विधि से प्राण प्रतिष्ठा आदि की बात कही। जब हमारे देश में पुराणों पर आधारित कर्मकाण्ड का विस्तार हुआ तो ऐसे ग्रन्थों की भी रचना हुई जिनमें मंदिरों के निर्माण, मूर्ति स्थापना, मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा, मूर्तियों के अर्चन की विधि, देवताओं के आह्वान-विसर्जन आदि का विराट् आडम्बरपूर्ण विधान निबद्ध किया गया था। स्वामी जी का इस सम्बन्ध में कथन है कि केवल किन्हीं मंत्रों के पढ़ने मात्र से ही न तो अतीन्द्रिय एवं अज्ञात लोकवासी देवता आते हैं और न विसर्जन के मंत्रों के पाठ से पुनः यथास्थान लौट जाते हैं। यदि आह्वान के मंत्रों से देवता आने लगें तो जड़ मूर्तियों में देवताओं की शक्ति के संकुचित होने से उन्हें

१. तुलनीय- "तर्हि भावना का नाम? भावना तु पाषाणे पाषाणभावना रोटिकायां रोटिका भावनेति पयार्थज्ञानमिति ब्रूमः, तस्मिंस्तद् बुद्धिरिति। तथा रोटिकायां पाषाण भावना पाषाणे रोटिकाभावना प्रयार्थज्ञानमतस्मिंस्तद् बुद्धिर्भो ह्यभावना चेति।"

चेतने हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। आह्वान और विसर्जन का यह आडम्बर वाक्छल मात्र ही है। सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक ईश्वर का आना-जाना कथमपि सम्भव नहीं है। अतः प्रतिष्ठा मयूख, प्रतिष्ठा-भास्कर आदि जिन पौराणिक विधिपरक ग्रन्थों में मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा की बातें लिख हैं वे बुद्धिमानों के लिये तो मनोविनोद की ही हैं। न तो चारों वेदों में ही कोई ऐसे मंत्र हैं जो मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा का विधान करते हैं और न इन मंत्रों में ही प्रतिमाओं के षोडशोपचार पूजन का उल्लेख मिलता है, अतः मंदिरों और प्रतिमाओं की अवैदिकता असंदिग्ध है।

क्या मूर्तिपूजा लोकाचार के रूप में ग्राह्य है?

जब मूर्ति पूजा के समर्थन में दी जाने वाली सभी प्रकार की युक्तियों और प्रमाणों का निरसन कर दिया जाता है तो इसके समर्थकगण यह कहने लगते हैं कि चलो कोई बात नहीं, यदि वेद मूर्तिपूजा का समर्थन नहीं करते, तो खण्डन भी नहीं करते। पुनः इसे एक आदर्श एवं परम्परा-प्राप्त लोकाचार ही क्यों न मान लिया जाय। कहीं-कहीं तो लोकाचार को भी स्वीकार करना ही पड़ता है! इसके उत्तर में स्वामी जी ने यजुर्वेद के मंत्र तथा उपनिषद् वाक्यों को उद्धृत कर परमेश्वर के स्थान पर प्रकृति तथा प्रकृति-जन्य पदार्थों की उपासना को खण्डन किया। “न तस्य प्रतिमा ऽस्ति यस्य नाम महद्यशः”^१ जैसे मंत्र स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा करते हैं कि परमात्मा की प्रतिमा-परिमाण-सादृश्य वा मूर्ति नहीं है। इसलिये मूर्तिपूजा की गणना सदाचार या लोकाचार में भी नहीं हो सकती। परम्पराप्राप्त होने से ही कोई वस्तु श्रेयस्कर या ग्राह्य नहीं हो जाती।

अब पूर्वपक्षी ने कहा कि यदि मूर्तिपूजा को आप पुण्यकार्य नहीं मानते तो उसे पाप भी नहीं कहा जा सकता, पुनः इसका निषेध करना कहाँ तक उचित है? उत्तर में सिद्धान्ती ने कहा कि किसी भी कर्म को विधेय और निषिद्ध में से किसी एक श्रेणी में रखा जाता है। जो करणीय कर्म हैं वे विधेय हैं, उनके करने में पुण्य ही होता है। निषिद्ध कर्म अनाचरणीय होने से पाप ही हैं। जब शास्त्रों में जड़पदार्थ-पूजा को निषिद्ध माना है तो उन्हें पापजनक क्यों नहीं कहा जायेगा?

१. न यत्र साक्षाद्विधयो न निषेधाः श्रुतौ स्मृतौ।

देशाचार कुलाचारैस्तत्र धर्मो निरूप्यते।। स्कन्दपुराण

जहाँ श्रुति और स्मृति के आधार पर किसी बात की साक्षात् विधि या निषेध का ज्ञान न हो, वहाँ देशाचार और कुलाचार के आधार पर ही धर्म का निरूपण किया जाता है।

२. यजुर्वेद ४०।९ केनोपनिषद् खण्ड १।४८

३. यजुर्वेद ३२।३

क्या मूर्तिपूजा अल्पज्ञानियों के लिये है?

अन्ततः पूर्व पक्षी ने यह स्वीकार किया कि वेद के विधानानुसार मूर्तिपूजा चाहे कर्त्तव्य न हो, किन्तु अल्पज्ञानी तथा न्यून सामर्थ्य वाले मनुष्यों के लिये तो मूर्तिपूजा को आध्यात्मिक साधन के सर्वोच्च सोपान तक पहुँचने के लिए एक सीढ़ी के तुल्य ही मानना उचित है। एक अर्वाचीन ग्रन्थ के प्रमाणानुसार उनका कहना है—

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः ।

स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बहिःपूजाऽधमाधमा । ।

लड़कियों के गुड़ियों के खेल की उपमा देते हुए ऐसे लोग कहते हैं कि जिस प्रकार कन्यायें गुड़िया का खेल तभी तक खेलती हैं जब तक उनको पति की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार मूर्तिपूजा के द्वारा सामान्य-जन अपनी आध्यात्मिक भावनाओं की संतुष्टि तभी तक करते हैं जब वे निर्गुण और निराकार के मानसिक ध्यान की उच्चावस्था तक नहीं पहुँच जाते। ऐसी स्थिति में मूर्तिपूजा को एक निर्दोष कृत्य ही मानना चाहिए।

सत्यार्थप्रकाशकार के लिये ऐसी युक्तियों में अधिक सार नहीं है। जब मूर्तिपूजा के विधान को सर्वांश में वेदबाह्य तथा वेदविरुद्ध ठहरा दिया गया तब उसकी वकालत किसी भी रूप में नहीं की जा सकती। भारत का धर्म चिन्तन इस विषय में एकमत है कि जो विधान वेदों से अनुमोदित नहीं है वह आर्यों के लिये कदापि विहित नहीं हो सकता। भारत की आर्ष प्रज्ञा ने वेदप्रमाण को ही धर्ममीमांसा में प्रथम स्थान दिया है। ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनिपर्यन्त सभी ऋषिगण वेदाज्ञा का आदर करते रहे। उनके लिए वेद की अनुज्ञा और प्रेरणा ही धर्म है। अतः वेदों के प्रतिकूल तंत्र और पुराणों से अनुमोदित मूर्तिपूजा का विधान किस प्रकार स्वीकरणीय हो सकता है?

जो लोग मूर्तिपूजा को आध्यात्मिक साधना की सीढ़ी कहते हैं, उनको उत्तर देते हुए हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा— “मूर्तिपूजा सीढ़ी नहीं, किन्तु एक बड़ी खाई है जिसमें गिरकर मनुष्य चकनाचूर हो जाता है। पुनः उस खाई से निकल नहीं सकता किन्तु उसी में मर जाता है।” यदि मानव की आत्मा का चरम विकास ही किसी को अभीष्ट हो तो उसे विद्वानों की संगति, सद्विद्या ग्रहण, सत्यभाषणादि सद्गुणों को धारण करना होगा, इसे ही आत्मज्ञान और परमात्मप्राप्ति की सीढ़ी कहना उपयुक्त है।

मूर्तिपूजा के समर्थक साकार मूर्ति में मन के स्थिर होने का तर्क भी प्रस्तुत करते हैं और निराकार के ध्यान को कठिन और असम्भव मानते हैं। स्वामी जी के लिये इस युक्ति का समाधान करना भी कठिन नहीं है। उन्होंने कहा कि यदि साकार में मन का स्थिर होना माना जाय तब तो स्त्री, पुत्र, गृह आदि सभी स्थूल पदार्थों में मन को स्थिर हो जाने से मनुष्य की मुक्ति-प्राप्ति सुनिश्चित हो जानी चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता।

अतः इस निरर्थक और मिथ्या तर्कजाल में न उलझकर मूर्तिपूजा की व्यर्थता को हृदयंगम करना आवश्यक है। इसी विचारक्रम में स्वामी जी ने मूर्तिपूजा के अन्य दोषों को भी गिनाया।

मूर्तिपूजा का आर्थिक पहलू

मंदिरों के निर्माणादि में राष्ट्र का करोड़ों रुपया व्यर्थ ही व्यय होता है। आज यह किसी से अप्रकट नहीं है कि यदि भारत के समस्त देवालयों की स्थावर तथा जंगम सम्पत्ति का सदुपयोग राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में किया जाय तो उससे स्वदेश का बहुमुखी विकास सम्भव है। परन्तु हम देखते हैं कि तिरुपति, नाथद्वारा तथा अन्यान्य देव-संस्थानों में करोड़ों की धनराशि निरर्थक कार्यों में नष्ट होती है। धनी लोग अपनी लोकैषणा की तुष्टि के लिये दिन-प्रतिदिन नवीन मंदिरों का निर्माण कराते हैं, किन्तु उससे देश की दरिद्र और संतप्त जनता का क्या भला हो सकता है, उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता।

क्या मूर्तिपूजा सदाचार की पोषक है?

जिन मंदिरों और धर्म स्थानों में स्त्री-पुरुषों का अमर्यादित आवागमन होता है वहाँ व्यभिचार-वृद्धि स्वाभाविक ही है। स्वामी दयानन्द ने बम्बई के वल्लभ सम्प्रदायानुयायी गोस्वामी महाराजों के काले कारनामों को प्रत्यक्ष देखा था। किस प्रकार महाराज लाइबल केस के द्वारा वल्लभ सम्प्रदाय के मंदिरों में होने वाली पाप-लीलाओं का भण्डाफोड़ किया गया, यह उस युग के समाचारपत्रों तथा अन्य प्रकाशित सहित्य से स्पष्ट होता है।^१

आर्य विचारधारा में मानव जन्म की प्राप्ति धर्मार्थ, काम, मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि हेतु मानी गई है। मूर्तिपूजादि कृत्यों में लीन रहने वाले लोग मनुष्य-जीवन के चरम लक्ष्य से विमुख रह कर स्थूल जड़-पूजा को ही अपने जीवन का एकमेव लक्ष्य समझ बैठते हैं।

मूर्तिपूजा और साम्प्रदायिक विद्वेष

यह तो सुनिश्चित तथ्य है कि मंदिरों और मूर्तियों ने साम्प्रदायिक विद्वेष को बढ़ाकर हमारी राष्ट्रीय एकता को कमजोर बनाया है। विभिन्न सम्प्रदायों के द्वारा संचालित मठ और मंदिर अपने अपने इष्ट देवों और उनकी पूजा-अर्चना को महत्त्व देते हैं। इसलिये मंदिरों और उनके पुजारियों का पारस्परिक स्पर्धाभाव विद्वेष और अनैक्यता को ही जन्म देता है। आश्चर्य है कि मूर्तिपूजा का दार्शनिक विश्लेषण करने वाले लोग ही एक देवता की श्रेष्ठता और दूसरे की नीचता का ढोल पीटकर अपने सिद्धांतों का दिवालियापन घोषित

१. द्रष्टव्य- स्वामी क्लार्कटानन्द रचित-

१. वल्लभ कुल दम्भ दर्पण
२. वल्लभ कुल चरित्र दर्पण
३. वल्लभ कुल छल कपट दर्पण

करते हैं ।^१

मूर्तिपूजा ने देश के राष्ट्रीय स्वाभिमान और अस्मिता का किस प्रकार विनाश किया है, यह इतिहास के तथ्यों से स्पष्ट है। जिस समय सोमनाथ महालय पर महमूद गजनवी का आक्रमण हुआ तो पुजारियों ने मंदिर की रक्षा के लिये सन्नद्ध सोलंकी राजपूतों को युद्ध से विरत करते हुए कहा— “मंदिर की रक्षा स्वयं महादेव करेंगे, आप क्यों चिन्ता करते हैं।” जो परिणाम हुआ वह स्पष्ट है। स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा से उत्पन्न होने वाले इस विनाशकारी दृश्य को देखकर अत्यन्त पीड़ाकुल हृदय से लिखा कि मूर्तियों में श्रद्धा रखने वाले अपने राज्य, स्वातन्त्र्य और भौतिक ऐश्वर्यों को खोकर पराधीन होते हैं तथा शत्रुओं के वशवर्ती होकर सर्वात्मना दुःख प्राप्त करते हैं।

चैतन्य परमात्मा के स्थान पर प्रस्तर-प्रतिमा की प्रतिष्ठा उसी प्रकार अपमानजनक है, जिस प्रकार कोई चक्रवर्ती सम्राट् के सिंहासन पर पत्थर रखकर उसका अपमान करता है। मूर्तिपूजकों के भौतिक कष्टों और पीड़ाओं की भी कोई सीमा नहीं रहती। वे मंदिर-दर्शन से कभी संतोष लाभ नहीं करते। उनकी नाना तीर्थों में भ्रमण करने तथा विभिन्न देवस्थानों में भटकने की लालसा पागलपन और सनक का रूप धारण कर लेती है। हम देखते हैं कि देश में प्रति वर्ष करोड़ों रुपया व्यर्थ के देशाटन और मंदिर-दर्शन एवं भ्रमण में लगता है। इन तीर्थयात्रियों को नानाविध कष्ट उठाने पड़ते हैं।

मूर्तिपूजक जो धन और द्रव्य दान-दक्षिणा के रूप में पुजारियों को अर्पित करते हैं, क्या उसका निश्चय ही सदुपयोग होता है? कदापि नहीं। पुजारियों में पाये जाने वाले दुर्गुण,

१. विष्णु प्रतिमा के दर्शन से शिवद्रोह उत्पन्न होता है, जिससे कि दारुण नरक मिलता है, अतः विष्णु का तो नाम भी नहीं लेना चाहिये—

विष्णुदर्शन मात्रेण शिवद्रोहः प्रजायते ।

शिवद्रोहान्न सन्देहो नरकं याति दारुणम् ।

.....तस्माद् विष्णु नामापि न वक्तव्यं कदाचन ।। —पद्मपुराण

इसी प्रकार नारायण की श्रेष्ठता घोषित करते हुए कहा गया है—

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मा रुद्रादि देवतैः ।

समं सर्वैर्निरीक्षेत स पाषण्डी भवेत् सदा ।।

जो नारायण के तुल्य ब्रह्मा और रुद्र को कहता है, वह पाषण्डी है।

किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येष्पवैष्णवाः ।

न स्पष्टव्या न द्रष्टव्या न वक्तव्याः कदाचन ।।

अधिक तथा कहे जो ब्राह्मण होकर भी वैष्णव नहीं हैं, वे छूने, देखने और बात करने के भी योग्य नहीं हैं।

दुर्व्यसन और दुराचार सर्वप्रसिद्ध हैं। पर स्त्रीगमन, वेश्यावृत्ति, मदिरापान, मांसाहार, द्यूत-क्रीड़ा कौन सा ऐसा दुर्व्यसन है जो भारत के मठाधीशों, महन्तों और पुजारियों में न पाया जाता हो।^१ अतः मूर्तिपूजा दुराचार की जननी है।

अपने घर में उपस्थित माता, पिता आदि मान्य गुरुजनों की उपेक्षा और अपमान तथा जड़ मूर्तियों का आदर और सम्मान क्या एक विडम्बना-पूर्ण स्थिति नहीं है? आश्चर्य तो यह है कि मूर्तिपूजक जीवित माता, पिता आदि देवों का सम्मान न कर धातु और प्रस्तर की मूर्तियों के बनाव श्रृंगार तथा उनके पूजा-उपचार में अधिक रुचि लेते हैं।

मूर्तिपूजकों की विपत्तियों का कोई ओर-छोर नहीं है। जिन मंदिरों में पुजारी गण अपार धन संग्रह करते हैं तथा स्वर्ण, रजत आदि मूल्यवान् धातुओं से निर्मित मूर्तियों को कीमती वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करते हैं, वहाँ प्रायः चोर, डाकू, लुटेरे इस तलाश में रहते हैं कि अवसर आते ही वे मूर्तियों को तोड़-फोड़कर बहुमूल्य रत्न का अपहरण कर लें।^१ प्रायः ऐसी घटनायें घटित होती रहती हैं और वे मूर्तिपूजक समुदाय के लिये क्लेश का कारण बनती है। पुजारियों का दाम्पत्य जीवन भी प्रायः दूषित हो जाता है, नाना प्रकार की कुसंगतियों में पड़कर पुजारी गण अपना चरित्र नाश करते हैं। पुजारियों में अनुशासन, आत्मसंयम, आज्ञापालन आदि गुणों का नितान्त अभाव रहता है। आगन्तुक भक्तजनों के प्रति उनका आचरण और व्यवहार नितान्त कठोर, अभद्र तथा स्वेच्छायुक्त होता है।

जड़ मूर्तियों का निरन्तर ध्यान करने वाले मूर्तिपूजकों का अन्तःकरण भी नितान्त जड़ हो जाता है। उनका ध्यान और चिन्तन प्रस्तरनिर्मित मूर्तियों को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करने, उन्हें धूप, दीप, गंध, नैवेद्य आदि से सत्कृत करने तक ही सीमित रह जाता है। फलतः वे सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का मनन और निदिध्यासन करने में नितान्त असमर्थ रहते हैं। ऐसे जड़ पूजकों का मन और आत्मा भी जड़त्व धर्म से आक्रान्त हो जाता है। जिन लोगों ने सारा जीवन मंदिर में भटकने और मूर्तियों को पूजने में व्यय किया उन्होंने कितनी आध्यात्मिक उन्नति की, इसका लेखा-जोखा किसके पास है?

मंदिरों का वातावरण नितान्त दूषित और स्वास्थ्यनाशक होता है। प्रकृति ने जिन सुन्दर और रम्य पुष्पों को मानव-मन के प्रसादन हेतु उत्पन्न किया है, उन्हें वृक्षों से पृथक् कर देवताओं की मूर्तियों पर चढ़ाना कितना अयुक्तिसंगत है। पुनः ये ही पुष्प जलादि से संयुक्त होकर सड़ जाते हैं तथा वायुमण्डल को दूषित करते हैं। शिवालयों का दृश्य जिन लोगों ने देखा है वे इस बात के साक्षी हैं कि वहाँ मूर्ति के लिये अर्पित किये गये दूध, दही, जल आदि द्रव पदार्थों की ऐसी कीचड़-भरी फिसलन फर्श पर हो जाती है कि

१. सोमनाथ मंदिर पर गजनवी के आक्रमण का रोमांचकारी उल्लेख सत्यार्थप्रकाश के प्रथम (१८७५) संस्करण में द्रष्टव्य।

उस पर असावधानी से चलना मृत्यु को आमंत्रित करना है ।^१ इसी प्रकार मंदिरों में मूर्तियों पर चढ़ाये गये द्रव्यों के दूषित हो जाने से वातावरण में जो अस्वास्थ्यकर तत्त्वों की वृद्धि होती है वह निकटवर्ती लोगों के लिए नितान्त हानिकर सिद्ध होती है ।

इस प्रकार मूर्तिपूजा के दोषों की परिगणना कर स्वामी दयानन्द पंचायतन पूजा का वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट करते हैं । उनके अनुसार शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य और देवी की मूर्तियों को पूजना पंचायतन पूजा का विकृत रूप हैं । वास्तविक पंचायतन पूजा तो माता, पिता, आचार्य, अतिथि और स्त्री के लिए पति तथा पति के लिए पत्नी की पूजा-सत्कार और सम्मान ही है । इन जीवित और जागृत देवों की पूजा में वैदिक शास्त्रों के प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं । मूर्तिमान् देवों को छोड़कर पाषाण-प्रतिमाओं की पूजा सर्वथा अकल्पनीय और व्यर्थ है । पूर्व पक्षी ने पूछा कि यदि माता-पितादि का सेवा करते हुए भी हम मूर्तिपूजा करें तो उसमें क्या हानि है? सिद्धान्ती का उत्तर पक्ष-साक्षात् सुख और मंगलदायक माता पितादि गुरुजन को छोड़कर प्रस्तरमयी मूर्तियों के आगे नैवेद्य अर्पित करना सर्वथा निरर्थक और बुद्धिहीनता का द्योतक है । इस प्रसंग में स्वामी दयानन्द ने हास्यरसपूर्ण उक्ति प्रस्तुत करते हुए लिखा- “पाषाणादि की मूर्ति बना, उसके आगे नैवेद्य धर, घण्टानाद टं टं पूं पूं शंख बजा, कोलाहल कर, अंगूठा दिखला, अर्थात् त्वमगुष्ठं गृहाण भोजनं पदार्थावाऽहं ग्रहीष्यामि” जैसे कोई किसी को छले वा चिढ़ावे और अंगूठा दिखलावे, उसके आगे से सब पदार्थ ले आप भोगे । वैसी ही लीला इन पुजारियों अर्थात् पूजा नाम सत्कर्म के शत्रुओं की है ।” इस कथन में भी कुछ सार नहीं है कि जिस प्रकार स्त्री की पाषाण-प्रतिमा को देखने से काम-भावना जागृत होती है, उसी प्रकार वीतराग देवताओं की मूर्तियों को देखने से वैराग्य और मनःप्रसाद प्राप्त होता है । वस्तुतः विवेक और ज्ञान के बिना वैराग्य उत्पन्न है । जड़ मूर्तियों के दर्शन से तो मन में जड़ता का ही भाव उत्पन्न नहीं होता है । निष्कर्ष रूप में, सत्यार्थप्रकाशकार की मान्यता है कि मूर्तिपूजा के विधान ने हमारे देश में निकम्मे पुजारी, अकर्मण्य भिक्षुक वृत्ति स्वीकार करने वाले, आलस्य और प्रमाद में डूबे करोड़ों व्यक्ति उत्पन्न किये हैं । यही मूर्तिपूजा का विषैला अभिशाप है ।

मूर्तिपूजा विषयक आलोचनात्मक साहित्य

१. मूर्तिपूजा मीमांसा- बुद्धदेव मीरपुरी २. भारत में मूर्तिपूजा- पं. राजेन्द्र

३. मूर्तिपूजा खण्डन- श्री राम आर्य

४. क्या मूर्तिपूजा वेदोक्त है?- बिहारीलाल शास्त्री

५. मूर्तिप्रकाश समीक्षा- तुलसीराम स्वामी

□

१. भुवनेश्वर के लिंगराज आदि शैव मंदिरों तथा अन्य ज्योतिर्लिंग कहलाने वाले मंदिरों से इस तथ्य की पुष्टि होती है ।

९ भारतीय मन्दिरों में प्रचलित चमत्कारों की समीक्षा

जब मूर्तिपूजा का औचित्य और उपादेयता किसी भी युक्ति और तर्क तथा शास्त्रीय प्रमाण के आधार पर सिद्ध नहीं हुई तो इस अर्वाचीन कृत्य के समर्थकों ने देश में स्थापित विभिन्न मन्दिरों तथा उनमें रक्खी हुई मूर्तियों के सम्बन्ध में प्रचलित चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन करना आरम्भ किया। सामान्य मनुष्य तो चमत्कार के आगे स्वतः ही नतमस्तक हो जाता है। वह इस बात की तनिक भी परवाह नहीं करता कि इन आपाततः प्रतीत होने वाले चमत्कारों के पीछे कोई न कोई चालाकी तथा धूर्ततापूर्ण कृत्य काम कर रहा है। स्वामी दयानन्द तो अपनी परिव्राजक अवस्था के प्रारम्भिक काल में ही देश के विभिन्न तीर्थों तथा धर्मस्थानों का व्यापक भ्रमण कर चुके थे। उनकी तत्त्वान्वेषिणी दृष्टि से मन्दिरों में देवताओं के नाम पर प्रचलित ये तथाकथित चमत्कारपूर्ण पाखण्डकृत्य बच नहीं सके। अतः सत्यार्थप्रकाश के इस प्रकरण को लिखने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। तीर्थों और मन्दिरों के सम्बन्ध में प्रचलित इन चमत्कारपूर्ण किन्तु असम्भव मिथ्या कथाओं को सुनाकर धूर्त पण्डे-पुजारी सामान्य जनता को किस प्रकार चमत्कृत कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं, यह भी स्वामी जी भली भाँति जानते थे। भारत के हिन्दू समाज के प्रति दयानन्द के द्वारा किये गये अनेक उपकारों में एक यह भी था कि उन्होंने भोली-भाली प्रजा को धर्म के नाम पर ठगने वाले मूर्तिपूजकों के वंचक दल तथा उनके धूर्ततापूर्ण कृत्यों से उसे सावधान किया।

जिन चमत्कारों की पोल खोलकर देश के विभिन्न तीर्थस्थलों के सम्बन्ध में प्रचलित लोकविश्वासों और प्रवादों का पर्दा फाश स्वामी जी ने किया है उनमें से निम्न सत्यार्थप्रकाश में उल्लिखत हुए हैं—

१. काशी के लाट भैरव द्वारा औरंगजेब की सेना को भौरों द्वारा पीड़ित करना तथा इस प्रकार मुगल सेना का पलायन।

२. म्लेच्छों के दर्शन से बचने के लिए काशी विश्वनाथ का कूप में छिप जाने तथा वेणी माधव का ब्राह्मण के घर में शरण ग्रहण करना।

३. गया में श्राद्ध करते समय पितरों का स्वयं प्रकट होकर पिंड ग्रहण करना।

४. कलकत्ते की काली तथा आसाम की कामाक्षा देवी के सम्बन्ध में प्रचलित प्रवाद तथा चमत्कारपूर्ण कथन।^१

१. भारत को बदनाम करने वाली अमेरिकन लेखिका कु० कैथराइन मेयो ने अपनी कुख्यात पुस्तक 'मदर इण्डिया' का आरम्भ ही कालीघाट स्थित काली मंदिर में पशुबलि के बीभत्स वर्णन से किया है।

५. जगन्नाथपुरी के मन्दिर तथा मूर्तियों के सम्बन्ध में प्रचलित लोकधारणायें। इसके अन्तर्गत स्वामी जी ने मन्दिर के ही एक पुजारी के वक्तव्य के आधार पर जगन्नाथ की रथयात्रा, उसकी मूर्तियों के रहस्य आदि का भण्डाफोड़ किया। वस्तुतः जगन्नाथ मन्दिर वाममार्गी साधना के युग में भैरवीचक्र का स्थान था तभी तो श्रीकृष्ण और बलदेव के बीच सुभद्रा (बहिन) की प्रतिमा स्थापित की गई है। मन्दिर में प्रसाद का वितरण जिस प्रकार होता है वह नितान्त दोषपूर्ण तथा जूठा खाने के तुल्य है।

६. रामेश्वर की शिव प्रतिमा का गंगोत्तरी के जल से बढ़ना।

७. रामचन्द्र द्वारा रामेश्वर की प्रतिमा की स्थापना— इस लोकप्रचलित प्रवाद का खण्डन करते हुए श्रीमहाराज ने वाल्मीकीय रामायण के प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि लंका की ओर प्रस्थान करते हुए राम ने यहाँ परमात्मा की उपासना करते हुए चातुर्मास्य किया था।^१ रामेश्वर के शिव-मन्दिर की स्थापना तो दक्षिण के किसी परवर्ती राम नाम के राजा ने की।

८. दक्षिण में कालियाकन्त की मूर्ति का हुक्का पीना।

९. डाकोरजी की मूर्ति का भक्त के साथ चला आना और सवा रत्ती सोने से कई मन भारी मूर्ति का तुलना।

१०. सोमनाथ के ज्योतिर्लिंग को महमूद गजनवी ने जिस प्रकार तोड़ा तथा मूर्तिपूजकों को जिस भीषण तिरस्कार, अपमान और अत्याचार का शिकार बनना पड़ा, इसकी विशद कथा स्वामी जी ने मार्मिक ढंग से उपस्थित की है। उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पुजारियों का मूर्तियों के प्रति अंधविश्वास तथा क्षत्रियों को युद्ध से विरत करने की प्रेरणा का उल्लेख करते हुए अन्ततः सोमनाथ के महाविनाश का हृदय-द्रावक चित्र प्रस्तुत किया। जड़ प्रतिमाओं के प्रति आस्था और विश्वास प्रकट करने की अपेक्षा यदि किसी एक शूर वीर पुरुष की मूर्ति के सदृश सेवा करते तो वह अपने सेवकों को यथाशक्ति बचाता और उन शत्रुओं को मारता।^२

११. द्वारिका के रणछोड़ जी द्वारा नरसी मेहता की हुण्डी सिकारने के प्रवाद का खण्डन करने के प्रसंग में स्वामी दयानन्द को सन् १८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य-संग्राम की घटनाओं का अनायास स्मरण हो आया जब कि प्रतिरोध की भावना से अंग्रेजों ने हिन्दुओं के मन्दिरों और धर्म स्थानों को तोपों से उड़वा दिया था। यदि मूर्तियों में कुछ भी सामर्थ्य होता तो क्या वे इन म्लेच्छ धर्मदूषकों को नष्ट नहीं कर देती? यदि इस समय श्रीकृष्ण के समान कोई वीर पुरुष उपस्थित होता तो वह अंग्रेजों को भरपूर दण्डित करता, परन्तु मूर्ति बिचारी क्या करती? स्वामी जी कहते हैं— “जिसका रक्षक मार खाये उसके शरणागत क्यों न पीटे जायें?”

१. अत्र पूर्व महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः।

सेतुबन्ध इति विख्यातम्।। वाल्मीकीय रामायण लंका कांड सर्ग १२३। २२.२१

२. हाय ! क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए ! क्यों परमेश्वर की भक्ति न की। जो म्लेच्छों के दांत तोड़ डालते और अपना विजय करते !”

१२. ज्वालामुखी (कांगड़ा) और हिंगलाज के शक्तिपीठों में प्रचलित पाखण्ड ।

१३. स्वामी दयानन्द ने हिन्दुओं के धर्मस्थानों की तो पोल खोली ही साथ ही सिकखों के मान्य स्वर्ण मंदिर (अमृतसर स्थित तालाब और गुरुद्वारा) के सम्बन्ध में प्रचलित लोकप्रवादों का भी खण्डन किया । इसी प्रकार काश्मीर के पार्वत्य प्रदेश में स्थित अमरनाथ महादेव के बर्फ के बने शिवलिंग और वहाँ उपस्थित कबूतरों के जोड़े को भी पुजारियों की लीला ही बताया ।

१४. हरिद्वार और उत्तराखण्ड के देव प्रयाग, उत्तर काशी, गुप्तकाशी, त्रियुगीनारायण, केदारनाथ, बदरीनारायण आदि तीर्थस्थानों का स्वामी जी ने व्यापक भ्रमण किया था ।^१ इन तीर्थस्थानों में प्रचलित पाखण्ड-लीलाओं को उन्होंने निकट से देखा था । अतः यहाँ की वस्तुस्थिति को उन्होंने विस्तारपूर्वक विवेचित किया है । हर की पैड़ी को 'हाड पैड़ी' तथा तपोवन को 'भिक्षुवन' कहना सत्यार्थप्रकाशकार की व्यंग्य-प्रधान शैली का उदाहरण तो है ही किन्तु सत्य भी है क्योंकि हर की पैड़ी पर देश-देशान्तरों के मृतक व्यक्तियों की अस्थियों का विसर्जन किया जाता है और किसी समय का तपोवन आज भिखारियों के बाहुल्य से भिक्षुक बन गया है । तीर्थों के नाम पर पण्डे-पुजारियों का निर्बाध व्यापार और जीविका साधन सर्वत्र चलता है । बदरीनाथ के पुजारी रावल जी भी सर्वांश में दोषशून्य नहीं हैं । उत्तराखण्ड के इन तीर्थों का केवल कृष्णपक्ष बताना ही ग्रन्थकार का ध्येय नहीं था । उसने यहाँ की भूमि की प्रशंसा करते हुए उसे रमणीय और पवित्र कहा है, जहाँ प्रकृति का सम्पूर्ण वैभव और सौन्दर्य अनायास ही अभिव्यक्त हो गया है ।

१५. विन्ध्याचल की विन्ध्येश्वरी, प्रयाग के संगम, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थ स्थानों के सम्बन्ध में भी सत्यार्थप्रकाशकार ने अनेक तथ्यपूर्ण बातें लिखी हैं । वे इन सभी स्थानों पर जा चुके थे ।^१ मथुरा में तो २ । । वर्ष तक रहकर दण्डी विरजानन्द की पाठशाला में अध्ययन करने का सुयोग भी उन्हें मिला था । मथुरा के चौबों, बन्दरों और कछुओं के उत्पात का उन्होंने हास्यपूर्ण ढंग से वर्णन किया है । वृन्दावन तो अब 'विश्यावन' से भिन्न नहीं रहा क्योंकि जहाँ राधा कृष्ण की प्रेमलीलाओं का वास्तविक अनुकरण ही मधुरा भक्ति का साधन माना जाय वहाँ लोगों के चरित्र-विनाश के सभी उपकरण स्वतः ही प्रस्तुत हो जायेंगे । गोवर्धन और ब्रज की ८४ कोस की यात्रा सभी घनहरण के साधन हैं । ऐसी बात नहीं कि इन तीर्थों में निवास करने वाले सभी लोग ढोंगी, पाखण्डी और दुराचारी ही हों कोई धार्मिक, परोपकारी सत्पुरुष भी इन स्थानों में निवास करते हैं, परन्तु उनकी संख्या नगण्य ही है । इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा और उसके आश्रयभूत तीर्थों, देवालयों और धर्मस्थानों में व्याप्त ढोंग, पाखण्ड और कदाचार का यथार्थ ढंग से वर्णन किया है । □

१. द्रष्टव्य- उत्तराखण्ड में ऋषि दयानन्द- विश्वम्भरसहाय प्रेमी

१० तीर्थ समीक्षा

मूर्तिपूजा और तीर्थों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सामान्य लोगों की यह धारणा है कि भारतीय संस्कृति में मूर्तिपूजा की विधि और तीर्थ-परम्परा सनातन काल से चली आई हैं। परन्तु तथ्य इसके विपरीत हैं। यदि हम मंत्र संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि वैदिक वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थों का अवगाहन करें तो स्पष्ट होगा कि उस युग में न तो उपासना की मूर्तिपूजा जैसी स्थूल विधियों का ही विकास हुआ था और न गंगा, यमुना, प्रयाग, काशी आदि नदियों और नगरों को तीर्थ पद प्राप्त था। तीर्थों की कल्पना भी पौराणिकों ने जैन मत के अनुकरण पर की है। जब जैन मतावलम्बियों ने गिरनार, पालीताना, शत्रुंजय आदि स्थानों में अपने तीर्थकरों के मन्दिरों का निर्माण कराया तथा दूर-दूर से यात्रिगण इन स्थानों की यात्रा के लिये आने लगे तो हिन्दुओं ने भी विभिन्न पर्वत शिखरों, नदी तटों तथा अन्य स्थानों पर विष्णु, शिव आदि के मंदिरों का निर्माण आरम्भ किया। तीर्थों का इतिहास अधिक पुराना नहीं है, यह पण्डों की प्राचीन बहियों को देखकर जाना जा सकता है। पुराणों के रचनाकाल में ही तीर्थों को असाधारण माहात्म्य प्राप्त हुआ। काशी माहात्म्य, पुष्कर माहात्म्य आदि ग्रन्थों के रचयिताओं ने अपने-अपने स्थानों के महत्त्व को सर्वोपरि घोषित किया।^१ काशी के सम्बन्ध में तो अनेक विचित्र उक्तियाँ प्रचलित हैं। यह भगवान् शंकर के त्रिशूल पर स्थित है। काशी में मरने से मुक्ति प्राप्त होती है। अन्य स्थानों पर किये पापों से मुक्ति काशी में रहने मात्र से हो जाती है—

‘अन्यक्षेत्रे कृतं पापं काशीक्षेत्रे विनश्यति।’

इन सभी धारणाओं को पुराणों ने पल्लवित और पुष्पित किया। स्कन्दपुराण जैसे ग्रन्थों में समस्त भारत में फैले सहस्रों तीर्थों, देवालयों और पुण्य-स्थानों तथा उनकी यात्रा करने का फल वर्णित हुआ है। निश्चय ही ये सभी तीर्थयात्रा-विधान नितान्त अतिशयोक्तिपूर्ण तथा पुराणकारों की कल्पना-प्रियता के द्योतक हैं। आज का व्यस्त मानव अपने जीवन में इन पुण्य स्थलों की यात्रा के लिये न तो समय ही निकाल सकता है और न वह इन तीर्थों पर किये जाने वाले जटिल कर्मकाण्डों, व्रतोपवासों और अन्य प्रकार

१. स्कन्दपुराण में ऐसी मिथ्या माहात्म्य कथाएँ भरी पड़ी हैं।

के विधि-विधानों का अनुष्ठान ही कर सकता है। गंगा-माहात्म्य के श्लोक तो और भी विचित्र तथा मूर्खतापूर्ण हैं।

‘गंगा गंगेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि।

मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति।।’^१

स्वामी दयानन्द ने ऐसे श्लोकों को ‘पोपपुराण’ का कहा है। वस्तुतः ये और ऐसे अन्य श्लोक ब्रह्म पुराण और पद्म पुराण में उपलब्ध होते हैं। न तो गंगा के नाम स्मरण से ही और न हरि, राम, कृष्ण आदि के नामोच्चारण से पापों का क्षय होता है। कर्मफल का सिद्धान्त अटल है। “अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्” ऐसी स्थिति में तीर्थस्नान, नामस्मरण तथा अन्य पौराणिक विधि-विधानों के इस मिथ्या माहात्म्य को छोड़कर सत्कर्मों का आचरण ही मनुष्य के लिए कर्त्तव्य है। मिथ्या तीर्थों का खण्डन करने के पश्चात् सत्यार्थप्रकाश में तीर्थ का वास्तविक अभिप्राय भी स्पष्ट किया है। शास्त्रों का पठन-पाठन, विद्वानों की संगति, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, सत्यभाषण आदि सदाचार का धारण ही तीर्थ-सेवन है। अष्टाध्यायी में तीर्थ विषयक निम्न सूत्र है, ‘समानतीर्थेवासी।’^२ यजुर्वेद में ‘नमस्तीर्थ्याय च’^३ इस उक्ति के द्वारा वेदादि शास्त्रविद् विद्वानों और ऋषियों का सान्निध्य प्राप्त करना ही तीर्थवास कहा गया है। आचार्य और गुरु ही तीर्थपद वाच्य हैं। उनके निकट रहकर एक साथ शास्त्राध्ययन में रत रहने वाले सहपाठी भी ‘सतीर्थ्य’ कहलाते हैं।

भगवन्नाम स्मरण के वास्तविक स्वरूप को लेखक पूर्व भी स्पष्ट कर चुका था। यहाँ तीर्थ विवेचन के प्रसंग में इस विषय को पुनः उठाया गया है। यजुर्वेद में “न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः”^४ परमात्मा को महान् और बृहत् यश वाला कहा गया है। यथार्थ नामस्मरण यही है कि परमेश्वर के नामों का अर्थ जान कर उसके गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म, स्वभाव बनाना।

गुरु माहात्म्य— पौराणिक मान्यता के अनुसार गुरु का दर्जा तो ईश्वर से भी बढ़ कर है। ‘गुरु माहात्म्य’ जैसे ग्रन्थ उस समय में कल्पित किये गए जब लोगों के विचार, चिन्तन तथा स्वतंत्र बुद्धि द्वारा कर्त्तव्य-निर्धारण पर रोक लगा दी गई थी। विशेषतः धर्म और अध्यात्म का मार्ग दिखाने में तो गुरु को ही एकमात्र श्रेय दिया जाता

१. ब्रह्म पुराण १७५। ८२।

पद्म पुराण उत्तरकाण्ड २३। २

२. अष्टाध्यायी ४। ४। १०७

३. यजुर्वेद १६। ४२

४. यजुर्वेद ३२। ३।

था। गुरु की महत्ता और अद्वितीय शक्ति का परिचायक निम्न श्लोक सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत किया गया है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।

गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ।।^१

अज्ञान रूपी तिमिर से जिनके नेत्र अन्धता को प्राप्त हो गये हैं उन्हें ज्ञानरूपी अंजन की शलाका के द्वारा पुनः उन्मीलित कर देने वाले गुरुओं के महत्व का निरूपण करते हुए मध्यकालीन पुराणग्रन्थों तथा अन्य साम्प्रदायिक साहित्य में जो अतिशयोक्तियाँ की गई हैं,^२ उनमें औचित्य की मात्रा नितान्त स्वल्प ही है। कबीर, दादू, नानक तथा अन्य निर्गुणों सन्तों ने भी गुरु-माहात्म्य का डटकर प्रतिपादन किया। इसमें उनकी मनोवैज्ञानिक स्थिति ही काम कर रही थी। ब्राह्मणेतर हीन कुलों में जन्म लेने के कारण जब शास्त्रज्ञ विद्वानों और पण्डित वर्ग ने इन सन्तों का सम्मान नहीं किया तो शास्त्र और विद्वद्बर्ग के प्रति उनकी सहज विरक्ति हो गई। अब वे आध्यात्मिक साधना के पथ पर निरपेक्ष भाव से आगे बढ़ने वाले गुरुओं के प्रति अधिक श्रद्धाभाव प्रदर्शित करने लगे। कबीर ने तो यहाँ तक कहा—

गुरु गोविन्द दोनूँ खड़े काके लागूँ पाय ।

बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय ।।

कालान्तर में सच्चे और गुणज्ञ गुरुओं के सथान पर अशिक्षित, मूढ़ तथा पोंगापन्थी का भी उसी प्रकार सत्कार और सम्मान किया जाने लगा मानो वे अपने शिष्य जनों के सच्चे पथप्रदर्शक और हितैषी हों। गुरुओं के सभी प्रकार के अवगुणों और दुर्गुणों की उपेक्षा करने का पाठ पढ़ाया जाने लगा तथा उनकी सेवा और अंध उपासना को ही शिष्य के लिए एकमात्र कर्त्तव्य ठहराया गया। स्वामी दयानन्द अपने व्यापक भ्रमण-काल में ऐसे नामधारी गुरुओं और उनके मूढ़बुद्धि शिष्यों के बारे में पर्याप्त जानकारी बटोर चुके थे। तभी तो उन्होंने इन तथाकथित गुरुओं के सम्बन्ध में प्रचलित जन-साधारण की इन अन्ध धारणाओं को अपने ग्रन्थ में निम्न प्रकार उद्धृत किया—“गुरु लोभी हो तो वामन के समान, क्रोधी हो तो नरसिंह के समान, मोही हो तो राम के समान और कामी हो तो कृष्ण के समान जानना ।” वल्लभाचार्य प्रवर्तित वैष्णव सम्प्रदाय में तो गुरु-माहात्म्य

१. गुरुगीता-गुरुमाहात्म्य ५८ वां श्लोक

२. अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया ।

चक्षुर्भूलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

शिष्टाचार और औचित्य की सीमा का अतिक्रमण ही कर चुका था, जहाँ 'तन-मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण' करने का मन्त्र सम्प्रदाय में दीक्षित होने वाले प्रत्येक व्यक्ति को पढ़ाया जाता था। उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपनी सम्पत्ति और धन तो गुरुचरणों में अर्पित करे ही, अपने स्त्री, पुत्र आदि को भी गुरु-सेवा के लिए स्थूल रूप में प्रस्तुत कर दे।^१ गुरुपूजा का यह घृणित और कुत्सित रूप किस प्रकार व्यभिचार और दुराचार को प्रश्रय देता था, यह स्वामी जी भली-भाँति जानते थे। अपने बम्बई-प्रवास-काल में गोकुलिया गोसाइयों के गुरुओं (जो महाराज कहलाते थे) के इन काले कारनामों को स्वामी जी ने निकटता से देखा था। अतः गुरुओं के झूठे माहात्म्य का खण्डन कर उन्होंने लोभी, कामी, क्रोधी और व्यसनी गुरुओं को गड़रियों की संज्ञा प्रदान की। जिस प्रकार गड़रिये भेड़-बकरियों को पालकर उनके दूध आदि से अपना व्यवसाय चलाते हैं, उसी प्रकार ये स्वार्थी गुरु भी शिष्यों का धन हरण कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। ऐसे गुरुओं के लिये निम्न उक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है—

गुरु लोभी चेला लालची दोनों खेलें दाव ।

भवसागर में डूबते, बैठ पत्थर की नाव ।।

तीर्थ समीक्षा विषयक साहित्य

१. पौराणिक तीर्थ मीमांसा— जे.पी. चौधरी

२. अयोध्या माहात्म्य— केदारनाथ आर्य

□

१. 'तस्मादादौ सोपभोगात् पूर्वमेव सर्ववस्तु पदेन भार्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्तव्यम् । विवाहनन्तरं सोपभोगे सर्व कार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्तत्कार्योपभोगि वस्तु समर्पणं कार्यं समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्तव्यानीत्यर्थः ।''

—ब्रह्म सम्बन्ध (गोकुलनाथकृत टीका) ।

११ अष्टादश पुराण समीक्षा

मध्यकालीन हिन्दू धर्म में मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थ, व्रत, मृतक-श्राद्ध आदि जितनी विकृतियों का प्रवेश हुआ, उनके लिये पुराण ग्रन्थों को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। 'पुराण' शब्द अत्यन्त प्राचीन है। प्रारम्भ में उनका प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों के उन भागों के लिये होता था जो सृष्टिरचना, प्राचीन राजवंशों के विवरण आदि प्रस्तुत करते हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने मन्तव्यों का प्रकाशन करते समय 'पुराण' की परिभाषा इस प्रकार दी है— " जो ब्रह्मादि के बनाये ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं, उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूँ, अन्य भागवतादि को नहीं ।" सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में 'पुराणेतिहास' वाङ्मय के सम्बन्ध में अपने मत को स्पष्ट करते हुए स्वामी जी ने निम्न सूत्र उद्धृत किया है—

“ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीरिति ।”^१

पुनः इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा— “जो ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मण लिख आये हैं, उन्हीं के इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी पाँच नाम हैं। श्रीमद्भागवतादि का नाम पुराण नहीं है ।”

ऐसी बात नहीं कि स्वामी दयानन्द का पुराणों के विषय में यह मत सर्वथा निराला और अप्रचलित ही रहा। अन्य विद्वानों ने भी उनके एतद्विषयक विचार को स्वीकार किया है। स्वामी जी के ही समकालीन बंगाली साहित्यकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने कृष्णचरित्र लिखते समय महाभारत और पुराणों की व्यापक छानबीन की थी। उन्होंने पुराणों के सम्बन्ध में जो मत व्यक्त किया वह स्वामी दयानन्द की विचारधारा से पूर्ण साम्य रखता है। बंकिम ने लिखा— “पुराण का अर्थ पहले पुरातन था। पीछे पुरातन घटनाओं का वर्णन हुआ। सदा ही पुरातन घटनायें थीं, इसलिये सदा ही पुराण थे वेदों में भी पुराण हैं। शतपथ ब्राह्मण में, गोपथ ब्राह्मण में, आश्वलायन सूत्र में अथर्वसंहिता में, बृहदारण्यक में, छान्दोग्योपनिषद् में, महाभारत में, रामायण में, मानवधर्मशास्त्र में जहाँ देखो वहाँ पुराणों के होने की बात पाई जाती है। किन्तु इन सब ग्रन्थों में से किसी में भी आजकल के पुराणों के नाम नहीं हैं।

१. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश— २३ वां मन्तव्य।

२. तैत्तिरीय आरण्यक २। ९।

३. श्रीकृष्णचरित्र पृ. ८८।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन वैदिक साहित्य में 'पुराण' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में होता था। कालान्तर में जब महाभारतकाल के पश्चात् आर्य धर्म की सर्वतोमुखी अवनति आरम्भ हुई तो विष्णु, शिव, सूर्य, गणपति, शक्ति आदि देवताओं की पूजा के प्रचलन के साथ-साथ इन देवताओं के सम्बन्ध में नाना कथा-कहानियों, उपाख्यानों और प्रवादों का प्रचार हुआ। यह सारे विषय जिन ग्रन्थों में लिखे गये उन्हें 'पुराण' की संज्ञा प्रदान की गई और यह मान्यता प्रचलित हुई कि अठारह पुराणों के रचयिता कृष्णद्वैपायन व्यास हैं। प्राचीन 'पुराणेतिहास विद्या' के तत्त्व को विस्मृत कर इन सम्प्रदायपोषक ग्रन्थों का ही पुराणों के नाम पर प्रचलन हुआ। महाभारतकार ने जिस आशय से यह कहा था कि 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्' इतिहास और पुराण की सहायता से वेदार्थ का उपबृंहण और विश्लेषण करना चाहिए उसे भी संकीर्ण अर्थ में समझा गया और यह माना जाने लगा कि प्रचलित पुराणों से ही वेदार्थ समझने में सहायता मिल सकती है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अश्वमेध-समाप्ति पर 'पुराण पाठ' का भी विधान पाया जाता है,^१ परन्तु यह समझना भूल होगी कि महाभारत से भी पूर्वकाल में लिखे गये शतपथ तथा श्रौत और गृह्यादि सूत्रों में उन पुराणों को पढ़ने के लिये कहा गया है जो गुप्त युग तथा उससे भी परवर्ती समय में लिखे गये हैं। अतः पुराणों के सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं की असत्यता का उद्घाटन करते हुए स्वामी जी ने निम्न बातों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है—

(१) अठारह पुराणों का रचयिता व्यास जी को मानना नितान्त अनुचित है। जिस महर्षि व्यास ने शारीरक सूत्रों की रचना कर वेदान्त दर्शन को व्यवस्थित तत्त्वचिंतन का रूप प्रदान किया, उसकी लेखनी से पुराणों की असत्य गाथायें भी निकली हों, यह मानना तर्कपूर्ण नहीं है। प्रचलित अठारह पुराण अपनी पारस्परिक असंगतियों वदतोव्याघातपूर्ण कथनों, संकीर्ण साम्प्रदायिक मान्यताओं तथा मताग्रही लोगों के विद्वेषपूर्ण उद्गारों के कारण आग्रह और पक्षपातशून्य धर्म-जिज्ञासुओं के लिये किंचित् भी महत्त्व नहीं रखते। ये युक्ति, तर्क, विज्ञान और बुद्धि के विरुद्ध नाना असम्भव गाथाओं का एक ऐसा संकुल जाल है जिसमें से निकलना असम्भव हो जाता है। वेदों में धर्म, दर्शन, और अध्यात्म का जो निर्मल, सहज और प्रोज्ज्वल रूप अभिव्यक्त हुआ, उसकी तुलना में पुराणों की मान्यताएँ तथा उनमें विवेचित धर्म और नीति का स्वरूप अत्यन्त संकीर्ण, छिछला और अनुदार दीख पड़ता है। अतः शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदायों के पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से लिख गये इन आपाततः विरोधी ग्रन्थों को एक लेखक की रचना कैसे माना जा सकता है?

१. दशमे दिवसे यज्ञान्ते पुराणविद्या वेदः इत्यस्य श्रवणं यजमानः कुर्यात्।

सर्ग, (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित वर्णन को पुराणों का लक्षण कहा गया है^१ अर्थात् पुराणों में सृष्टि रचना, प्रलय, प्राचीन राजवंश, वैवस्वत आदि मनवन्तरो का विवरण तथा सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्राचीन राजवंशों के विस्तृत चरित्रों का उल्लेख पाया जाता है। यदि वर्तमान पुराणों को इस कसौटी पर कस कर देखा जाय तो वे खरे नहीं उतरते। यों इन ग्रन्थों में भी प्रसंगोपात्त सृष्टि, प्रलय आदि के वर्णन मिलते हैं परन्तु उनमें न तो कोई व्यवस्थिति है और न अन्विति। पुराणों पर आज व्यापक शोध और अनुसंधान हो रहा है। इससे जहाँ पुराणों के रचनाकाल, रचयिता, तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों आदि के आकलन का एक व्यवस्थित प्रयास आरम्भ हुआ है वहाँ यह भी खतरा सामने आया है कि कहीं पुराणवर्णित असम्भव, असत्य तथा विज्ञान एवं बुद्धि-विरुद्ध गाथाओं की आपातरमणीय व्याख्यायें न होने लगें। कुछ लोगों ने ऐसे प्रयास किये भी हैं। उन्होंने अपनी कल्पनाप्रवणता और ऊहा को खुला छोड़कर पुराणों की असंगत, कुत्सित तथा मिथ्या गाथाओं की जो विचित्र व्याख्यायें की हैं तथा संगतियाँ लगाई हैं, उन्हें देखकर यही कहना पड़ता है कि चिन्तनशील मानव अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करने लगे तो उसकी भी कोई सीमा या इयत्ता नहीं है।

स्वामी दयानन्द ने तो सृष्टि, प्रलय, राजाओं के वंश-वर्णन आदि का प्रासंगिक उल्लेख करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों को ही 'पुराण' संज्ञा प्रदान की थी। उनके अनुसार ब्राह्मणों में ही पुराणों के उपर्युक्त लक्षण व्यवस्थित रूप से पाये जाते हैं क्योंकि उनमें सृष्टि और प्रलय के वर्णन तो हैं ही, साथ ही जनकादि ब्रह्मवित्-राजर्षियों के उपाख्यान तथा ऋषियों की वंश परम्परा का भी इतिहाससम्मत वर्णन मिलता है। प्रसंगान्तर से स्वामी दयानन्द ने व्यास के सम्बन्ध में प्रचलित इस धारणा का भी खण्डन किया कि प्रारम्भ में वेद एक ही था और व्यास ने उसे चतुर्धा विभक्त किया। वस्तुतः व्यास से पूर्वकाल के ऋषियों ने भी ऋग्, यजु, साम और अथर्व संज्ञात्मक चारों वेदों को पृथक्शः जाना और पढ़ा था अतः यह कथन नितान्त अज्ञान का सूचक है कि वेद का पृथक् विभाजन व्यास ने किया। जब व्यास के पिता, पितामह, प्रपितामह-पराशर, शक्ति और वसिष्ठ ने ही वेदों का अध्ययन ऋग्, यजु, साम और अथर्व के क्रम से किया, तब व्यास को इस नामकरण के लिए किस प्रकार उत्तरदायी ठहराया जा सकता है?

तब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या पुराणों में आद्योपान्त कुछ भी सत्य नहीं है? सत्य के प्रबल समर्थक स्वामी दयानन्द ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि घुणाक्षर न्याय से पुराणों में भी अनेक सत्य बातें वर्णित हुई हैं किन्तु वे अपने मूल रूप में वेदादि

१. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।

वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।।

शास्त्रों में पहले से ही विद्यमान हैं। हाँ, जो उनमें मिथ्या और असम्भव कथायें हैं वे पुराणकारों की मनःकल्पित ही हैं। तथ्य यह है कि पुराणों की रचना साम्प्रदायिक दृष्टि से हुई है। पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों और उनमें मान्य एवं पूज्य देवताओं की सर्वोपरि सत्ता सिद्ध करने के लिये ही पुराण बनाये गए। भागवत, विष्णु और ब्रह्मवैवर्त आदि वैष्णव पुराणों में विष्णु तथा उनके राम, कृष्ण आदि अवतारों को सृष्टि का रचयिता, पालक और संहारक माना है तथा शिव, ब्रह्मा आदि अन्य देवताओं को विष्णु के अधीन तथा उनका दास बताया गया है। इसी प्रकार शिव, लिंग आदि शैव पुराणों में शंकर को ही सृष्टि का बीज तथा उसकी उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार का मूल हेतु स्वीकार किया गया। विष्णु की ही भाँति शिव के भी विभिन्न अवतार कल्पित किये गए। देवी भागवत शाक्त पुराण है। इसमें तो शक्ति या देवी के तत्त्व को ही ब्रह्म की चित् शक्ति का प्रतीक माना गया है। यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव की स्थिति देवी के अनुचर या भृत्य से अधिक उच्चतर नहीं है।^१ इस पुराण को पढ़कर ऐसा आभास होता है कि किसी शाक्त ने शैवों और वैष्णवों की व्यापक प्रभुता, महत्ता और लोकप्रियता का अवमूल्यन करने के लिये ही इस पुराण की रचना की है। भविष्य पुराण में सूर्य को सर्वोपरि उपास्य माना गया। गणेश पुराण, कालिका पुराण आदि उप पुराण हैं। वायु, मत्स्य, वराह आदि पुराणों में क्रमशः वायु तथा विष्णु के अवतार मत्स्य तथा वराह के माहात्म्य का विवेचन हुआ है। मार्कण्डेय पुराण में भी दुर्गासप्तशती के प्रकरण का समावेश कर पुराणकार ने शक्ति तत्त्व का निरूपण किया। ब्रह्मवैवर्त कृष्ण और राधा के श्रृंगारपूर्ण वर्णनों से परिपूर्ण है। इस में राधा कृष्ण का घोर श्रृंगारी एवं वासना कलुषित अश्लील वर्णन कर उसे आध्यात्मिक रहस्य का बाना पहनाने की चेष्टा की गई है। इसका रचनाकाल पर्याप्त अर्वाचीन है।^२

१. देवी भागवत में विष्णु कहते हैं—

न कस्यापि प्रियो लोके तिर्यग्योनिषु सम्भवः ।

नाभवं स्वेच्छया वामनवराहादिषु योनिषु ।।

विहाय लक्ष्म्या सह संविहारं को याति मत्स्यादिषु हीनयोनिषु ।

शय्यां च मुक्त्वा गरुडासनस्य करोमि युद्धं विपुलं स्वतंत्रः ।।

तिर्यग् योनि में स्वेच्छा से कौन उत्पन्न होना चाहेगा। वामन, वराह में स्वेच्छा से नहीं बनता, वह शक्ति (देवी) ही मुझ से अवतार धारण कराती है। स्वेच्छापूर्वक लक्ष्मी के संग सुख को छोड़कर मत्स्यादि नीच योनियों में जन्म लेना कौन चाहेगा? यदि मैं स्वतंत्र होता तो कोमल शैया छोड़कर गरुड़ पर बैठ युद्ध हेतु न दौड़ता। इन श्लोकों से विष्णु की पराधीनता स्पष्ट विदित होती है। आगे चल कर वे स्पष्ट कह देते हैं—

तस्मान्नाहं स्वतन्त्रोऽस्मि शक्त्यधीनोऽस्मि सर्वथा ।

तामेव शक्तिं सततं ध्यायामि च निरन्तरम् ।।

इस प्रकार मैं स्वतंत्र नहीं हूँ। मैं तो सर्वथा देवी (शक्ति) के अधीन हूँ। उसी शक्ति का मैं ध्यान करता हूँ।

२. विस्तार के लिये द्रष्टव्य— ब्रह्मवैवर्त पुराण की आलोचना: ले. डा. भवानीलाल भारतीय, सत्य प्रकाशन, मयुरा से प्रकाशित।

भविष्य पुराण की स्थिति तो और भी विचित्र तथा हास्यास्पद है। इसमें भविष्य कथन के व्याज से जैन, बौद्ध तथा अवान्तर कालीन ऐतिहासिक घटनायें तो वर्णित हुई ही हैं, इस्लाम और उसके प्रवर्तक, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि मध्यकालीन दार्शनिक, कबीर, नानक, दादू, तुलसी, सूर आदि सन्त और कवि, अकबर तथा अन्य मुगल सम्राट्, १८५७ के विद्रोह, अंग्रेजी शासन तथा विक्टोरिया तक के वर्णनों ने इसे एक विकसनशील ग्रन्थ का रूप दे दिया है। ऐसा लगता है कि भविष्य वर्णन के नाम पर प्रत्येक युग की उल्लेखनीय घटनायें इस पुराण में भविष्यकालीन क्रिया में वर्णित कर दी गई। समय-समय पर इस ग्रन्थ में प्रक्षेप करने वालों ने यह मान लिया कि सम्भवतः पुराण पाठक इतने भोले हैं कि वे इस पुराण की प्रत्येक उक्ति को महाभारत कालीन व्यास-लिखित भविष्य दर्शन मानकर स्वीकार कर लेंगे।

अष्टादश पुराण एक ही लेखक की कलम से प्रसूत नहीं हैं। इस कथन की सत्यता का सर्वोपरि प्रमाण तो यह है कि भिन्न-भिन्न पुराणों में एक ही विषय या घटना को विभिन्न प्रकार से वर्णित किया गया है। पुराणों के श्रद्धालु विद्वान् इन्हें कल्पभेद के अनुसार भिन्न-भिन्न मानकर सभी को सत्य मानने का दावा करते हैं परन्तु ऐसा करने में उनका पूर्वाग्रही दृष्टिकोण ही उजागर होता है। उदाहरणार्थ, यदि सभी पुराण एक लेखनी से प्रसूत होते तो सृष्टि-उत्पत्ति के जो विभिन्न वर्णन इन पुराणों में दिखाई पड़ते हैं उनमें विषमता नहीं होती। आश्चर्य तो यह है कि भिन्न-भिन्न पुराणों में ही नहीं अपितु एक ही पुराण में सृष्टि उत्पत्ति की परस्पर-विरुद्ध प्रक्रियायें वर्णित हुई हैं। इन्हें पढ़कर यही अनुमान होता है कि या तो लेखक को इस बात का भी ज्ञान नहीं था कि वह पूर्वापर विरुद्ध लिख रहा है अथवा वह इतना मूर्ख और प्रमादी है कि परस्पर विरुद्ध कथन में उसे कोई संकोच नहीं होता। दोनों ही स्थितियों में पुराण का लेखन विभिन्न व्यक्तियों द्वारा हुआ है, यही सिद्ध होता है। शिव पुराण में शिव को सृष्टि-उत्पत्ति का आदि कारण माना है। ब्रह्मा, विष्णु आदि उसी से उत्पन्न कहे गये हैं। भागवत में विष्णु के नाभि कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति तथा ब्रह्मा से अन्य प्रजापतियों का जन्म वर्णित है। दक्षादि प्रजापतियों ने ही विभिन्न जीव-जन्तुओं तथा लता-वनस्पतियों से युक्त विविध रूप सृष्टि को उत्पन्न किया। वस्तुतः सृष्टि-उत्पत्ति की ये सभी पौराणिक कथायें नितान्त ऊल-जलूल, अस्त व्यस्त, विज्ञान एवं बुद्धिविरुद्ध हैं। भागवतादि पुराण बनाने वाले स्वार्थान्ध साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के लोगों की बुद्धि पर खेद प्रकट करते हुए स्वामी जी

१. क्वचित्क्वचित्पुराणेषु विरोधो यदि लभ्यते।

कल्पभेदादिभिस्तत्र व्यवस्था सद्विभक्तिरिति।।

अर्थात् कहीं-कहीं पुराणों में यदि विरोधी बातें दिखाई दें तो उन्हें कल्पभेद की पृथक्-पृथक् घटनाएँ मानकर व्यवस्था कर लेनी चाहिए।

लिखते हैं— “वाह रे वाह ! भागवत के बनाने वाले लाल भुजक्कड़ ! क्या कहना, तुझको ऐसी मिथ्या बात लिखने में तनिक भी लज्जा और शरम नहीं आई, निपट अंधा ही बन गया । भला स्त्री-पुरुष के रजवीर्य के संयोग से मनुष्य तो बनते ही हैं परन्तु परमेश्वर के सृष्टिक्रम के विरुद्ध पशु, पक्षी, सर्प आदि कभी उत्पन्न नहीं हो सकते ।..... इन भागवतादि पुराणों के बनाने वाले क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये ? व जन्मते समय मर क्यों न गये ? क्योंकि इन पापों से बचते तो आर्यावर्त देश दुःखों से बच जाता ।”

पुराणों और पुराण लेखकों के प्रति लेखक का जो तीव्र आवेश उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्त हुआ है उसे कई लोगों ने स्वामी दयानन्द की असहिष्णुता तथा कठोर भाषा के प्रयोग का उदाहरण कहा है । परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है । स्वामी दयानन्द ने पुराण-प्रतिपादित शिक्षाओं के देशवासियों पर पड़े दूषित प्रभाव को भली भाँति समझा और अनुभव किया था; वे जानते थे कि यदि पौराणिक शिक्षाओं का देश में प्रचार नहीं हुआ होता तो स्वदेशवासी नाना पाखण्डों, कदाचारों और रूढ़िगत अंधविश्वासों से बच सकते थे । इसी प्रकार समाज में सर्वत्र अविद्या-अज्ञान तथा मूढ़ विश्वासों का जो प्रसार देखा जाता है, उसका कारण भी भागवतादि पुराणों की दूषित शिक्षा ही है । फलतः एक देशभक्त, राष्ट्र एवं समाज के उन्नायक महापुरुष का इन ग्रन्थों और उनके रचयिताओं के प्रति ऐसे आक्रोशपूर्ण उद्गार प्रकट करना स्वाभाविक ही था ।

पुराणों का समर्थन करने वालों के पास जब कोई तर्क अवशिष्ट नहीं रहता तो वे यही कह बैठते हैं कि पृथक्-पृथक् पुराणों में विभिन्न देवताओं को सर्वोच्च बताने को अनुचित क्यों माना जाए ? जिसका विवाह उसी का गीत' वाली लोकोक्ति इन साम्प्रदायिक ग्रन्थों पर पूर्णतया घटित होती है । अतः यदि वैष्णव पुराणों में विष्णु, शैव पुराणों में शिव तथा शाक्त पुराणों में देवी को ही सर्वोपरि माना गया तथा अन्य देवताओं को उनका भृत्य अथवा किंकर बताया तो इसमें अनुचित क्या है ? स्वामी जी का उत्तर स्पष्ट है— विवाह में जिसके गीत गाते हैं उसको सबसे बड़ा और दूसरों को छोटा तो नहीं बनाते । पुनः पुराणों में ही इस प्रणाली को क्यों अपनाया गया ? क्या वह सत्य का अपलाप नहीं है ? भागवत तथा अन्य पुराणों में जो प्रजापति कश्यप तथा उनकी पत्नियों से विभिन्न पशु, पक्षी एवं अन्य प्राणी रूपी प्रजा के उत्पन्न होने की बात कही गई उसमें भी पुराण-लेखकों को भ्रान्ति हुई है । शतपथ ब्राह्मण में सारी प्रजा (सृष्टि) को कश्यप द्वारा बनाई गई कहा गया है—

तस्मात् काश्यप्य इमाः प्रजाः । ७ । ५ । १ । १५

आगे स्वामी जी निरुक्त ग्रन्थ के आधार पर 'कश्यप' शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ करते हुए लिखते हैं— कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति । सृष्टिकर्ता परमेश्वर का ही

नाम कश्यप है क्योंकि वह पश्यक है। पश्यक का अर्थ है— 'पश्यतीति पश्यः पश्य एव पश्यकः।' जो चराचर जगत् को यथावत् देखता है वही पश्यक—कश्यप है। पुराणकारों ने ईश्वरवाची 'कश्यप' के रहस्य को न जानकर उसे मानवदेहधारी प्रजापति कल्पित किया। मार्कण्डेय पुराण में भी दुर्गादेवी के द्वारा महिषासुर, रक्त बीज आदि असुरों के मारने की जो घटनायें वर्णित हैं वे नितान्त असम्भव, सृष्टिक्रम विरुद्ध तथा युक्ति-तर्क से विपरीत हैं।

अठारह पुराण विषयक समीक्षात्मक साहित्य

१. अष्टादश पुराण परिशीलन— शिवपूजनसिंह कुशवाहा
२. पुराण किसने बनाये— पं. लेखराम
३. नारद पुराण का आलोचनात्मक अध्ययन— शिवपूजनसिंह कुशवाहा
४. ब्रह्मवैवर्त पुराण की समीक्षा— भवानीलाल भारतीय
५. गरुड़ पुराण की आलोचना— गंगाप्रसाद
६. लिंग पुराण की आलोचना— भीमसेन विद्यालंकार
७. पद्मपुराण की आलोचना— शिवपूजनसिंह कुशवाहा



१२ श्रीमद्भागवतालोचन

वैष्णव सम्प्रदाय में भागवत पुराण को सर्वोपरि मान्यता प्राप्त है। भागवत भाषा, शैली और काव्य तत्त्वों की दृष्टि से विद्वानों में मान्यता प्राप्त पुराण है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' की उक्ति प्रसिद्ध है। अर्थात् विद्वानों की परीक्षा उनके भागवत-ज्ञान के द्वारा ही होती है। स्वयं भागवतकार ने ही अपने इस ग्रन्थ को वेदरूपी कल्पतरु का वह सुपक्व फल माना है जो महामुनि शुकदेव के मुख का स्पर्श पाकर अमृत रस से युक्त हो गया है। इस रस के भण्डार भागवत का आस्वादन वे ही लोग करते हैं जो भगवद्भक्त भावुक हैं।^१ श्रीमद्भागवत पौराणिकों में विवाद का विषय रहा है। स्वामी दयानन्द ने अपने उपदेश काल के प्रारम्भ में 'भागवतखण्डन' नामक एक पुस्तक लिखी थी। इसमें उन्होंने वैष्णव-भागवत का खण्डन किया। देवी भागवत नामक एक अन्य पुराण भी महापुराण कहलाने का दावा करता है, जबकि वैष्णवों के मतानुसार श्रीमद्भागवत ही महापुराण संज्ञा का अधिकारी है। बंकिमचन्द्र ने इस सम्बन्ध में लिखा— 'भागवत के पुराण होने के बारे में बड़े झगड़े हुए हैं। शाक्त कहते हैं यह पुराण ही नहीं है, देवी भागवत ही भागवत पुराण है। वह लोग 'भगवत इदं भागवतम्' न कह कर 'भगवत्या इदं भागवतम्, यह अर्थ करते हैं।'^२

जहां तक भागवत के रचना-काल का प्रश्न है, सभी विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि भागवत पर्याप्त अर्वाचीन काल की कृति है। अन्य पुराणों की भाँति इसमें भी समय-समय पर बहुत कुछ जोड़ा और घटाया गया है। बंकिमचन्द्र ने श्रीमद्भागवत की नवीनता पर प्रकाश डालते हुए लिखा— 'भागवत में भी बहुत सी पुरानी बातें हैं पर उसमें नई भी बहुत सी मिलाई गई हैं। जो पुरानी हैं वे भी नोन-मिर्च लगाकर चरपरी कर दी गई हैं। भागवत और पुराणों से नया मालूम होता है, अगर ऐसा न होता तो इसके पुराण होने के बारे में इतना झगड़ा क्यों उठता।'^३

-
१. निगम कल्पतरोगीतितं फलम् ।
 शुकमुखादमृतरज्ज्व संयुतम् ।
 पिबत भागवतं रसमालयम् ।
 मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥ १ । १ । १३

२. श्रीकृष्णचरित्र पृ० ९९ ।

३. श्रीकृष्णचरित्र पृ० १०० ।

सत्यार्थप्रकाश में भागवत की समीक्षा अत्यन्त विस्तारपूर्वक की गई है। भागवतवर्णित कथायें किस प्रकार वदतोव्याघातपूर्ण हैं, यह बताने के लिये स्वामी जी ने निम्न उदाहरण दिया— विष्णु ने ब्रह्मा को वर देते हुए कहा—

‘भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ।’

आप कल्प-कल्पान्तरों में भी मोहित न होंगे। परन्तु इसके तुरन्त बाद ही दशम स्कन्ध में कृष्ण लीला वर्णन प्रसंग में ब्रह्मा द्वारा मोहित होकर वत्सहरण की कथा लिखी गई है।^१ क्या भागवतकार इतना मूर्ख था कि उसे इस बात का ध्यान नहीं रहा कि इससे पूर्व ही द्वितीय सर्ग में ब्रह्मा को विष्णु का वरदान प्राप्त हो चुका है जिससे वे कभी भी मुग्ध भाव को प्राप्त नहीं होंगे। इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध कथन वाले ग्रन्थ मूढ़ प्रज्ञा वाले पुरुष ही लिख सकते हैं।

भागवत वर्णित अन्य कथाओं की समालोचना भी विस्तारपूर्वक ‘सत्यार्थप्रकाश’ में लिखी गई है— विष्णु के जय विजय नामक द्वारपालों को सनकादि द्वारा शाप और तदनुसार विष्णु के अवतारों का हेतु कथन।^२ हिरण्याक्ष द्वारा पृथ्वी को चटाई के समान लपेट कर सो जाने पर स्वामी जी ने मार्मिक टिप्पणी की है— “इन पोपों से कोई पूछे कि पृथ्वी गोल है या चटाई के समान। पौराणिक लोग भूगोल विद्या के शत्रु हैं।” भागवत में असम्भव और असंगत कथाओं की अधिकता है। वायु वेग के समान दौड़ने वाले घोड़ों के रथ में बैठकर अक्रूर का मथुरा से गोकुल तक का स्वल्प मार्ग दिन भर में तय करना, ऐसी मिथ्या कथाओं का उदाहरण^३ है। पूतना के कोसों लम्बे चौड़े शरीर का विस्तार^४ अजामिल का उद्धार^५ आदि कथायें भी इसी कोटि की हैं।

स्वामी दयानन्द के अनुसार भागवत का रचयिता बोपदेव नाम पण्डित था जिसका लिखा हुआ मुग्धबोध व्याकरण प्रसिद्ध है। बोपदेव रचित हिमाद्रि ग्रन्थ से यह संकेत मिलता है कि इसी लेखक ने व्यास के नाम से इस पुराण की रचना की है।^६ चाहे कुछ भी हो, बोपदेव ने श्रीमद्भागवत पर मन्त्री हिमाद्रि के सन्तोष के लिए ‘हिमाद्रि’ नाम से ही एक

१. भागवत स्कन्ध २ अध्याय ९ श्लोक ३६।

२. भागवत स्कन्ध १० अध्याय १३-१४।

३. भागवत स्कन्ध ३ अध्याय १५-१६।

४. भागवत स्कन्ध १० अध्याय ३८।

५. भागवत स्कन्ध १० अध्याय ६।

६. भागवत स्कन्ध ६ अ. १. २९. ३०।

७. तुलनीय “लोग कहते हैं कि भागवत बोपदेव का बनाया है। बोपदेव देवगिरि के राजा हेमाद्रि के सभासद थे। यह तेरहवीं शताब्दी में हुए थे। पर बहुत से हिन्दू भागवत को बोपदेव का बनाया नहीं मानते हैं। वैष्णवों का कहना है कि द्वेषी शाक्तों ने यह बात उड़ाई है।” बंकिमचन्द्र चट्टोपध्याय कृत श्रीकृष्णचरित्र पृ० ७६।

व्याख्या ग्रन्थ लिखा था। मधुसूदन सरस्वती ने इस ग्रन्थ पर हरिलीलामृत नामक एक व्याख्या-ग्रन्थ लिखा है। इससे भी स्वामी जी के कथन की सत्यता और औचित्य सूचित होता है।

‘सत्यार्थप्रकाश’ का भागवतालोचन का प्रकरण स्थाली पुलाक न्याय से ही लिखा गया है। अन्यथा इस महापुराण की विस्तृत आलोचना यदि लेखक लिखने बैठता तो वह बहुत विस्तृत हो जाती। भागवत में श्रीकृष्ण जैसे आदर्श योगिराज के अमल, धवल, निष्कलंक चरित्र पर जो मिथ्या लांछन और चरित्रगत दोष लगाये गये हैं, उन्हें स्वामी दयानन्द कभी क्षमा नहीं कर सके। वे लिखते हैं— ‘देखो श्रीकृष्ण का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्ण जी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा और इस भागवत वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं।’ रासक्रीड़ा आदि का सांकेतिक उल्लेख करने के पश्चात् सत्यार्थप्रकाशकार कहते हैं— ‘जो यह भागवत नहीं होता तो श्रीकृष्ण के सदृश महात्माओं की झूठी निंदा क्यों होती?’ इस कथन से लेखक की पीड़ा का अनुमान हो सकता है। निश्चय ही वह भागवतादि पुराणों की कटु आलोचना करता है, परन्तु इसलिए नहीं कि उसे इन ग्रन्थों के रचयिताओं या मानने वालों के प्रति कोई द्वेष है, अपितु इसलिए कि इन ग्रन्थों ने आर्य जाति के महान् पुरुषों की मर्यादाहानि की है। कृष्ण जैसे भारतीय संस्कृति के ज्योतिष्मान् केन्द्र को ब्रह्मवैवर्त, भागवत आदि पुराणों में परकीया भाव से युक्त राधा और गोपियों के प्रेम का आलम्बन बना कर उसे जिस प्रकार विकृत स्वरूप में प्रस्तुत किया गया है, उसे देखकर स्वामी दयानन्द जैसे आर्य संस्कृति के रक्षक और पोषक महापुरुष का रोषान्वित होना स्वाभाविक ही था।

पुराणकारों तथा उनके द्वारा रचित इन अनार्ष ग्रन्थों के समर्थन में जब कोई दलील अवशिष्ट नहीं रहती तो भोले लोग कह बैठते हैं— अजी साहब, यह तो शास्त्राध्ययन के सामर्थ्य की बात है। आज जब लोगों में वेद, स्मृति, दर्शन आदि उच्च श्रेणी के शास्त्रों के अध्ययन का सामर्थ्य शेष नहीं रहा तो क्या वे पुराणादि सरल ग्रन्थ पढ़कर अपनी धर्मबुद्धि को स्थिर न रखें? यदि पुराण भी उनसे छीन लिये गए तो फिर उनके पास बचेगा ही क्या? महाभारत तथा पुराणों की तो रचना ही स्त्री, शूद्र तथा उन निम्न वर्ग के लोगों के लिए की गई है, जिन्हें वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त नहीं है? अधिकारी भेद से पुराणों की रचना जिस वर्ग के लिये हुई है, उसके लिए उनका अध्ययन और विचार

१.

स्त्री शूद्र द्विजबन्धुनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।

इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतम्।।-भागवत १।४।२५

उचित ही है।

स्वामी दयानन्द इस दलील को स्वीकार नहीं करते। प्रथम तो उन्होंने मनुष्य मात्र के लिये वेद के अध्ययन, मनन और विचार करने के अधिकार का प्रतिपादन वेद से ही किया।^१ इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि गार्गी जैसी ब्रह्मवादिनी नारियों ने याज्ञवल्क्य जैसे ऋषि के समक्ष जो शास्त्र-विचार किया था वह वेद में वर्णित ब्रह्म विद्या विषयक ही था।^२ छान्दोग्योपनिषद् में जानश्रुति नामक शूद्र राजा का रैक्व मुनि के समीप जाकर ब्रह्मविद्या प्राप्त करना वर्णित हुआ है।^३ ऐतरेय ब्राह्मण की तो रचना ही महीदास ऐतरेय नाम एक शूद्र मुनि ने की थी।^४ इन प्रमाणों को ध्यान में रखते हुए यह कथन नितान्त अनर्गल है कि पुराणों की रचना स्त्रियों और शूद्रों के लिए हुई। यदि इस कथन में आंशिक सत्यता भी स्वीकार की जाये तो ब्राह्मणों को तो पुराणों के पठन और अध्ययन से विरत हो जाना चाहिये। परन्तु पुराणों के आधार पर ब्राह्मण ही अपनी जीविका चलाते हैं। आज देश में हजारों भागवतपाठी इन मिथ्या कथाओं और उपाख्यानों को येन केन प्रकारेण अबोध जनता के सामने सुना कर अपना जीवन-यापन करते हैं। दयानन्द के अनुसार तो परमात्मा की कल्याणी वाणी के पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन का अधिकार मनुष्यमात्र को है, जैसा कि उन्होंने यजुर्वेद के 'यथेमां वाचं' मंत्र के आधार पर निरूपित किया है।

श्रीमद्भागवत विषयक समीक्षा साहित्य

१. भागवत तत्त्व मीमांसा— राजबहादुर श्रीवास्तव
२. भगवान् कृष्ण और भागवत— राजबहादुर श्रीवास्तव
३. भागवत विचार— तुलसीराम स्वामी
४. भागवत परीक्षा— तुलसीराम स्वामी
५. भागवत में व्याकरण विषयक अशुद्धियाँ— शिवपूजनसिंह कुशवाहा
६. भागवत समीक्षा— श्रीराम आर्य

□

१. द्रष्टव्य— यजुर्वेद २६। २ के मंत्र का स्वामी दयानन्द कृत अर्थ।

तथा सत्यार्थप्रकाश— तृतीय समुल्लास में उपर्युक्त मंत्र का अर्थ।

२. द्रष्टव्य— शतपथ ब्राह्मण १४। ६। ६ में गार्गी-याज्ञवल्क्य-संवाद।

३. छान्दोग्योपनिषद् ४। १२।

४. तुलनीय "दो-एक जगह शूद्र ऋषि का भी उल्लेख मिलता है। कवष नाम के १० वें मण्डल में एक शूद्र ऋषि हैं।" श्रीकृष्ण चरित्र बंकिमचन्द्र कृत पृ० ५१

१३ फलित ज्योतिष एवं नवग्रह समीक्षा

मध्यकाल में जब विविध देवी-देवताओं की पूजा उपासना प्रचलित हुई तो आकाशान्तर्गत ग्रहों को भी देवता माना जाने लगा। द्युलोकवर्ती ज्योतिष्मान् ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि मानव जाति में सदा से ही आश्चर्य, भय और संभ्रम का भाव पैदा करते रहे हैं परन्तु उन्हें वरदान और अभिशाप प्रदान करने वाला मानकर पूजना नितान्त अंधविश्वास ही है। आकाशीय पिण्डों का अध्ययन खगोल और ज्योतिष के अन्तर्गत आता है। ज्योतिष के प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ हैं जिनमें इस विज्ञान को सुसंगत एवं तर्कपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया गया है। कालान्तर में जब फलित ज्योतिष का चलन हुआ तो ग्रह-नक्षत्रों के मानव-जीवन पर प्रभाव की कल्पना की गई और नाना प्रकार के मुहूर्त, जन्मपत्र तथा शुभाशुभ फलों का विधान किया गया। 'सत्यार्थप्रकाश' ने धर्म के नाम पर प्रचलित इस प्रकार के विभिन्न अंधविश्वासों का खण्डन कर मानव को अधिकाधिक प्रबुद्ध, तर्कप्रवण तथा विचारशील बनाने में सहायता की है।

नवग्रह पूजा पौराणिक कर्मकाण्ड का एक अपरिहार्य अंग बन गया है। विवाहादि गृह्य-कृत्यों तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं के प्रारम्भ में नवग्रह पूजन होता है। विचित्र बात तो यह है कि आकाश में पृथ्वी से करोड़ों-अरबों मील की दूरी पर स्थित ग्रहों का आह्वान, स्थापन, पूजन आदि उसी प्रकार किया जाता है जैसे राम, कृष्ण आदि अन्य तथा कथित अवतारों, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवादि देवों तथा गणपति, सूर्य आदि का षोडशोचार अर्चन होता है। इन पुराणाश्रित पूजा विधानों में कतिपय वेदमंत्रों का भी प्रयोग होता है। यह मान लिया गया है कि अमुक-अमुक वेदमंत्र किसी-न-किसी ग्रह से सम्बन्धित हैं तथा मन्त्रगत भाव तत्-तत् ग्रह की विशेषताओं को ही अभिव्यक्त करता है। उदाहरणार्थ, सूर्य के लिये यजुर्वेद का निम्न मंत्र विनियुक्त किया गया है—

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्मृतं मर्त्यं च ।

हिरण्येन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन् ।। ३३ । ४३

निश्चय ही इस मंत्र में 'सविता' शब्द सूर्य का वाचक है, परन्तु मंत्र का वास्तविक अभिप्राय सूर्य का आह्वान या उसकी पूजा में नहीं है। यहाँ तो सूर्य के द्वारा धरती के आकर्षण का वैज्ञानिक रहस्य प्रकट किया गया है। मंत्र का वास्तविक अर्थ स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'आकर्षणानुकर्षण विषय' के अन्तर्गत किया है। स्वामी जी ने

‘सविता’ का अर्थ केवल सूर्य न कर परमात्मा तथा वायु भी किया है क्योंकि जिस प्रकार सूर्य सौरमण्डल के अन्य ग्रहों को अपनी आकर्षण शक्ति से धारण करता है उसी प्रकार वायु भी पृथ्वीस्थ पदार्थों को स्थिर रहने में सहयोग देता है। परमात्मा तो केवल इस सौरमण्डल का ही नहीं, अपितु समस्त विश्व ब्रह्माण्ड का उत्पादक, पोषक तथा धारक है, अतः उसे ‘सविता’ कहना उचित ही है। परन्तु सूर्य की मूर्ति बनाकर पूजना इस मंत्र का कथमपि अभिप्राय नहीं है।

चन्द्रमा के लिये यजुर्वेद का एक ऐसा मंत्र चुना गया जो स्पष्ट ही राजविद्या का विधायक एवं राजा के गुणों का प्रतिपादक है। “इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममनुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।” आलोच्य मंत्र का विस्तृत अर्थ यजुर्वेद भाष्य में स्वामी दयानन्द ने लिखा है। मंत्र के विषय का संकेत करते हुए वे लिखते हैं— “कस्मै कस्मै प्रयोजनाय कथं भूतो राजा स्वीकार्य इत्याह” अर्थात् किस-किस प्रयोजन के लिये कैसे राजा का स्वीकार करें, इस विषय का उपदेश इस मंत्र में है। पुनः इस मंत्र को चन्द्रपूजा में किस प्रकार विनियुक्त कर लिया गया? बात स्पष्ट है। मंत्र में ‘सोम’ शब्द का प्रयोग हुआ है जो साधारणतया चन्द्रमा का वाचक है। पुराण-मतावलम्बी नवग्रह पूजा विधायकों ने आव देखा न ताव, केवल ‘सोम’ शब्द को ही देख कर उन्होंने राज-विद्या का सुस्पष्ट निरूपण करने वाले इस यजुर्मन्त्र को चन्द्र पूजा में समाविष्ट कर लेने की आतुरता दिखाई। इस तथ्य की ओर उन्होंने किंचित् मात्र भी ध्यान नहीं दिया कि प्रशासक राजा के गुणों का व्याख्यान करने वाले इस श्रेष्ठ मंत्र को बोल कर चन्द्रमा की पूजा करने में क्या औचित्य है?

नवग्रहों में पृथ्वी के निकटस्थ ग्रह मंगल की भी गणना है। पौराणिक पूजापाठ में मंगल के लिये यजुर्वेद के तृतीय अध्याय का १२ वां मंत्र विनियुक्त किया गया जो इस प्रकार है— ‘अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽऽयम्। अपां रेतांसि जिन्वति।’^१ स्वामी दयानन्द के अनुसार इस मंत्र का देवता ‘अग्नि’ है जो ईश्वर तथा भौतिक अग्नि का वाचक है। इस मंत्र में मंगलग्रह का वाचक तो कोई भी शब्द नहीं है।

बुध के लिये स्वीकार किया गया— ‘उदबुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सं सृजेथामयं च। अस्मिन्सधस्ये ऽध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत।’^२ यह मंत्र स्वामी दयानन्द के अनुसार गृहस्थ यजमान के कर्तव्यों का निर्धारण करता है। यजुर्वेदभाष्य

१. यजुर्वेद ९।४०

२. यजुर्वेद १५।१४।

३. यजुर्वेद १५।५४।

में मंत्र का भावार्थ स्पष्ट करते हुए श्री महाराज लिखते हैं— यथाग्नि यजमानौ सुखं पूर्णं सामग्रीं च साधुतः तथा कृतविवाहाः स्त्रीपुरुषा अस्मिन् जगति समाचरन्तु यदा विवाहाय दृढप्रीती स्त्रिपुरुषौ भवेतां तदा विदुष आहूयैतेषां सन्निधौ वेदोक्ताः प्रतिज्ञाः कृत्वा पतिः पत्नी च भवेताम्' अग्निहोत्र प्रकरण में इसी मन्त्र की अग्नि प्रदीप्त करने की क्रिया में विनियुक्त किया गया है ।^१ आश्चर्य तो यह है कि 'उत्' और 'बुध्यस्व' पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ न समझ कर पौराणिकों ने 'बुध्यस्व' को 'बुध' नक्षत्र का वाचक समझ लिया और बुध की पूजा में आलोच्य मंत्र का विनियोग कर दिया ।

'बृहस्पति नक्षत्र के लिये यजुर्वेद के २६ वें अध्याय का तृतीय मंत्र 'बृहस्पते अति यदयो' मंत्र विनियुक्त किया गया । वस्तुतः मंत्र में वाणी के स्वामी बृहस्पति का उल्लेख है न कि किसी सुदूरवर्ती जड़ बृहस्पति नक्षत्र का । इसी प्रकार शुक्र के लिये यजुर्वेद के १९ वें अध्याय का ७५ वां मंत्र निश्चित किया गया । मंत्र का देवता 'प्रजापति' है अतः मंत्र में केवल 'शुक्र' नाम के आ जाने मात्र से ही वह किसी नक्षत्र या ग्रह का वाचक नहीं हो जाता । शनैश्चर के लिए तो 'शन्नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंयोरभिस्र वन्तु नः ।'^२ मंत्र पढ़ा जाता है, परन्तु वेद मंत्रों का गलत विनियोग करने वाले इस बात पर थोड़ा भी विचार नहीं करते कि मंत्र में पढ़ा गया 'शन्नो' शब्द एक पद न होकर शं और नः दो पदों की समष्टि है अतः उसे एक पद मानकर उसका 'शनि' अर्थ करना नितान्त हास्यास्पद है । स्वामी दयानन्द ने पंच महायज्ञों की विधि लिखते समय इस मंत्र का विनियोग आचमन की क्रिया में किया है । वे मंत्रार्थ में लिखते हैं— 'देव्य आपः सर्वप्रकाशकस्सर्वानन्दप्रदस्सर्वव्यापकः ईश्वर (अभिष्टये) इष्टानन्द प्राप्तये (पीतये) पूर्णानन्द भोगेन तृप्तये (नः) अस्मभ्यं (शं) कल्याणं (भवन्तु) अर्थात् भावयतु प्रयच्छतु । ता आपो देव्यः स एवेश्वरः (नः) अस्मभ्यं (शंयोः) शम् अभिस्रवन्तु अर्थात् सुखस्याभितः सर्वतो वृष्टिं करोतु ।'^३ अर्थात् सबका प्रकाशक, सबको आनन्द देने वाला और सर्वव्यापक ईश्वर मनोवांछित आनन्द के लिये और पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये हमको कल्याणकारी हो अर्थात् हमारा कल्याण करे, वही परमेश्वर हम पर सुख की सर्वथा वृष्टि करे ।^४ अतः स्पष्ट है कि विनियोग-कर्त्ताओं ने मंत्रगत भावार्थ को सर्वथा दृष्टि से ओझल कर मनमाने आल्पनिक विनियोग कर लिये हैं ।

"कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा । कया सचिष्ठया वृता ।"^५ इस मंत्र को पुराण मतावलम्बियों ने राहु का मंत्र निर्धारित किया है । पाठक देखेंगे कि मंत्र में राहु

१. संस्कार विधि : गृहस्थ प्रकरणान्तर्गत अग्निहोत्र विधि ।

२. यजुर्वेद ३६ । १२

३. पंचमहायज्ञ विधि में ब्रह्म यज्ञ (संध्या प्रकरण)

४. यजुर्वेद २७ । ३९

का कहीं उल्लेखमात्र भी नहीं है। यही मंत्र सामवेद में भी पढ़ा गया है। स्वामी दयानन्द ने यज्ञ का सामान्य प्रकरण लिखते समय संस्कार की समाप्ति पर महावामदेव्य गान के मंत्रों में उपर्युक्त मन्त्र को रक्खा है।^१ मन्त्र का देवता 'अग्नि' है। स्पष्ट है कि आलोच्य मन्त्र का आकाशवर्ती राहु से कोई सम्बन्ध नहीं। 'सत्यार्थप्रकाश' में मन्त्र का विषय मित्र (सखा) माना गया है। अग्निवाचक परमात्मा ही जीव का वास्तविक सखा है। अन्य वेदमन्त्रों में भी जीवेश्वर-सम्बन्ध की विवेचना के प्रसंग में ईश्वर को सखा ही कहा गया है। नवग्रहों में अन्तिम केतु के लिये यजुर्वेद (अध्याय २९ मन्त्र ३७) का मन्त्र 'केतुं कृष्णन्केतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषदिभरजायथाः' प्रस्तुत किया जाता है। मन्त्र का देवता 'विद्वांसः' है तथा यह ज्ञान ग्रहण का विधायक है। केवल 'केतु' शब्द के मंत्र में आ जाने मात्र से ही वह केतु ग्रह का वाचक नहीं हो जाता। इस विवेचन से स्पष्ट है कि नवग्रहों की पूजा एवं तत् सम्बन्धी मन्त्रों का विनियोग सर्वथा असंगत, कपोलकल्पित तथा स्वेच्छाचारपूर्ण है। पुरातन कर्मकाण्ड-विधायक ग्रन्थों में नवग्रह-पूजा का कहीं भी विधान नहीं है।

फलित ज्योतिष समीक्षा

फलित ज्योतिष एक प्रवंचना पूर्ण छलावा मात्र है जिसकी सहायता से आज भारत में शतशः सहस्रशः ज्योतिषी नाम धारी लोग जीविकोपार्जन में संलग्न हैं। आश्चर्य है कि सुपठित, सुसंस्कृत एवं नवीन भावधारा में दीक्षित लोग भी ज्योतिषियों के जाल से अपने आपको मुक्त नहीं रख सकते। ज्योतिष, राशि फल, भविष्य-कथन और ग्रहों के अच्छे-बुरे फलों के चक्कर में पड़कर भारतवासियों ने अपने साहस, पराक्रम और पुरुषार्थ को तिलाँजलि दे रक्खी है। सहज प्रश्न उत्पन्न होता है कि सूर्यादि ग्रहों का मानव-शरीर एवं जीवन पर कुछ प्रभाव भी पड़ता है या नहीं? इसका उत्तर जानने के लिये हमें खगोल, भूगोल, गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों की सहायता लेनी होगी। स्वामी दयानन्द भी यह स्वीकार करते हैं कि सूर्य की प्रचण्ड तापयुक्त किरणों से हमें ऊष्णता प्राप्त होती है, सुधांशु चन्द्रमा शीतलता की वृष्टि करता है। इसी प्रकार ग्रीष्म, शरद आदि विभिन्न ऋतुओं का क्रम सूर्य और पृथ्वी की पारस्परिक स्थिति पर ही निर्भर है। तदनुकूल ही मनुष्यों और अन्य प्राणियों को सुख-दुःख आदि की प्राप्ति होती है। परन्तु यह मानना कि मनुष्यों के हानि, लाभ, जीवन, मरण, विवाह, अभियोग, परीक्षा में सफलता आदि भी ग्रहों पर निर्भर है, नितान्त असंगत एवं मूर्खतापूर्ण है। इसे पेटार्थी ज्योतिषियों का यजमानों के धन हरण हेतु एक षड्यन्त्र ही मानना चाहिए कि वे पहले तो क्रूर ग्रहों का भय दिखाकर धनी मानी लोगों को आतंकित करते हैं, पुनः जप, दान, पूजा-पाठ और प्रायश्चित्त की विविध विधियाँ सुझा कर उन्हें लूटते हैं। महामति चाणक्य ने ठीक ही कहा है—

१. संस्कार विधि का सामान्य प्रकरण।

नक्षत्रमति पृच्छन्तं बालमर्थो ऽतिवर्तते ।

अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करष्यन्ति तारकाः । ।

—अर्थशास्त्र ९ । १४२ । ४

नक्षत्र पूछने वाला राजा बाल है, वह अभीष्ट प्राप्त नहीं कर सकता । धन और साधन ही नक्षत्र हैं, तारे क्या करेंगे?

वस्तुतः फलित ज्योतिष का सम्पूर्ण आडम्बर उन लोगों के द्वारा खड़ा किया गया है जो जाति और समाज को पुरुषार्थविहीन बनाकर उसे भाग्याश्रित कर देना चाहते हैं । ऐसे लोगों ने जो उक्तियाँ प्रचलित कर रखी हैं उनमें से एक है—

दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः ।

ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदैवतम् । ।

समस्त संसार देवताओं के अधीन है, वे देवता मन्त्रों के अधीन हैं । मन्त्र ब्राह्मणों के अनुवर्ती हैं, अतः वास्तव में देवता ही हैं । ब्राह्मणों ने अपने प्रभुत्व और आधिपत्य के सूचक विविध वाक्य स्मृति-वचनों के रूप में कल्पित किये तथा समग्र आर्य समाज^१ को स्वानुवर्ती तथा स्वाधीन बना लिया । स्वामी दयानन्द तो ब्राह्मणों की महत्ता और प्रभुता उनके गुण-कर्मानुसार सच्चे अर्थों में ब्राह्मण होने पर ही स्वीकार करते हैं । जो दार्शनिक लोग देवताओं को अपने अधीन करने का दावा करते हैं, उनको व्यंग्यपूर्ण शब्दों में सम्बोधित करते हुए स्वामी जी लिखते हैं— “जो तुम्हारे अधीन मन्त्र हैं उनसे तुम चाहो जा करा सकते हो तो उन मन्त्रों से देवताओं को वश कर राजाओं के कोष उठवा कर अपने घर में भरकर बैठ आनन्द क्यों नहीं भोगते? घर-घर में शनैश्चरादि के तैल आदि छायादान लेने को मारे-मारे क्यों फिरते हो?” सत्यार्थप्रकाशकार ने ग्रहों के तथा कथित फल की मीमांसा करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि ये आकाशीय पिण्ड पृथ्वीस्थ सभी प्राणियों पर एक-सा ही प्रभाव डाल सकते हैं । इनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता, संतोष और आक्रोश यदि कुछ हो सकता है तो वह सभी के प्रति एक-सा होगा । उदाहरणार्थ, ज्येष्ठ के महीने में नंगे पांव चलने वाले सभी व्यक्ति सूर्य के प्रचण्ड ताप से पीड़ा प्राप्त करेंगे चाहे ज्योतिषी की गणना के अनुसार उन पर सूर्यदेव रुष्ट हैं या प्रसन्न हैं । इस आलोचना के प्रसंग में सत्यार्थप्रकाशकार की लेखनशैली हास्य-व्यंग्यपूर्ण हो गई है— “क्या तुम्हारे ग्रह सम्बन्धी हैं? और तुम्हारी डाक वा तार उनके पास आता जाता है अथवा तुम उनके वा वे तुम्हारे पास आते-जाते हैं?” पुनः उन्होंने स्पष्ट किया— “सच तो यह है कि सूर्यादि लोक जड़ हैं । वे न किसी को दुःख और न सुख देने की चेष्टा कर सकते हैं, किन्तु जितने तुम ग्रहदानोपजीवी हो वे सब तुम ग्रहों की मूर्तियाँ हो, क्योंकि ग्रह शब्द का अर्थ भी तुममें ही घटित होता है ।” इसके पश्चात् वे ग्रह शब्द को निम्न व्युत्पत्ति करते हैं—

१. व्यापक अर्थ में भारतीय हिन्दू समाज के लिये प्रयुक्त

ये गृह्यन्ति ते ग्रहाः' जो ग्रहण करते हैं उनका नाम ग्रह है। जब तक तुम्हारे चरण राजा, रईस, सेठ, साहूकार और दरिद्रों के पास नहीं पहुँचते तब तक किसी को नवग्रह का स्मरण भी नहीं होता, जब तक तुम साक्षात् सूर्य, शनैश्चरादि मूर्तिमान् क्रूर रूप धर उन पर जा चढ़ते हो तब बिना ग्रहण किये उनको कभी नहीं छोड़ते।''

स्वामी दयानन्द फलित ज्योतिष का खण्डन करते हैं, परन्तु ज्योतिष के गणितीय पक्ष पर उनकी पूर्ण श्रद्धा है। चन्द्र ग्रहण और सूर्य ग्रहण से सम्बन्धित पुराणानुमोदित समुद्र-मन्थन, उससे निकलने वाले चौदह रत्नों के वितरण-प्रसंग में राहु-केतु नामक राक्षसों द्वारा अमृतपान, पुनः विष्णु द्वारा दैत्यों का शरीरच्छेद आदि कथानकों में उनका कोई विश्वास नहीं है। वे सूर्य और चन्द्रग्रहण के भौगोलिक कारणों की व्याख्या करते हैं तथा अपने कथन की पुष्टि में सिद्धांतशिरोमणि का प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। फलित-ज्योतिष की समीक्षा में निम्न बिन्दु ध्यातव्य हैं—

१. संसार में लोगों का सम्पन्न-विपन्न होना, स्वस्थ एवं रुग्ण होना कर्मानुसार होता है, न कि ग्रह या नक्षत्र उन्हें प्रभावित करते हैं।

२. अच्छे-अच्छे ज्योतिषी अपने लड़के-लड़कियों का विवाह मुहूर्तादि देख कर करते हैं, परन्तु कर्म-भोगानुसार उनकी लड़कियाँ विधवा हो जाती हैं, लड़के विधुर हो जाते हैं। यह सब कर्मानुसार ही होता है, ग्रहों के किये मनुष्य का कुछ भी इष्ट-अनिष्ट नहीं होता।

३. एक ही मुहूर्त (नक्षत्र) में संसार में सहस्रों, लाखों बच्चों का जन्म होता है। यदि जन्मकाल की गणना के आधार पर इन बालकों के जन्मपत्र बनें तो वे सभी एक से ही होने चाहिएँ परन्तु हम देखते हैं कि एक ही काल में जन्मे बच्चे अपने-अपने गुण, कर्म, भाग्यानुसार भिन्न-भिन्न भोग्य पदार्थ प्राप्त करते हैं। उनमें कोई निर्धन, तो कोई सम्पन्न होता है।

मृत्यु के अनन्तर जीव की स्थिति

आठारह पुराणों में से एक गरुड़ पुराण मृत्यु के पश्चात् जीव की विभिन्न गतियों का वर्णन करता है, परन्तु है यह कल्पनाश्रित। यमराज, उसके मंत्री चित्रगुप्त, उनके भीषणाकृति गण, कुम्भीपाक आदि विभिन्न नरक, वैतरणी नदी, मृत व्यक्ति की गति-मुक्ति हेतु किये जाने वाले विभिन्न श्राद्ध, तर्पण, गोदान आदि के कृत्य पूर्णतया कपोलकल्पित हैं। मृत व्यक्ति की दिवंगत आत्मा को सन्तुष्ट करने के लिये किए जाने वाले पिण्डदान आदि कर्मों की कोई सार्थकता नहीं है। तथ्य तो यह है कि जीव के शरीर-त्याग के पश्चात् वह किंचित्काल पर्यन्त ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन अन्तरिक्ष लोक में विचरण करता है। तदुपरान्त स्वकृत पाप पुण्य-व्यवस्थानुसार उसे नवीन जन्म धारण करना होता है। यमराज तो जीवात्माओं को उनके कर्मानुसार विभिन्न योनियों में भेजने वाले विधाता

परमात्मा का ही नाम है। जो लोग यह मानते हैं कि दिवंगत आत्मा के लिये किया गया दान, तर्पण आदि परलोकस्थ जीव को निश्चय ही प्राप्त होता है उनके समाधान के लिये स्वामी जी ने जाट और पोप का एक रोचक दृष्टान्त उपस्थित किया है। यदि हमारे समाज में कथा के नायक जाट की ही भाँति प्रबुद्ध और जागरूक लोगों का आधिक्य हो जाय तो परलोक के नाम पर मचने वाली यह लूटखसोट अविलम्ब बन्द हो सकती है। स्वामी जी के शब्दों में “जब ऐसे ही जाट जी के से पुरुष हों तो पोप लीला संसार में न चले।”

वैदिक मन्तव्यानुसार मृत्यु के पश्चात् जीव की गति का वर्णन इस प्रकरण में प्रस्तुत किया गया है। यम का उल्लेख यजुर्वेद के २९ वें अध्याय के १३ वें मंत्र में हुआ है— “यमेन दत्त त्रितऽणमायु” आदि। स्वामी जी यम को वायु का वाचक मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार “अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते।” १४। २। २। ११ यम वायु ही है। इसी वायु के आश्रय से शरीर छूटने के पश्चात् जीवात्मा की अन्तरिक्ष में स्थिति रहती है। धर्मराज भी ईश्वर है क्योंकि वही न्यायपूर्वक जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों का फल प्रदाता है।

दान प्रकरण

भारतीय संस्कृति में दान का विशिष्ट महत्त्व है। उपनिषद् की आख्यायिका के अनुसार प्रजापति ने मानव जाति को दान के द्वारा ही आत्मिक उन्नति करने का उपदेश दिया। दान का विवेचन मनुस्मृति, गीतादि ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक हुआ है। गीता में सात्विक, राजस और तामस भेद से दान का त्रिविध वर्गीकरण किया गया है। सात्विक दान की परिभाषा गीताकार के शब्दों में इस प्रकार है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।। १७। २०

वह दान सात्विक कहलाता है जो कर्तव्य बुद्धि से किया जाय। जो योग्य स्थल, काल और पात्र का विचार करके किया जाता है तथा जो अपने ऊपर प्रत्युपकार न करने वाले को दिया जाता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।। १७। २१

किये हुए उपकार के बदले में अथवा किसी फल की आशा रख, बड़ी कठिनाई से जो दान दिया जाता है, वह राजस दान है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामससुदाहृतम् ।। १७। २२

अयोग्य स्थान में, अयोग्य काल में, अपात्र मनुष्य को बिना सत्कार के अथवा अवहेलनापूर्वक जो दान दिया जाता है, वह तामस दान कहलाता है।

सत्यार्थप्रकाशकार ने दान को उत्तम, मध्यम और निकृष्ट कोटि में रक्खा है। उनके अनुसार देश, काल, पात्र को देखकर तथा परोपकारार्थ जो दान दिया जाता है वह उत्तम दान है। ऐसा दाता ही उत्तम कोटि का है। कीर्ति अथवा स्वार्थ के लिए दान करने वाला मध्यम कोटि का दाता है। कुपात्र को अविचारपूर्वक जो देता है वह निकृष्ट कोटि का दाता है।

पुराणकथित व्रत, दान, उपवासादि की आलोचना

यह एक विचित्र बात है कि पुराण-रचयिताओं ने वैदिक व्रत, दान तथा अन्य धार्मिक कृत्यों की पूर्णतया उपेक्षा की तथा उनके स्थान पर नाना कपोलकल्पित व्रत, दान, उपवासादि का प्रचलन किया। यदि कोई पुराणमत-विश्वासी इन ग्रन्थों की एक-एक पंक्ति पर विश्वास रखकर आचरण करने का संकल्प करे तो उसके लिये 'आठों दण्ड एकादशी' वाली कहावत चरितार्थ होगी। प्रत्येक तिथि किसी न किसी देवता से जुड़ी है और सप्ताह का प्रत्येक दिन किसी न किसी धर्मकृत्य से सम्बन्धित है। यदि इन व्रतों और उपवासों का पूर्ण तत्परता से आचरण किया जाय तब तो किसी पुराण-मतावलम्बी का जीवन-धारण ही असम्भव हो जाएगा। सत्यार्थप्रकाशकार ने निम्न प्रकार से तिथियों और उनसे सम्बन्धित पूजनीय एवं उपासनीय पौराणिक देवों का उल्लेख किया है—

चन्द्रमा की पूर्णिमा (आधुनिक काल के हिन्दू धर्मावलम्बी पूर्णिमा का सम्बन्ध सत्यनारायण व्रत से जोड़ते हैं यद्यपि उनके द्वारा निर्दिष्ट इस सत्य नारायण व्रत कथा का स्कन्द पुराण के रेवा खण्ड में कहीं भी उल्लेख नहीं है, जिसका संकेत और प्रमाण इस तथा कथित व्रत-कथा में उल्लिखित है।)^१

अनन्त की चतुर्दशी^२

शिवपुराण में त्रयोदशी का माहात्म्य वर्णित है।

वामन की द्वादशी।

वैष्णवों के लिये एकादशी एव सर्वमान्य दिन है।

दिक्पालों की दशमी।

दुर्गा की नवमी।^३

वसुओं की अष्टमी।

स्वामिकार्तिक की षष्ठी।

नाग के लिये पंचमी।^४

१. द्रष्टव्यः डा० सम्पूर्णानन्द लिखित 'ब्राह्मण सावधान'

२. अनन्त चतुर्दशी का व्रत करते समय लोग एक डोरा अनन्त के प्रतीक रूप में अपनी भुजा पर बाँध लेते हैं।

३. बंगाल में दुर्गापूजा अश्विन में विशेष समारोहपूर्वक मनाई जाती है।

४. नागपञ्चमी का प्रचार सर्वत्र है। इस दिन नागों को दूध पिलाते हैं।

गणेश की चतुर्थी ।^१

गौरी की तृतीया ।

अश्विनी कुमार अथवा यम की द्वितीया ।^२

आद्यादेवी की प्रतिपदा ।

पितरों की अमावस्या ।

इसी प्रकार रविवार को सूर्य का दिन मानकर व्रतोपवास किये जाते हैं । अनेक लोग सोमवार को भी व्रत करते हैं । अधिकांश हिन्दू मंगल का दिन रामभक्त हनुमान के साथ जोड़ते हैं तथा हनुमान् का व्रत, पूजा और उपवास रखते हैं । बुध, गुरु और शुक्र का भी व्रतकर्त्ताओं के लिये महत्त्व है । इधर कुछ वर्षों से संतोषी माता का व्रत शुक्रवार को रखने की मिथ्या कपोलकल्पित परिपाटी चल पड़ी है । संतोषी माता का यह आकस्मिक अभ्युदय इस बात का प्रतीक है कि हिन्दू जाति इतनी भोली, अंधविश्वासी और युक्तिहीन आचरण करने वाली है कि उसे किसी भी देवी-देवता के नाम पर बहकाया और फुसलाया जा सकता है । संतोषी माता का व्रत करने वाले श्रद्धालु लोग इस दिन खटाई का सेवन नहीं करते हैं । भुने हुए चने और सत्तुओं का आहार ही उनके लिए विधेय माना गया है । शनिवार का महत्त्व उन लोगों के लिए है जो फलित-ज्योतिष के विश्वासी होने के कारण इस क्रूर ग्रह के प्रभाव से भयभीत रहते हैं । वे लोग शनिवार को व्रत रखकर शनि पूजकों को तैलादि का दान करते हैं ।

स्वामी दयानन्द ने यह लिखकर अंधविश्वासियों की इन मूढ़ धारणाओं पर कठोर एवं निर्मम प्रहार किया है कि अब पोप और पोपजी के चेलों को चाहिए किसी वार अथवा किसी तिथि में भोजन न करें, क्योंकि जो भोजन वा पान किया तो नरकगामी होंगे । व्रत उपवास आदि की ये अधिकांश व्यवस्थाएँ धर्मसिन्धु, व्रतार्क आदि मध्यकालीन कर्मकाण्डीय धर्मशास्त्र ग्रन्थों में वर्णित हैं जिनके लेखक संकीर्ण दृष्टिकोण वाले थे । एकादशी व्रत की सीमा-रेखा कभी दशमी और कभी द्वादशी तक पहुँचती है और पौराणिकों में इन बातों को लेकर बड़ा विवाद होता है कि एकादशी का पारण कब किया जाए? स्वामी जी लिखते हैं— “क्या बड़ी विचित्र पोपलीला है कि भूखे मरने में भी वाद-विवाद ही करते हैं ।”

एकादशी व्रत समीक्षा

वैष्णव सम्प्रदाय में एकादशी का माहात्म्य सर्वोपरि है । राजा अम्बरीष के एकादशी व्रताचरण की कथा पुराण-प्रसिद्ध है । अन्य सम्प्रदायावलम्बी भी एकादशी का महत्त्व स्वीकार करते हैं । नाना मिथ्या कथाएँ और माहात्म्य एकादशी को लेकर पुराणकारों ने

१. यह महाराष्ट्र का प्रमुख त्यौहार है ।

२. दीपावली के बाद वाली द्वितीया यम द्वितीया या भ्रातृ द्वितीया कहलाती है ।

लिखे हैं। वर्ष की चौबीस एकादशियां भी पृथक्-पृथक् नाम और महत्त्व रखती हैं। कोई 'धनदा एकादशी' है तो कोई 'पुत्रदा'। किसी का नाम 'कामदा एकादशी' रखा तो ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष में जब भयंकर गर्मी होती है, उस पक्ष की एकादशी को 'निर्जला' नाम दिया गया। जब प्रचण्ड ग्रीष्म के कारण मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी तक व्याकुल हो जाते हैं उस समय बिना जल के उपवास करना शरीर को घोर कष्ट देना है। ऐसे निष्ठुर विधान करने वाले पुराणकारों को स्वामी दयानन्द ने 'निर्दयी कसाई' कहकर सम्बोधन किया है। गर्भवती तथा सद्योविवाहिता स्त्रियों के लिये ऐसे कठोर उपवासों का विधान सर्वथा अनुचित एवं स्वास्थ्य-विनाशक है।

वस्तुतः उपवास की आवश्यकता तो मनुष्य को तब होती है जब वह अति भोजन के कारण अजीर्ण का शिकार हो जाय। स्वास्थ्य रक्षा के लिए नियमित साप्ताहिक उपवास की उपयोगिता निर्विवाद है। परन्तु यह उपवास तो नींबू के पानी अथवा दुग्ध आदि कुछ पेय पदार्थों के सेवन के साथ होता है। उपवास को देहदण्डन के रूप में स्वीकार कर पौराणिकों ने विधवाओं, और धर्मीनिष्ठ महिलाओं के दुःख और कष्ट ही बढ़ाये हैं। 'एकादश्यामन्ने पापानि वसन्ति' जैसी मिथ्या उक्तियाँ सर्वथा निस्सार ही हैं।

अनुपलब्ध वैदिक शाखायें और मूर्तिपूजा-विधान

जब मूर्तिपूजा के समर्थक लोग वेदों की चारों संहिताओं और तत्-सम्बन्धी उपलब्ध ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य में मूर्तिपूजा की पुष्टि में कोई प्रमाण ढूँढ़ने में असमर्थ हो जाते हैं तो यह कहकर अपना मनःसंतोष व्यक्त करते हैं कि वेद इतने ही तो नहीं हैं। पातंजल महाभाष्य में ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ९ शाखायें मानी गई हैं।^१ इनमें बहुत थोड़ी शाखायें सम्प्रति उपलब्ध होती हैं।^२ क्या आश्चर्य है कि इन अनुपलब्ध एवं लुप्त संहिताओं में मूर्तिपूजा, तीर्थ, मृतक श्राद्ध आदि के विधान पाये जाते हों? पुराणों में जो विधि-विधान एवं कर्मकाण्ड वर्णित हैं उनका आधार वेदों की इन लुप्त शाखाओं में होगा।

स्वामी दयानन्द ने इस आशंका का पूर्ण समाधान करते हुए वैदिक शाखाओं के स्वरूप का यथार्थ निरूपण किया है। इससे पूर्व सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में भी वे वैदिक शाखाओं का विवेचन कर चुके हैं। उनके अनुसार वेद व्याख्यानों को ही वेद की शाखायें कहते हैं। शाखायें वेद के अवयवभूत विभाग नहीं हैं। शाखाओं का प्रवचन

१. महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १

२. ऋग्वेद की शाकल वा शांखायन (अप्रकाशित) शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन तथा काण्व, कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ, कपिष्ठल, सामवेद की कौथुम, राणायनीय (अप्रकाशित) तथा अथर्ववेद की गौनक तथा पैपलाद शाखायें (सम्पूर्ण संहिता अप्रकाशित है, आंशिक प्रकाशित) ही उपलब्ध हैं।

आश्वलायन आदि ऋषियों ने किया। अतः वे ऋषियों के नामों से ही प्रसिद्ध हैं। संहितायें तो मंत्र भाग का ही नाम है जो ईश्वर कृत मानी जाती हैं जब कि शाखायें 'प्रोक्त' हैं। शाखायें मंत्रों की प्रतीकें रखकर पुनः उनकी व्याख्या करती हैं। उदाहरणार्थ यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में 'इषेत्वोर्जे त्वा' आदि मंत्रों की प्रतीकें प्रस्तुत कर उनका विवेचन किया गया है।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में भी शाखाओं का समग्र विवेचन कर संहिताओं से उनका पार्थक्य सिद्ध किया गया है। यह कहना तो और भी असंगत है कि लुप्त शाखाओं में मूर्तिपूजादि का विधान सम्भव है। जिस प्रकार वृक्ष की शाखायें उसके तने के सदृश तत्त्वों से ही निर्मित होती हैं, उसी प्रकार वेद की संहिताओं में वर्णित, विवेचित और आलोचित विषय ही वेद की शाखाओं में भी उपलब्ध होते हैं, उनसे विपरीत नहीं। वेद-संहितायें तो अपने मूल और अविकृत रूप में आज भी उपलब्ध हैं। जब उनमें ही मूर्तिपूजा की स्वीकृति नहीं है तो उनके व्याख्यान रूप शाखाओं में उनका अस्तित्व मानना क्लिष्ट-कल्पना ही है।

पुराणों को तो कथमपि वैदिक शाखा की संज्ञा नहीं दी जा सकती। संप्रदायों के पूर्वाग्रह से ग्रस्त लोगों द्वारा रचित इन ग्रन्थों को आश्वलायन, कठ, शौनक, पिप्पलाद आदि महर्षियों द्वारा प्रणीत वैदिक शाखाओं के तुल्य कैसे कहा जा सकता है? यह तो बहाना मात्र है कि सम्प्रति उपलब्ध वैदिक संहिताओं और शाखाओं में पौराणिक विधि-विधानों का लेशमात्र भी न पाकर अनुपलब्ध शाखाओं में उनके अस्तित्व की कल्पना की जाय।

आज चाहे महाभाष्योक्त सभी वैदिक शाखायें उपलब्ध नहीं होती हों, परन्तु एक समय तो ऐसा था जब प्रायः सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय आर्यों के लिये हस्तामलकवत् था। उस युग के जैमिनि, व्यास, पतंजलि आदि ऋषि मुनियों ने निश्चय ही मूर्ति पूजा, तीर्थ, व्रतादि का विधान अपने मीमांसा, वेदान्त तथा योग आदि दर्शनों में किया होता, यदि उनके समय में उपलब्ध वैदिक शाखाओं में इनकी सत्ता पाई जाती। परन्तु न तो योग-दर्शनकार पतंजलि ने ही समाधि योग की सिद्धि के लिये मूर्तिपूजा तथा प्रतीकोपासना की कोई उपयोगिता बताई और न ब्रह्म तत्त्व का निरूपण करने वाले आचार्य बादरायण ने ही अपने शारीरक सूत्रों में मूर्तिपूजा को ईश्वरप्राप्ति का उपाय स्वीकार किया। मीमांसा में यज्ञ यागादि का तो विस्तृत निरूपण मिलता है, परन्तु तीर्थ, व्रत, उपवासादि को कहीं भी स्वर्गापवर्ग का साधक नहीं माना गया है। लौकिक इतिहास भी शाखाओं में यत्र तत्र मिलता है। अतः वे वेदसंज्ञा की अधिकारिणी नहीं है।

मूर्तिपूजा से पूर्वजों की गौरव-हानि

मूर्तिपूजा ने भारतीय इतिहास के गरिमामय पुरुषों और महिलाओं के उपहास और

अपमान की ही सामग्री प्रस्तुत की है। जिन राम, सीता, कृष्ण, रुक्मिणी आदि की मूर्तियाँ मंदिरों में पूजी जाती हैं, वे अपने युग के अद्वितीय, तेजस्वी, प्रख्यात पुरुष थे, परन्तु आज का मूर्ति पूजक पुजारी उन महापुरुषों और आर्य देवियों के नाम पर भीख माँगता है, दान-दक्षिणा और चढ़ावा स्वीकार करता है। यह सब विडम्बना नहीं तो और क्या है? सत्यार्थप्रकाशकार ने मंदिरों और उनके पुजारियों का यथार्थ चित्र उपस्थित कर दिया है। इसी प्रकार रामलीला, रासलीला तथा देवी-देवताओं के स्वांग आदि भी हमारे संस्कृति के शलाका पुरुषों का विकृत रूप ही उपस्थित करते हैं। श्री महाराज इस प्रसंग में लिखते हैं— “भला कहो तो सीतारामादि ऐसे दरिद्र और भिक्षुक थे? यह उनका उपहास और निन्दा नहीं तो क्या है? इससे अपने माननीय पुरुषों की बड़ी निन्दा होती है।” निष्कर्षतः “आर्यावर्त की प्रतिदिन महाहानि, पाषाणादि मूर्तिपूजकों का पराजय इन्हीं कर्मों से होता है। क्योंकि पाप का फल दुःख है, इन्हीं पाषाणादि मूर्तियों के विश्वास से बहुत-सी हानि हो गई।”

फलित ज्योतिष विषयक समीक्षा ग्रन्थ

१. ज्योतिष विवेक— वेदव्रत मीमांसक
२. ज्योतिष मीमांसा— पं. गंगाप्रसाद
३. फलित ज्योतिष मीमांसा— पं. मनसाराम
४. नवग्रहों का शुभागमन— डॉ. प्रज्ञा देवी



१४ प्रकारान्तर से सम्प्रदाय-खंडन

भारत में विभिन्न मत-सम्प्रदायों के प्रचार से धर्म, संस्कृति और वैदिक चिन्तन को जो महती हानि हुई है, उसका मूल्यांकन करना अतीव दुस्तर है। सत्यार्थप्रकाशकार ने इस देश में महाभारत काल के परवर्ती युग में उत्पन्न और विकसित होने वाले सभी सम्प्रदायों का सम्यक् परीक्षण किया है तथा उनके द्वारा प्रसारित होने वाले मिथ्या विश्वासों, भ्रान्तियों और रूढ़िपूर्ण धारणाओं की तीव्र आलोचना की है। सर्वप्रथम वाममार्ग को ही वैदिक विचारधारा का शब्दशः विरोध करने के लिये उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। देश की प्रचलित मान्यता तो वैदिक तथा वैष्णव आचारों को ग्रहणीय तथा श्रेष्ठ स्वीकार करती है, परन्तु वाममार्गी शाक्तों की परिपाटी सर्वथा उल्टी ही है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'शाक्त मत के अनुसार चार प्रधान आचार हैं, वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त। शाक्त आचार भी चार प्रकार के हैं— वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धांताचार और कौलाचार। 'षट्शाम्भव रहस्य' नामक ग्रन्थ में बताया गया है कि वैदिक आचार से वैष्णव श्रेष्ठ हैं, उससे गाणपत्य, उससे सौर, उससे शैव और शैव आचार से भी शाक्त आचार श्रेष्ठ है। शाक्त आचारों में भी वाम, दक्षिण और कौल उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है।' इसप्रकार हम देखते हैं कि वाममार्गियों ने प्रचलित सदाचार की धारणाओं का पूर्ण विरोध करते हुए वैदिक और लोक-मर्यादाओं का तिरस्कार करना ही उचित समझा है। उनके अनुसार, वैदिक, वैष्णव और दक्षिण आचारों का पालन पशुभाव के साधकों के लिये ही विहित है। वामाचार के साधकों को गौरवान्वित करते हुए उन्हें वीर की संज्ञा दी गई।

वाममार्गियों ने अपने शास्त्रों को 'आगम' की संज्ञा दी है। आगम का मनःकल्पित अर्थ करते हुए एक स्थान पर कहा गया है—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे ।

मतं श्री वासुदेवस्य तस्मात् आगम उच्यते । ।

यह आगम शास्त्र शिव के मुख से निकला और पार्वती के मुख में चला गया। वस्तुतः आगम कहलाने वाले तंत्र-ग्रन्थों की रचना शिव पार्वती के कपोल-कल्पित संवादों के रूप में हुई है। इन आगमों ने वैदिक, स्मार्त, पौराण परिपाटियों को मिटाकर तांत्रिक आचार-प्रणाली को ही प्रचलित करना अपना लक्ष्य बनाया। उनके अनुसार—

कृते श्रुत्युक्तमार्गः त्रेतायां स्मृति सम्भवः ।

द्वापरेषु पुराणप्रोक्तः कलौ आगम संमतः ।।^१

सतयुग में वेदमार्ग, त्रेता में स्मृति प्रोक्तमार्ग तथा द्वापर में पुराणवर्णित मर्यादाओं का अनुसरण किया जाता है, परन्तु कलियुग में आगम (तन्त्र) मार्ग भी अनुसरणीय है ।^२

तंत्रों ने वेदों का अपमान करने में किंचित्मात्र भी संकोच नहीं किया । उनके अनुसार कलियुग में वेदमन्त्रों की स्थिति विषहीन सर्प की भाँति हो गई है, अतः विद्वान् को चाहिये कि वह आगमोक्त विधान से ही देवार्चन करे—

निर्वीया श्रौतजातीया विषहीनोऽरगा इव ।

आगमोक्त विधानेन कलौ देवान् यजेत सुधीः ।।

वाममार्गियों ने तो अपने अनुयायियों को कलियुग में कौल मार्ग का धुंआधार प्रचार करने का आदेश दिया है, जिससे कि वैदिक मर्यादाओं को सर्वथा छिन-भिन्न कर लोगों को अनाचार की ओर प्रवृत्त किया जा सके—

कलौ प्राबल्यसमये सर्वधर्मविवर्जिते ।

गोपनात् कुलधर्मस्य कौलोऽपि नारकी भवेत् ।।

कलियुग में प्रबल होने पर अन्य (वैदिक आदि) धर्म निर्वीर्य हो जाते हैं, तब यदि कौलिक (वाममार्गी) पुरुष अपने कुल धर्म को छिपायेंगे तो वे नरकगामी होंगे । वाममार्गियों ने सांसारिक और शास्त्रीय मर्यादाओं का अनुपालन करने वाले को तो 'पशु' संज्ञा प्रदान की तथा अमर्यादित स्वैराचार बरतने वालों को 'शिव' कहा । उनके अनुसार—

“घृणा लज्जा भयं शंका जुगुप्सा चेति पञ्चम् ।

कुल शीलं तथा जाति अष्टपाशाः प्रकीर्तिताः ।।

१. युग धर्म : स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती पृ० ३ ।

२. देवी भागवत के अनुसार वाम, कापालक, कौलिक तथा भैरवागम वेद, स्मृति से विरुद्ध तामस ग्रन्थ हैं—

श्रुति स्मृति विरुद्धानि तामसान्येव सर्वशः ।

वामं कापालकं चैव कौलकं भैरवागमः ।।

यह भी माना गया है कि शिव ने ही दक्ष, भृगु और दधीचि के शापवश इन तामस आगमों की रचना लोगों को मुग्ध करने के लिए की—

शिवेन मोहनार्थाय प्रणीतो नान्यहेतुकः ।

दक्षशापाद् भृगोः शापाद् दधीचस्य शापतः ।।

आगमों के सम्प्रदायानुसार शाक्त, वैष्णव, सौर, शाक्त तथा गाणपत्य नामक पाँच प्रमुख भेद हैं । इनकी रचना शंकर ने की—

शैवाश्च वैष्णवाश्चैव सौरा शाक्तास्तथैव च ।

गाणपत्या आगमाश्च प्रणीताः शंकरेण तु ।।

पाश बद्धः भवेत् जीवः पाशमुक्तो सदा शिवः । ।^१

घृणा, लज्जा, भय, शंका और जुगुप्सा इनकी दृष्टि में पाश हैं। इसी प्रकार कुल मर्यादा का पालन, शील और समाज की मर्यादाओं को तिलांजलि देने वाला इनके विचार से पाशमुक्त होकर सदाशिव की स्थिति धारण कर लेता है। अहिंसा, खानपान की शुद्धता और पवित्रता को वाममार्गी लोग वैष्णवाचार समझते हैं जो इनकी दृष्टि में पशवाचार है तथा वर्णाश्रम धर्म के विधि-निषेधात्मक बन्धनों से जकड़ा हुआ है। इनके विचार से त्रिकाल संध्योपासना, देवपूजा, जप आदि पशु साधकों के लिये ही विहित हैं, जब कि वीराचार साधक के लिए मद्यमांसादि पंच मकारों का सेवन उपयुक्त है। आश्चर्य तो यह है कि मद्य, मांसादि घृणित एवं स्वास्थ्य विनाशक पदार्थों के सेवन में भी वाममार्गीयों ने मर्यादा-अमर्यादा, विधि-अविधि का पचड़ा लगा रखा है। इनके अनुसार अविधिपूर्वक (तंत्रोक्त कर्मानुसार न किया गया) मांस, मद्य का सेवन नहीं करना चाहिये, किन्तु विधिपूर्वक तो गाय या ब्राह्मण की हत्या भी की जा सकती है—

तस्मादविधिना मांसं मद्यं न सेवते क्वचित् ।

तृणं वाप्यविधानेन छेद्येन्न कदाचन । ।

विधिना गां द्विजं वापि हत्वा पापैर्न लिप्यते । ।^२

पता नहीं, तंत्रों ने गाय या ब्राह्मण को मारने की ऐसी कौन-सी विधि बताई है, जिससे घातक को पाप नहीं लगता। वैदिक और स्मार्त मर्यादा के अनुसार तो ब्रह्महत्या, सुरापान, गोघात आदि सभी महापातक कहे गये हैं।^३

वाममार्गीयों ने तो मद्यपान, अगम्यागमन (मैथुन) और मांस-भक्षण को भी आगमोक्त तथा तंत्र प्रतिपादित रीति से सुसंस्कृत कर उपयोग में लाने की आज्ञा दी। यह विडम्बना ही है कि इस प्रकार के लोकप्रसिद्ध अनाचार, अभक्ष्य भक्षण और अपेय पान वाममार्गीयों द्वारा सुसंस्कृत किये जाते हैं। यथा—

असंस्कृतं पिबेत् द्रव्यं बलात्कारेण मैथुनम् ।

अप्रोक्षितं खादयेत् मांसं रौरवे नरकं व्रजेत् । ।

इसी वाम मार्ग में 'दं दुर्गायै नमः' भं भैरवाय नमः तथा ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चै' आदि अर्थहीन मंत्रों के जाप का प्रचलन है। वाममार्गी-साधना में मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण, वशीकरण जैसे अभिचार कृत्यों को भी सम्मिलित किया गया है। शत्रुघात, परकीया

१. कुलार्णव तंत्र— तत्त्व विवेचन (स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती) में पृष्ठ १२ पर उद्धृत । ।

२. कुलार्णव तंत्र २ । १३४, १३५ तत्त्व विवेचन पृष्ठ १४ पर उद्धृत ।

३. ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वगनागमः ।

महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह । । मनुस्मृति ११ । ५४

को मोहित करना आदि इनके इन कृत्यों के समाज विरुद्ध, लोक बाह्य तथा गर्हित होने पर भी वामाचारी स्वयं इन्हें निन्दित नहीं मानते । पशुहिंसा, नरबलि तथा अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण इन वाममार्गी कापालिकों की सहज साधनायें हैं । अघोरी भी इन्हीं में होते हैं जो मनुष्य के मल-मूत्र को भी खा जाते हैं तथा जिन्हें नरमांस भक्षण में भी संकोच नहीं होता । चोली मार्ग और बीजमार्ग वाममार्गियों की ही अवान्तर शाखायें हैं । चोली मार्ग व्यभिचार-परायण होते हैं । बीजमार्गियों को वीर्यपान जैसे कुकृत्य से भी संकोच नहीं होता । आश्चर्य है कि ये 'पामर' ऐसे कर्मों को मुक्ति का साधन मानते हैं ।

तंत्र में एक श्लोक मिलता है—

अन्तःशाक्ता बहिःशैवा सभामध्ये च वैष्णवाः ।

नानारूपधरा कौला विचरन्ति महीतले । ।

ये वाममार्गी लोग भीतर तो शाक्त मत के अनुयायी होते हैं, किन्तु दिखावे के लिए शैव बन जाते हैं । सभा में अपने-आपको वैष्णव घोषित करते हैं, ऐसे नानारूपधारी कौल धरती पर स्वेच्छा विचरते हैं ।

स्वामी दयानन्द की धारणानुसार वैदिक सारणि से भ्रष्ट होकर भारतवासी चाहे शाक्त बनें या वैष्णव, शैव मत को मानें या स्मार्त धर्म का पालन करें, वे कदापि श्रेय पथगामी नहीं हो सकते । कारण यह है कि मानव जीवन की तो सर्वतोमुखी उन्नति का साधक वैदिक धर्म ही है । वैदिक मर्यादा से हटकर 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' वाली कहावत चरितार्थ होती है । अतः पूर्वपक्षी के यह पूछने पर कि शैव मत वाले तो अच्छे होते हैं स्वामी जी ने स्पष्ट कहा है कि 'जैसा प्रेतनाथ, वैसा भूतनाथ' । शैवों का कर्मकाण्ड एवं आचारनिष्ठा भी अन्य साम्प्रदायिक निष्ठाओं के तुल्य ही संकीर्ण तथा मिथ्या है । भस्म, रुद्राक्ष धारण, पार्थिव शिवलिंग पूजा तथा नमः शिवाय इस पंचाक्षरी मंत्र का जाप ही शैवों की धारणा के अनुसार मोक्षदायक है । 'हर हर बं बं' जैसे निरर्थक शब्दों की उच्चारण शैवों में श्रेयस्कर माना जाता है । शिवपुराण में कथा आती है कि अपने श्वसुर दक्ष प्रजापति के द्वारा यज्ञ में आमंत्रित न किये जाने तथा पति की इच्छा के विपरीत शिव पत्नी सती के पिता के यज्ञ में सम्मिलित होने से भगवान् शिव रुष्ट हुए । तत्पश्चात् जब रुद्र गणों ने दक्ष-यज्ञ विध्वंस किया तो दक्ष को भी मार कर उसका सिर यज्ञ कुण्ड में डाल दिया । कालान्तर में दक्ष को पुनरुज्जीवित करने के लिए जब शिव ने उसके धड़ पर बकरे का सिर लगा दिया तो यह अजमुख दक्ष बं बं कर शिव को प्रसन्न करने लगा । अतः यह लोक-प्रचलित धारणा बन गई कि बकरे की तरह गाल बजाने से तथा बं बं का कोलाहल करने से शिव प्रसन्न होते हैं ।

शैव सम्प्रदाय के अवान्तर भेद भी बहुत से हैं । कनफटे और नाथ, गिरि, पुरी, वन,

अरण्य, पर्वत, सागर आदि नामधारी संन्यासी भी शैव मत के ही अनुयायी हैं। नाथ सम्प्रदाय के कई साधु कालान्तर में गृहस्थी भी हो गये। रुद्राक्ष-धारण और भस्म-लेपन, कानों को चीरकर स्फटिक कुण्डल पहनना तथा नाथान्त नाम रखना इन शैव गृहस्थों के लक्षण हैं।

इस प्रकार शैव सम्प्रदाय की सामान्य समालोचना के पश्चात् सत्यार्थप्रकाशकार वैष्णव मत समीक्षा में प्रवृत्त होते हैं। वैष्णवों में भी नाना साम्प्रदायिक भेद हैं। रामानुज मतानुयायी अपनेआपको श्री वैष्णव कहते हैं। उन्हें चक्रांकित भी कहा जाता है। इनका तिलक उर्ध्व पुण्ड्र कहलाता है जो विष्णु के चरणों के सदृश तथा बीच में पीली रेखा से युक्त होता है। चक्रांकितों की धारणा है कि यह पीली रेखा 'श्री' या 'लक्ष्मी' का प्रतीक है। वैष्णवों और शैवों का परस्पर विरोध प्रसिद्ध है।^१ वैष्णव शिवलिंग के दर्शन में भी पाप समझते हैं। क्योंकि इनकी धारणा है कि इनके ललाट पर विराजमान लक्ष्मी जी पुरुषचिह्न को देखकर लज्जित होती हैं। श्री वैष्णव-सम्प्रदाय का प्रथम प्रचलन दक्षिण में हुआ। तमिल भाषा में आलवार नामक वैष्णव भक्तों ने स्तोत्रों और भजनों की रचना की, जो आज भी दक्षिण के वैष्णव मंदिरों में पढ़े जाते हैं। 'ओं नमो नारायणाय' इनका मंत्र है। मद्य मांसादि तामसी पदार्थों का सेवन न करना वैष्णवों की आचारगत शुद्धता का प्रतीक तो है किन्तु अन्य नाना व्रत, उपवास, पूजा-पाठ तथा बाह्य कर्मकाण्ड संकुल वैष्णव मत धर्म की स्वच्छ, सरल तथा व्यावहारिक मान्यताओं से कोसों दूर हट चुका है।

वैष्णव तिलक के खण्डन में श्री महाराज ने निम्न बातें लिखी हैं—

१. उर्ध्वपुण्ड्र को हरिपदाकृति कहना तथा पीली रेखा को 'श्री' मानना व्यर्थ है। यह तो तिलक कर्ता के हाथ की कारीगरी तथा चित्रकला है।

२. रंग से बनाई कोई रेखा चेतन नहीं हो सकती, वह तो जड़ ही रहेगी, अतः उसे श्री या लक्ष्मी कहना व्यर्थ है।

३. श्री का अभिधार्थ यदि शोभा, सुन्दरता तथा वैभवसम्पन्न होने से लें तो इस 'श्री' रेखा को धारण करने वाले अनेक वैष्णव अमंगल दर्शन, कंगाल तथा भिखमंगे क्यों होते हैं? उन्हें तो श्रीधर होने के कारण सौन्दर्य, शोभा और ऐश्वर्य का भण्डार होना चाहिए।

वैष्णवों ने अपने मत की महिमा प्रकाशित करने के लिये नाना माहात्म्य ग्रन्थों की रचना की है। इनमें नाभादास कृत भक्तमाल का विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ की दो आख्यायिकाओं को उद्धृत कर सत्यार्थप्रकाशकार यह स्पष्ट करता है कि इस प्रकार के मिथ्या महत्त्व निरूपक ग्रन्थों तथा उनमें उपाख्यानों से अनैतिकता को ही प्रोत्साहन मिलता

१. भागवत में शैवों को पाखण्डी तथा सत्शास्त्रों का विरोधी कहा है—

भव व्रत धरा ये च ये तान् समनुव्रताः।

पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्र परिपन्थिनः।। ४। २। २८

हैं क्योंकि वैष्णवों में येन केन प्रकारेण की गई विष्णु पूजा और विष्णुभक्ति की प्रशंसा की गई है। वैष्णवों के लिये समानधर्मा वैष्णव के द्वारा किये गये, हत्या, चोरी, डाका, लूट, व्यभिचार, दुराचार आदि सभी अपराध क्षम्य हैं तभी तो परिकाल भक्त के चोरी और डाके से भी नारायण प्रसन्न हुए तथा प्रवचनापूर्वक जलपोत के स्वामी वणिक् से जहाज में लदी आधी सामग्री को लूट-खसोट तथा अन्यायाचरण द्वारा प्राप्त कर वैष्णवों में वितीर्ण कर देने के कारण वैष्णव ग्रन्थकार ने उसकी प्रशस्ति का ही गायन किया।

इसीप्रकार के मिथ्या तिलक धारण माहात्म्य, कण्ठी धारण माहात्म्य, नाम स्मरण, पूजा, जप व्रत, उपवासादि आचरण के माहात्म्य वैष्णवों ने कल्पित कर रखे हैं। जैसे वैष्णवों के भी अवान्तर शतशः भेद हैं, उसी प्रकार उनके तिलकादि बाह्य चिह्नों में भी भेद दृष्टिगोचर होता है। रामानन्दी वैष्णव जो तिलक लगाते हैं वह बगल में गोपीचन्दन, बीच में लाल, नीमावतों का दोनों पतली रेखा, बीच में काला बिन्दु, गौड बंगाली (चैतन्य के अनुयायी) कटारी के तुल्य और रामप्रसादी मत वाले दोनों चांदला रेखा के बीच में एक सफेद गोल टीका लगाते हैं। भक्तमाल में तो अनायास, अकारण और अनजान में ही तिलक लग जाने पर मनुष्य को विष्णुलोक की प्राप्ति सुनिश्चित बताई है, तब वैष्णवों के अनुसार यदि कोई प्रीति और विश्वासपूर्वक तिलक धारण करे तो उसके मोक्ष या वैकुण्ठ लाभ करने में क्या आश्चर्य हो सकता है? इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि जब छोटे से तिलक के करने से वैकुण्ठ में जावें तो सब मुख के ऊपर लेपन करने वा काला मुख करने वा शरीर पर लेपन करने से वैकुण्ठ से भी आगे सिधार जाते हैं वा नहीं? इससे ये बातें सब व्यर्थ हैं।''

□

१५ निर्गुण (सन्त) सम्प्रदाय समीक्षा

भारत में शास्त्रीय मर्यादा और मान्यता को स्वीकार कर चलने वाले शतशः मत-सम्प्रदाय आदि तो हैं ही, मध्यकाल में कुछ ऐसे मत-पन्थ भी चल पड़े जो शास्त्रादेश को अधिक महत्त्व नहीं देते। निर्गुण सन्त मत का प्रवर्तन तत्कालीन परिस्थितियों की ही देन कहा जायगा। उस युग में पुराकालीन वैदिक धर्म अत्यन्त परिवर्तित होकर रुद्रिप्रधान मौराण धर्म या ब्राह्मण धर्म का रूप ग्रहण कर चुका था। हिन्दू समाज विभिन्न जातियों में विभक्त होकर अपनी संगठन शक्ति खो बैठा। ब्राह्मण ने अन्य वर्णों के लोगों पर धार्मिक और आध्यात्मिक प्रभुत्व जमाये रखने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझी। तथाकथित दलित एवं निम्न वर्ग के लोगों पर सीमातीत अत्याचार होने लगे। इन लोगों का संस्कृत-अध्ययन और शास्त्र-अनुशीलन का अधिकार तो कई शताब्दियों-पूर्व ही छीन लिया गया था, अब तो वे सभी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक अधिकारों से वंचित कर दिये गए। धर्म के नाम पर मूर्तिपूजा, तीर्थ, व्रत तथा अन्य बाह्य कर्मकाण्डों का व्यापक प्रचलन हुआ। इन परिस्थितियों में धर्म का वास्तविक स्वरूप प्रतिपादन करने की आवश्यकता थी। यह कार्य उन सन्तों और साधुओं ने किया जो यद्यपि तथाकथित निम्न जातियों में ही उत्पन्न हुए थे, किन्तु जिनकी आध्यात्मिक साधनाजन्य अनुभूतियाँ प्रबल थीं।

अपने निराले क्रांतिकारी व्यक्तित्व के कारण कबीर, नानक, दादूदयाल, रैदास, मलूकदास, सुन्दरदास आदि इन मध्यकालीन सन्तों ने निर्गुण वाद का प्रचार किया। यद्यपि इनको विधिवत् धर्मग्रन्थों के अध्ययन करने एवं परम्परागत आध्यात्मिक साधना में दीक्षित होने का सामयिक परिस्थितियों के कारण अवसर ही नहीं मिला था, किन्तु ये लोग अपनी सहज अनुभूति और आडम्बरमुक्त विचारधारा को अनायास ही सर्वसामान्य तक लोकभाषा के माध्यम से पहुँचाने में समर्थ हुए। निश्चय ही स्वामी दयानन्द प्रतिपादित अनेक विचार कबीर, नानक, दादू आदि निर्गुणवादी सन्तों के विचारों से मेल खाते हैं,^१ परन्तु दयानन्द की विशेषता जो उन्हें सन्तमत से पृथक् करती है, वह है—उनका अगाध शास्त्रानुशीलन और शास्त्र के आधार पर ही अपने धर्मान्दोलन का प्रवर्तन एवं विस्तार। अतः दयानन्द

१. निर्गुण ईश्वरोपासना को स्वीकार करना, मूर्तिपूजा, अवतार, व्रत, तीर्थ खण्डन, पशुबलि विरोध, जन्मागत वर्ण व्यवस्था का खण्डन आदि बातें दोनों में समान हैं।

ने आर्यवर्तीय मत-मतान्तरों की आलोचना करते हुए कबीर, नानक आदि के उन मन्तव्यों को भी समीक्षात्मक दृष्टि से देखा है जो उनके अनुसार वैदिक विचारधारा से मेल नहीं खाते।

कालान्तर में निर्गुण सन्त मत भी अपनी क्रान्तदर्शी विचारधारा को खोकर गुरुडम, महन्ताई और मठीधीशों के पाखण्ड जाल में फंस गया। कबीर और नानक आदि ने जिस निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक ईश्वरीय सत्ता की उपासना का उपदेश दिया था, वह परवर्ती कबीर पंथ और अन्य निर्गुण सम्प्रदायों में सर्वथा लुप्त ही नहीं हुई, उसके स्थान पर गुरु को ही ईश्वर-स्थानीय मान लेने के कारण व्यक्ति-पूजा को बढ़ावा मिला और गुरु की गद्दी, उसकी खाट, पलंग आदि जड़ वस्तुएँ भी पूजी जाने लगीं।

दयानन्द जैसे जड़-पूजा के प्रबल विरोधी के लिये निर्गुणियों की इन अंध-धारणाओं तथा मूढ़ निष्ठाओं पर आघात करना सहज स्वाभाविक था। अतः सत्यार्थप्रकाश में शैव, वैष्णव, शाक्त आदि शास्त्रावलम्बी सम्प्रदायों की आलोचना के अनन्तर स्वामी जी ने शास्त्र-विमुख निर्गुणी सन्तों के मतों की समीक्षा लिखी। भारत में साधु-संन्यासी एक विशिष्ट वर्ग का निर्माण कर चुके हैं। जिस संन्यास आश्रम की संरचना मनुष्य को निवृत्ति मार्ग का पथिक बनाने की दृष्टि से की गई थी, जिससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह विविध ऐषणाओं से मुक्त होकर लोकोपकार तथा विश्वहित की सिद्धि के लिए सर्व संग परित्यागी परिव्राजक होकर यत्र-तत्र सर्वत्र भ्रमण करेगा तथा समाज को उद्बोधन देकर मार्ग प्रदर्शन करेगा, वही भारत का चतुर्थाश्रमी संन्यासी महान् संग्रहशील वृत्ति का होकर प्रवृत्ति-मार्गी गृहस्थियों को भी पीछे रखने लगा। ऐसे ही संसारी मनोवृत्तियों के साधुओं को दृष्टि में रखकर निम्न हास्यपूर्ण उक्तियों का प्रचलन हुआ है—

प्रश्न— ये महल, मकान, भवन आदि किसके हैं?

उत्तर— वैरागियों के।

प्रश्न— ये बच्चे किसके खेल रहे हैं?

उत्तर— ब्रह्मचारी जी के।

प्रश्न— ये वस्त्र किसके सूख रहे हैं?

उत्तर— नागा जी के।

दयानन्द के दशाब्दियों के देशाटन और भ्रमण में इन तथाकथित वैरागियों, साधुओं और बाबाओं को निकट से देखा था। वे इनके रहन-सहन, आचार-विचार तथा जीवनचर्या से भली-भांति परिचित थे। अतः उनके लिए लंगोटी लगाकर धूनी तपाने वाले, जटा बढ़ाकर सिद्धवेश धारण करने वाले, निरर्थक तीर्थों में भटकने वाले, भीख मांग कर खाने वाले, गृहस्थों के भोले भाले बालकों को जाल में फंसा कर अपनी शिष्य परम्परा को जीवित

रखने वाले, विद्या, स्वाध्याय, साधना से सर्वथा शून्य भारतीय साधुवर्ग का भण्डाफोड़ करना स्वाभाविक ही था। फलतः निर्गुण सन्त मतों की समीक्षा के पूर्व स्वामी जी ने खाखी, रुंखड़, सूंखड़, गोदड़िये, जमात वाले, सुतरे साईं, अकाली, कनफटे, जोगी, औघड़ आदि उन सैकड़ों जमातों और वर्गों में विभक्त साधुओं की खबर ली है जो साक्षात् मूर्खता, जड़ता, अकर्मण्यता, आलस्य एवं प्रमाद के अवतार हैं।

स्वामी दयानन्द की यह 'साधु-समालोचना' अत्यन्त रोचक शैली तथा मनोरंजक भाषा में निष्पन्न हुई है। प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं "जो किसी ने मूर्खता अविद्या की मूर्ति न देखी हो तो खाखी जी का दर्शन कर आवे। उनके पास जो कोई जाता है उसको बच्चा बच्ची कहते हैं चाहे वे खाखी जी के बाप माँ के समान क्यों न हों?" अविद्या, अज्ञान और मूर्खता की साक्षात् प्रतिमा इन खाखी जी में जड़ता, अहंकार तथा आत्मप्रशंसा के भाव कितनी प्रबल मात्रा में रहते हैं— यह बताने के लिये सत्यार्थप्रकाशकार ने एक रोचक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है जिसमें 'गणेशाय नमः' वाक्य को अशुद्ध बोलने वाला खाखी का एक चेला अनायास ही संस्कृत विद्या से अभिज्ञ एक पण्डित से टकरा गया, उसने कहा कि वह उक्त वाक्य का अशुद्ध उच्चारण कर रह है। जब इस चेले ने पण्डित की बात अपने गुरु से कही तो अविद्या के साक्षात् अवतार खाखी जी उस पण्डित पर बरस पड़े— तू मेरे चले को बहकाता है। देख, तू एक प्रकार का पाठ जानता है। हम तीन प्रकार का जानते हैं— "श्रीगनेसाजन्म, श्रीगनेसयान्ममें, श्री गनेसायनमें।" और अब उस खाखी को ही स्वर्ग के लोगों का बखान करते हुये चित्रित किया गया है। खाखी के शब्दों में "हम राज दिन नंगे रहते, धूनी तापते, गांजा चरस के सैकड़ों दम लगाते, तीन तीन लोटा भांग पीते, गांजा, भांग, धतूरा की पत्ती की भाजी बना खाते, संखिया और अफीम भी चट निगल जाते, नशा में गर्क रात दिन बेगम रहते दुनिया की कुछ नहीं समझते, भीख मांगकर टिक्कड़ बना खाते, रात भर ऐसी खाँसी उठती जो पास में सोवे उसको भी कभी नींद न आवे, इत्यादि सिद्धियाँ और साधूपन हममें है।"

इन खाखी बाबा के शास्त्र-अध्ययन का तो यह कमाल है कि इन्होंने "घोती वाले पण्डित से कलंगी वाले अक्खर का क्या नाम है, पूछते-पूछते अठारह अध्याय गीता रगड़ मारी और गुरु एक भी नहीं किया।" ऐसे विद्या के शत्रुओं का दैनन्दिन कार्य है— नशा, प्रमाद, लड़ना, खाना, सोना, झांझ पीटना, घंटा, घड़ियाल, शंख बजाना, धूनी चिता रखनी, नहाना, धोना, सब दिशाओं में व्यर्थ घूमते रहना। इन वैरागी साधुओं के भी विविध सम्प्रदाय और सम्प्रदायों के पृथक्-पृथक् मंत्र हैं। यथा नाथ लोग 'नमः शिवाय' का उच्चारण करते हैं। खाखियों के उपास्य नृसिंह हैं अतः वे 'नृसिंहाम्य नमः' कहते हैं। रामभक्त साधु 'श्री रामचन्द्राय नमः' बोलते हैं। कृष्णोपासक वैरागी वैष्णव जो अधिकांश में गोकुल, मथुरा,

ब्रज तथा बंगाल में पाये जाते हैं, श्री राधाकृष्णाभ्यां नमः' अथवा द्वादशाक्षरी मंत्र 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' का जाप करते हैं। बंगाली वैष्णवों में 'गोविन्दाय नमः' का प्रचलन है।

साधुओं का धूनी तापना व्यर्थ देह दण्डन का नमूना है। इसका एक आर्थिक पहलू भी है। यदि सहस्रों साधु धूनी तापना छोड़ दें तो लाखों रुपये की लकड़ी तथा ईंधन की बचत हो सकती है। परन्तु इन विद्या के शत्रुओं को समझाना भी कठिन है। यदि जटा बढ़ाने, राख लगाने और तिलक करने से ही कोई तपस्वी हो जाय तब तो स्वर्ग और अपवर्ग का मार्ग सभी के लिये सहज और सुगम हो जायेगा।

कबीर पन्थ की समीक्षा

जैसा कि हम इस प्रकरण के प्रारम्भ में कह चुके हैं, कबीर एक क्रांतिकारी व्यक्तित्व लेकर धर्म-संशोधन तथा समाज-सुधार के महत् कार्य में प्रवृत्त हुए थे। उन्होंने जिस तीव्र और आक्रोशमयी वाणी में मूर्तिपूजा, अवतारवाद, व्रत, तीर्थ-यात्रा, उपवास, धर्म के नाम पर प्रचलित पशुबलि आदि का खण्डन किया था, वह उनके समर्थ, शक्तिशाली एवं निर्भीक व्यक्तित्व का परिचायक था। परन्तु कबीर की मृत्यु के पश्चात् कबीर पन्थ का जिस रूप में विकास हुआ था वह अन्य सम्प्रदायों की ही भाँति विकृतियों, अंध धारणाओं और मूढ़ विश्वासों का पुंज बनकर रह गया। कबीर पन्थ की निम्न बिन्दुओं के आधार पर सत्यार्थप्रकाश में समीक्षा की गई है।

१. कबीर के जन्म और मरण के सम्बन्ध में नाना प्रकार के अंधविश्वास उनके सम्प्रदाय में प्रचलित किये गये हैं— यथा कबीर फूलों से उत्पन्न हुए और अन्त में भी फूल हो गये।

२. कबीर अनादि सत्ता के प्रतीक हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु और महादेव से भी प्राचीन हैं।

३. जिस बात को वेद, पुराणादि शास्त्र नहीं जानते, उन्हें कबीर जानते हैं।

४. कबीर ने ही सत्य मार्ग का प्रवर्तन किया। 'सत्यनाम कबीर' मंत्र का जप ही सकलार्थ सिद्ध का कारण है।

कबीर पन्थ की आलोचना में श्री महाराज ने कहा कि यह तो सत्य है कि कबीर ने पाषाण-पूजा का खण्डन किया किन्तु उनके शिष्य गण तो अपने गुरु के पलंग, गद्दी, किये, खड़ाऊँ आदि की पूजा में प्रवृत्त हो गये। क्या इन जड़ वस्तुओं की पूजा मूर्तिपूजा से किसी प्रकार कम है? कबीर के जन्म और मरण के सम्बन्ध में कल्पनापूर्ण बातों का मानना व्यर्थ और अज्ञान का परिचायक है। यह तो एक सर्वविदित तथ्य है कि कबीर सर्वांश में अपठित, अशिक्षित तथा शास्त्र-विद्या-शून्य थे। पुनः वेद शास्त्रों और पण्डित

वर्ग की निंदा में क्या उनमें विद्यमान यह हीनभावना तो काम नहीं कर रही थी कि वे स्वयं अशिक्षित हैं तथा तत्कालीन पण्डितों ने निम्न कुलोत्पन्न होने के कारण उन्हें शास्त्राध्ययन के अधिकार से वंचित कर दिया है? यदि यह सत्य है तो कबीर के शास्त्र-खण्डन और पण्डितनिन्दा के उद्गारों की मीमांसा भी इसी मनोवैज्ञानिक संदर्भ में की जानी चाहिए। कबीर ने जिस योग का प्रतिपादन किया है वह भी हठ योग और नाथपन्थ में प्रचलित साधना-प्रणाली की एक विचित्र खिचड़ी-सी है।

कबीर ने जिन कण्ठी, तिलक आदि बाह्य चिह्नों का खण्डन किया, कालान्तर में उनके सम्प्रदाय में भी बछी के आकार का तिलक और चंदन की लकड़ी की कण्ठी धारण करने की परिपाटी प्रचलित हो गई। कालान्तर में प्रचलित कबीर पन्थ ने ही कबीर के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व और विचारों पर हरताल फेरने का कार्य किया।

गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित खालसा (सिक्ख) पन्थ

मध्य काल में गुरु नानक का उदय और उनके द्वारा निर्गुण मत की समन्वयकारी शिक्षा का प्रचार एक युगान्तरकारी घटना है। गुरु नानक एक उच्च कोटि के आध्यात्मिक भावापन्न पुरुष थे, जिन्होंने परमेश्वर की निर्गुण, निराकार सत्ता का ही प्रतिपादन किया। उनमें आदर्श साधु, तपस्वी एवं महात्मा के गुण थे। कालान्तर में, युग की परिस्थितियों के कारण नानक का यह ईश्वरभक्ति-प्रवण मत भी 'सिक्ख' नामक एक सुसंगठित युद्धप्रिय जाति के रूप में परिणत हो गया। मुसलमान शासकों द्वारा किये गये धार्मिक अत्याचार ही इसका कारण बने। गुरु तेग बहादुर का बलिदान, गुरु गोविन्दसिंह के दो पुत्रों को दीवार में चुनवा कर शहीद करना, बंदा वैरागी का क्रूर वध आदि सिक्ख इतिहास की वे कलुषापूर्ण किन्तु रोमांचक घटनायें हैं जिनके कारण अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह ने हिन्दू धर्म और सिक्ख जाति के स्वत्वों की रक्षा करने का बीड़ा उठाया था। उन्होंने सिक्खों को संगठित ही नहीं किया, मुगल-शासकों से मुकाबला करने का उनमें असीम साहस भी भरा। यही कारण है कि सिक्ख गुरुओं ने सदा से ही अपने आपको विराट् आर्य (हिन्दू) धर्म का अंग स्वीकार करते हुए हिन्दू हितों की रक्षा के लिये बड़े से बड़ा बलिदान करने में भी कभी संकोच नहीं किया।

सत्यार्थप्रकाशकार सिक्ख मत (खालसा) के आदि प्रवर्तक गुरु नानक के उदात्त आशय और उनके परिवर्ती गुरुओं की व्यापक भावनाओं से पूर्ण परिचित थे। अतः उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों में गुरु नानक द्वारा किये गये कर्मों का मूल्यांकन करते हुए लिखा—“यह सच है कि जिस समय नानक जी पंजाब में हुए थे, उस समय पंजाब संस्कृत विद्या से सर्वथा रहित, मुसलमानों से पीड़ित था। उस समय उन्होंने कुछ लोगों को बचाया।” इसी प्रकार स्वामी जी ने गुरु गोविन्दसिंह की वीरता, बुद्धिमत्ता आदि की मुक्त कण्ठ से

प्रशंसा की है। परन्तु जब समयान्तर में सिक्ख-विचारधारा ने एक संकीर्ण मतवाद का रूप धारण कर लिया तथा उसकी शिक्षायें वैदिक विचारधारा का विरोधी रूप लेने लगीं तो स्वामी दयानन्द के लिए सिक्ख मत की समालोचना भी अपरिहार्य हो गई। अपनी समीक्षा के प्रारम्भ में ही श्री महाराज नानक देव के उच्चाशय की प्रशंसा तथा साथ ही उनमें संस्कृत विद्या के अभाव की चर्चा करते हुए लिखते हैं— “नानक जी का आशय तो अच्छा था परन्तु विद्या कुछ भी नहीं थी।” स्वामी जी को इस बात का भी खेद है कि गुरु नानक वेदादिशास्त्रों और संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ थे। गुरु ग्रन्थ में नानक की जिन वाणियों का संग्रह किया है उसे देखने से इस कथन की सत्यता का आभास होता है। जप जी पौड़ी १ का प्रसिद्ध वचन ‘सत्यार्थप्रकाश’ में उद्धृत किया गया है— “ओं सत्यनाम कर्ता पुरुष निर्भो निर्वेर अकाल मूर्त अजोनि सहभं” आदि। इस वाक्य में ईश्वर को ओंकार, सत्यनाम, कर्ता, पुरुष, निर्भय, निर्वेर, अकाल मूर्ति, अयोनि, स्वयंभू आदि विशेषणों से अभिहित किया है। स्वामी जी का कथन है कि गुरु नानक के लिए उचित तो यही था कि वे सहज लोकभाषा में ही अपने विचारों को व्यक्त करते और अनावश्यक रूप से संस्कृत भाषा (जिससे वे पूर्णतया अनभिज्ञ थे) में स्तोत्रादि की रचना नहीं करते। नानक देव की रचनाओं में समकालीन निर्गुण सन्तों की भाँति वेदशास्त्र-निंदा के भी कुछ उद्धरण पाये जाते हैं। स्वामी जी के आक्रोश का एक कारण यह भी बना। उनकी सम्मति में उचित तो यह होता कि नानक देव वेदों का ही सम्मान कर उनकी शिक्षाओं का प्रचार करते और नवीन सम्प्रदाय के प्रवर्तन का विचार त्याग देते, परन्तु ऐसा होना कठिन था। एक दृष्टि से देखा जाए तो गुरु नानक में नवीन मतप्रवर्तन की कोई महत्त्वाकांक्षा भी विद्यमान नहीं थी यह बात केवल गुरु नानक के लिए ही नहीं, अपितु धर्म संशोधक वर्ग के सभी महापुरुषों के लिये चरितार्थ होती है। कबीर, नानक तथा दादू आदि सन्तों ने व्यक्तिः यह कभी नहीं चाहा होगा कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके नाम पर नये मत का प्रचलन हो तथा उनके अनुयायी उनकी शिक्षाओं को भुलाकर उन्हें ही परमात्मा का स्थानापन्न मान पूजने लग जायें। गुरु नानक के साथ भी ऐसा ही हुआ। अविद्वानों में यह चाल है कि मरे पीछे अपने गुरु को सिद्ध बना देते हैं तथा उनका माहात्म्य कल्पित कर ईश्वर के तुल्य उनकी प्रतिष्ठा करने लगते हैं।

जिस प्रकार की मिथ्या चमत्कारपूर्ण बातें कबीर आदि के साथ जुड़ी हुई हैं, गुरु नानक के साथ भी जोड़ दी गई। नानक का ब्रह्मा के साथ संवाद कल्पित किया गया तथा अन्य प्रकार की अतिशयोक्तिपूर्ण बातों के तूमार बाँधे गये। स्वामी दयानन्द की आलोचना के पक्षपातशून्य और पूर्वाग्रह-मुक्त होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वे सम्प्रदाय-प्रवर्तन और उसके वृद्धिगत होने के लिए उस महापुरुष को उत्तरदायी नहीं ठहराते जिसके नाम

से सम्प्रदाय चलाया जाता है, अपितु वे उनके अनुयायियों को दोषी मानते हैं जो स्वार्थ सिद्धि के लिए अपने गुरु और मार्गदर्शक के जीवन के साथ नाना अलौकिक चमत्कारों को जोड़ देते हैं। इसी कारण स्वामी दयानन्द ने लिखा— “इसमें इनके चेलों का दोष है, नानक जी का नहीं।” कालान्तर में सिक्खों में उदासी और निर्मल आदि साधुओं के नाना भेद चल पड़े। नानक के पुत्र श्रीचन्द्र से ही उदासी सम्प्रदाय चला। गुरु रामदास से निर्मल साधुओं की परम्परा प्रचलित हुई।

गुरु गोविन्दसिंह के प्रतापी व्यक्तित्व और महान् कृतित्व ने सिक्खों के इतिहास को एक नवीन दिशा प्रदान की। गोविन्दसिंह ने गुरुवाणियों का संग्रह किया, कबीर आदि अन्य निर्गुणियों की वाणी भी उसमें समाविष्ट की तथा सिक्खों के लिये अत्यन्त प्रामाणिक तथा गुरु स्थानीय ‘गुरु ग्रन्थ साहब’ का सम्पादन कर उसे अन्तिम रूप प्रदान किया। गुरु गोविन्दसिंह एक शलाका पुरुष थे। वह इस बात के प्रबल विरोधी थे कि लोग उन्हें परमेश्वर या उसका अवतार कहें। वे तो अपने-आपको परम पुरुष का दास मात्र कहते हैं जो ईश्वरीय लीला को देखने के लिये संसार में आये हैं। गोविन्दसिंह ने संकट काल में निष्प्राण हिन्दू जाति को जिस प्रकार संगठित कर सबल बनाया, यह इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ है। गुरु गोविन्दसिंह ने ही युग की आवश्यकताओं को देख कर प्रत्येक सिक्ख के लिये केश, कंधा, कड़ा, कच्छ और कटार रखने का विधान किया जो ‘पंच ककार’ कहलाये। इन वस्तुओं की सामयिक उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता किंतु अब इन युद्धकालीन आपद्धर्मों को शाश्वत धर्म का अंग मानकर स्वीकार करना कदापि उचित नहीं है।

सिक्ख मत में मूर्तिपूजा को तो स्थान नहीं मिला, किन्तु उसके स्थान पर गुरु ग्रन्थ की उसी प्रकार आडम्बरपूर्ण पूजा, आरती, भोग आदि प्रचलित हैं। मंदिरों की मूर्तियों की भाँति गुरुद्वारों में भी ग्रन्थ को भेंट-पूजा समर्पित की जाती है, ग्रन्थ को चंवर डुलाये जाते हैं तथा मूर्तिपूजा का सारा आडम्बर यथावत् होता ही है। स्वामी जी की आलोचना कितनी निरासक्त तथा आग्रहमुक्त एवं बेलाग होती थी, यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि उन्होंने सिक्ख समाज में खान-पान के नाना व्यर्थ बखेड़ों के न होने को प्रशंसा की दृष्टि से देखा है तथा आशा की है कि यदि ये लोग इसी प्रकार विषयासक्ति तथा दुरभिमान को भी हटाकर वेद मत की उन्नति करें तो बहुत अच्छी बात है।

१.

जो नर मोहि ईश्वर उच्चरहि।

ते पर घोर नरक मंह परहीं।।

हम हैं परम पुरुष के दासा।

आये देखने जगत् तमासा।।

दादूपन्थ-समीक्षण

राजस्थान में दादू पन्थ का पर्याप्त प्रचलन है। इस मत के प्रवर्तक दादू का जन्म अहमदाबाद में धुनिया जाति में हुआ। इनका कार्यक्षेत्र जयपुर के आस-पास का प्रदेश रहा। इनका निधन फुलेरा के निकट नरायना नामक ग्राम में हुआ जहाँ दादू जी की समाधि और इस सम्प्रदाय की मुख्य गद्दी है। दादू वाणी के अध्ययन से विदित होता है कि ये एक निरीह, सीधे-सादे सन्तपुरुष थे। यद्यपि इन्होंने भी कबीर की ही भाँति मूर्तिपूजा, अवतार आदि का निषेध किया, किन्तु इसके खण्डन में आक्रोश, तीव्रता तथा कठोरता के स्थान पर मृदुता एवं कोमलता है। कुछ भी हो, दादू भी सम्प्रदाय-प्रवर्तक माने गये तथा रज्जब, सुन्दरदास आदि उनके शिष्यों ने दादू वाणी का लोक में व्यापक प्रचार किया। स्वामी जी ने हास्यपूर्ण ढंग से लिखा है— “ईश्वर की सृष्टि की विचित्र लीला है कि दादू जी भी पुजाने लग गये।” दादू ने राम को परमब्रह्म का वाचक माना, परन्तु उनके अनुयायियों ने दादू और राम को अभिन्न मान कर “दादू राम दादू राम” जपने का उपदेश दिया। राजस्थान में दादूपंथी साधु यत्र तत्र अपने मन्तव्यों का प्रचार करते हैं। उनमें कुछ पठित विद्वान् तथा आयुर्वेद में निष्णात वैद्य भी हैं। दादूपंथी साधु भी कालान्तर में संग्रही हो गये। अपने मठों और गदियों में उन्होंने अपार धन का संचय कर रक्खा है। राजस्थान में इनके बारे में निम्न उक्ति प्रचलित है—

“जो थने चइजे धन और माया।

दादूपंथी होजा रे भाया।।”

हे भाई, यदि तुम्हें धन और सम्पत्ति की चाहना है तो तुम दादूपंथी बन जाओ (तुम्हें यथेच्छ धन-वैभव की प्राप्ति होगी।।”

राम स्नेही मत की आलोचना

अपने शाहपुरा-प्रवासकाल में स्वामी दयानन्द को एक अन्य सम्प्रदाय ‘राम स्नेही’ मत से परिचित होने का अवसर मिला था। इसकी मुख्य गद्दी शाहपुरा में ही है। इस मत का परिचायक विश्लेषण करते हुए स्वामी जी ने उसकी वास्तविक आलोचना की है। राम स्नेही मत का मूल प्रवर्तक रामचरण नामक एक वैश्य था जो जयपुर राज्य का निवासी था। इसने किसी साधु से वैराग्य की दीक्षा ली और अपना स्वतन्त्र मत चलाया। ‘राम स्नेही’ जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, राम को अपना आराध्य मानते हैं, परन्तु इनके राम दाशरथि राम नहीं हैं। परात्पर निर्गुण ब्रह्म को ही ये ‘राम’ के नाम से अभिहित करते हैं। परन्तु इन्होंने सम्पूर्ण पुरुषार्थ को तिलांजलि देकर मात्र राम मान लिया है। स्वामी जी ने नाम स्मरण के वास्तविक रूप का उल्लेख करते हुए उसी समुल्लास में

स्पष्ट कर दिया है कि केवल जिहा से ईश्वर के नाम को रटना ही पर्याप्त नहीं है। नाम स्मरण के साथ-साथ अर्थ की भावना और चिन्तन भी आवश्यक है तथा तदनुसार अपने आपको बनाने का प्रयत्न ही नाम-जप का प्रमुख उद्देश्य है। इसके अभाव में मात्र नाम की आवृत्ति व्यर्थ है।

यह तो ठीक है कि रामस्नेही मूर्तिपूजा में आस्था प्रदर्शित नहीं करते किन्तु इनके गुरु और महन्त स्वयं ही शिष्यों के पूजा-पात्र बन कर सिद्धाई और गुरुडम को प्रोत्साहित करते हैं। गुरु पूजा और गुरु के प्रति श्रद्धा इस सम्प्रदाय में अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई हैं। गुरु के चरणों का स्त्री-भक्तों द्वारा स्पर्श, उनकी साष्टांग वन्दना तथा गुरु का उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण आदि राम स्नेही मत के कलंक हैं। व्यभिचार और दुराचार का प्रचलन भी राम-स्नेहियों में कम नहीं है। चेलियों के साथ इनकी दुराचार कथायें राजस्थान में सर्वत्र प्रचलित हैं। 'राम जी' को 'राम की' के बिना आनन्द नहीं आता 'सत्यार्थ प्रकाश' की यह आलोचनापूर्ण उक्ति यथार्थ ही है।

रामस्नेही सम्प्रदाय के आद्यप्रवर्तक रामचरण तथा उसके शिष्यों ने राजस्थानी भाषा में विभिन्न पद्य लिखे हैं। इन्हीं वाणियों का संग्रह इनके मान्य ग्रन्थ हैं। इन वाणियों में सर्वत्र नाम की महत्ता तथा राम-नाम स्मरण का माहात्म्य ही वर्णित हुआ है। अपठित एवं शास्त्रानाभिज्ञ व्यक्तियों से यह अपेक्षा भी नहीं की जा सकती कि वे कुछ अधिक सूक्ष्म तथा दार्शनिक विचारों से पूर्ण विचार व्यक्त करेंगे। मिथ्या नाम माहात्म्य ने भारतवासियों को कदर्य, अकर्मण्य तथा पुरुषार्थहीन ही बनाया। लोग यह समझ बैठे कि भगवन्नाम-स्मरण ही अखिल पाप-ताप का निवारण करने में समर्थ है तथा भवसागर पार करने की एकमात्र नौका है। वस्तुतः नाम-स्मरण के साथ तदनुकूल आचरण भी आवश्यक है। जित्त प्रकार 'शक्कर' कहने से मुँह मीठा नहीं होता उसी प्रकार 'राम राम' कहने से भी कुछ नहीं होता।

राम स्नेहियों में अन्य दुर्गुण एवं दोष भी प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। उच्छिष्ट भक्षण कराने तथा स्त्रियों में विशेष आसक्ति के कारण इस सम्प्रदाय के साधु अत्यन्त बदनाम हुए हैं। इन्हें व्यंग्यात्मक भाषा में राम स्नेही स्थान पर 'रांड स्नेही' कह कर पुकारते हैं।^१

राम स्नेहियों की दो शाखायें हैं। (१) रामचरण द्वारा प्रवर्तित शाहपुरा की गद्दी। इसके सम्बन्ध में ऊपर विस्तार से विचार किया जा चुका है। (२) खेड़ापा (मारवाड़) की गद्दी, जिसका संस्थापक रामदास नामक एक चमार था। इसके दो स्त्रियाँ थीं। यह कभी अघोरी

१. द्रष्टव्य— 'चाँद' का मारवाड़ी अंक।

की भाँति रह कर कुत्तों के साथ खाता रहा, पुनः कूण्डापन्थी^१ हो गया। पीछे रामदेव का पुजारी कामड़िया बन गया।^२ अन्ततः चमारों के गुरु से इनका सम्पर्क हुआ और उसने खेड़ापा नाम ग्राम में निवास कर अपनी गद्दी स्थापित की। राम स्नेही साधु गुलाबी रंग के पतले वस्त्र धारण करते हैं, संन्यासियों की भाँति शिखा नहीं कटवाते। भीख माँग कर भोजन करते हैं। ब्राह्मण से लेकर शूद्र वर्ण पर्यन्त सभी लोगों को शिष्य बनाते हैं। 'राम' नाम ही इनका महामंत्र है, इसे ये 'सूक्ष्म वेद' कहते हैं। गुरु इनके लिए परमेश्वर से भी बड़ कर हैं। साधुओं के चरण धोकर उस जल को भी पी जाते हैं। रामदास और हररामदास आदि की वाणियों को वेद से भी अधिक महत्त्व देते हैं। विद्वत्ता और पाण्डित्य को निंदा की दृष्टि से देखते हैं तथा राम-नाम-स्मरण को ही जीवन की सार्थकता समझते हैं। गुरुसेवा ही परम धर्म है। स्त्रियों के लिये पतिसेवा पाप तथा गुरुसेवा पुण्य बताया गया है।

सम्प्रति रामस्नेही सम्प्रदाय में कुछ संस्कृतपठित साधु और आचार्य भी हैं। स्वामी रामकिशोर जी जो शाहपुरा गद्दी के मठाधीश हैं, बहुश्रुत एवं बहुपठित हैं।^३ इन्होंने धर्म, प्रचारार्थ विदेश यात्रा भी की है। सामान्य लोगों के समक्ष ये नये आचार्य सर्वसम्मत उपदेश देते हैं और साम्प्रदायिक धारणाओं की अभिव्यक्ति में संकोच करते हैं।

सन्तमत समीक्षा के ग्रन्थ

१. पाखण्डमत खण्डन कुठार— सत्यानन्द सरस्वती

२. कबीर मत गर्व मर्दन— श्री राम आर्य

सिख मत समीक्षा— इस प्रसंग में स्वामी स्वतंत्रानन्द जी तथा स्वामी अमृतानन्द जी (ताराचंद वानप्रस्थी) के ग्रन्थ पठनीय हैं। राम स्नेही की आलोचना के लिये चांद का मारवाड़ी अंक (१९२९ में पं. चतुरसेन शास्त्री द्वारा सम्पादित) पठनीय है। □

१. कूण्डापन्थी भक्ष्याभक्ष्य के विचार से हीन होते हैं। वे एक मिट्टी के पात्र में ही सब-कुछ रख कर खा जते हैं।

२. रामदेव तुंवर जाति के क्षत्रिय थे। इनके लोकोपकार तथा चमत्कार की अनेक घटनायें प्रसिद्ध हैं। इन्होंने रुणेचा (रामदेवरा) (जिला जैसलमेर) ग्राम में जीवित समाधि ली। ये राजस्थान में देवता के रूप में पूजे जाते हैं।

३. अब इनका निधन हो गया है।

१६ वल्लभ सम्प्रदाय (गोकुलिया गुसाईं) समीक्षा

जिन वैष्णव आचार्यों ने शंकराचार्य के दार्शनिक मत अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए विष्णुपूजा का प्रचार किया तथा ज्ञान के विरोध में भक्ति के महत्त्व की स्थापना की, उनमें वल्लभाचार्य का नाम अन्यतम है। अपने पूर्ववर्ती रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि अन्य वैष्णव सम्प्रदाय प्रवर्तकों की भाँति वल्लभ ने भी अपने मत तथा सिद्धांत की पुष्टि के लिए वेदान्त सूत्र, उपनिषद् तथा गीता (प्रस्थानत्रयी) पर भाष्य रचना की। उनका वेदान्त दर्शन भाष्य अणुभाष्य के नाम से विख्यात है। वल्लभ ने भागवत पुराण पर 'संजीवनी टीका' भी लिखी है। वल्लभ को पुष्टि मार्ग का प्रवर्तक कहा जाता है, यद्यपि वे मूलतः सम्प्रदाय प्रवर्तक नहीं हैं। विष्णु स्वामी ने उनसे पूर्व ही शुद्धाद्वैत दर्शन का आधार लेकर रुद्र सम्प्रदाय स्थापित किया था। वल्लभ इन्हीं विष्णु स्वामी के शिष्य थे।

वल्लभाचार्य का जन्म आंध्रप्रदेश में हुआ। उनके पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट था। ये तैलंग ब्राह्मण थे। काशी में वल्लभ ने शिक्षा ग्रहण की, किन्तु उन्होंने अपने मत का प्रचार करने के लिये ब्रजदेश को अधिक उपयुक्त समझा। ब्रजमण्डल उन दिनों में सर्वथा विचारहित तथा भ्रान्त धारणाओं में परिपूर्ण था। ऐसे प्रदेश में वल्लभ को अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने में विशेष सुविधा हुई। वल्लभाचार्य ने गोवर्धन के निकट श्रीनाथ जी के मंदिर की स्थापना की तथा अपनी सम्प्रदाय-पद्धति के अनुसार उसमें बाल कृष्ण की मूर्ति स्थापित कर उसकी आडम्बरपूर्ण सेवा-पूजा की व्यवस्था की। वल्लभाचार्य गृहस्थ थे। उनके गो. डिट्ठलनाथ नामक पुत्र हुए। वल्लभ की मृत्यु के पश्चात् डिट्ठलनाथ ही सम्प्रदाय की गद्दी के स्वामी बने। वल्लभाचार्य के काल में ही सूरदास आदि अष्टछाप के लब्धप्रतिष्ठ हिन्दी कवियों ने श्रीनाथ जी के मंदिर को अपना केन्द्र बना कर काव्य-रचना की। यह काव्य श्रृंगार रस से परिपूर्ण है जिसमें श्रीकृष्ण और राधा तथा गोपियों के जार (परकीया) भाव को प्रधानता दी गई है।

जब श्रीनाथ जी के मंदिर को औरंगजेब ने आक्रांत किया तो वहाँ की श्रीकृष्ण-प्रतिमा को उठाकर राजस्थान में उदयपुर के निकट एक स्थान पर मंदिर बना कर प्रतिष्ठित किया गया। जो कालान्तर में नाथद्वारा के नाम से विख्यात हुआ। इसी प्रकार की अन्यान्य कृष्ण-प्रतिमायें कांकरोली (द्वारकाधीश), कोटा (मथुराधीश) तथा चौपासनी (जोधपुर) में भी स्थापित हुईं। इन मंदिरों में पुष्टि मार्ग की साम्प्रदायिक पद्धति के अनुसार भगवान्

की मूर्तियों के राग भोग की अत्यन्त स्थूल एवं आडम्बरपूर्ण व्यवस्था है। लाखों रुपयों के खाद्य पदार्थ प्रसाद रूप में तैयार किये जाकर श्री नाथजी को अर्पित किये जाते हैं। मनों घृत, शक्कर, अन्न, दूध, दही आदि पौष्टिक पदार्थों का प्रसाद रूप में दुरुपयोग देख कर स्वामी दयानन्द की इस उक्ति की सार्थकता ज्ञात होती है कि मंदिरों में करोड़ों रुपये के अपव्यय से देश की दरिद्रता की वृद्धि होती है तथा मंदिराश्रित लोग आलसी एवं प्रमादी होकर पुरुषार्थहीन हो जाते हैं।

नाथ द्वारा तथा वल्लभ सम्प्रदाय के अन्य मंदिरों की व्यवस्था में लाखों रुपयों का दुरुपयोग होते देखकर विचारशील लोगों में यह धारण बनती है कि क्या मठ-मंदिरों में विद्यमान करोड़ों रुपयों की पूँजी और सम्पत्ति को राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में व्यय नहीं किया जा सकता? धर्म के नाम पर किसी को क्या अधिकार है कि एक ओर जब देश के करोड़ों निवासी नंगे और भूखे रहते हों, स्वदेश के लाखों दुधमुँहे लालों को भरपेट भोजन भी नसीब न होता हो, उस समय मठों और धर्म संस्थानों में पाषाण प्रतिमाओं की पूजा-अर्चना में लाखों रुपये व्यर्थ व्यय किये जायें। नाथद्वारा में जितना प्रसाद श्रीनाथ जी को अर्पित किया जाता है वह स्वल्प काल पश्चात् ही मंदिर के कर्मचारियों को वेतन रूप में वितरित कर दिया जाता है, जिसे वे खुले बाजार में बेच कर टके सीधे करते हैं।

वल्लभ सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त

जैसा कि हम देश चुके हैं, वल्लभ ने भी अन्य वैष्णव सम्प्रदायाचार्यों की भाँति शंकराचार्य के ज्ञानाश्रित अद्वैतवाद का खण्डन किया है, परन्तु वे शंकर की ही भाँति जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता को प्रकारान्तर से स्वीकार ही करते हैं। उन्होंने जीव को ब्रह्म का अंश माना वैसे ही जैसे अग्नि-स्फुलिंग अग्नि से भिन्न नहीं होता। वल्लभ के सिद्धान्त में माया जो कोई स्थान नहीं है अतः उन्होंने अपने अद्वैतवाद को शुद्धाद्वैत कहना उपयुक्त समझा। वल्लभ ने कृष्ण को ही साक्षात् ब्रह्म कहा है। कृष्णलीला हेतु संसार में अवतार धारण करते हैं। उनकी लीलाओं का प्रयोजन लीला के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि वे स्वयं तो आत्माराम, आत्मरत और आत्मक्रीड़ हैं। राधाकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है। गोप ओर गोपियाँ स्वयं उन्हीं से प्रसूत, उन्हीं की लीला का प्रसारण करते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में बाल-कृष्ण ही पूज्य, आराध्य और अर्चनीय हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार गोप बालों की कृष्ण के प्रति सख्यभाव की भक्ति तथा नन्द यशोदा की वात्सल्य भक्ति आदर्श एवं अनुकरणीय है। गोपियों और राधा का माधुर्य भाव और कान्तासक्ति भी कालान्तर में वल्लभ सम्प्रदाय में स्थान प्राप्त कर सके।

वल्लभ के अनुसार कृष्ण अपने निज लोक गोलोक में शाश्वत लीलायें करते हैं।

भारत का गोकुल, वृन्दावन और ब्रज उसी शाश्वत गोलोक की प्रतिकृति हैं जहां द्वापर युग में कृष्ण ने अवतार धारण कर विभिन्न मानवी लीलायें कीं। जब वल्लभ सम्प्रदाय में माधुर्य भाव को प्रश्रय मिला तो मंदिरों में रासलीलायें होने लगीं। कृष्ण और गोपियों का जार भाव का प्रेम उनके भक्तों में लोकप्रियता अर्जित करने लगा। लोग अपने आप को ब्रज की गोपी मानकर कृष्ण के विरह और प्रेम का अनुभव करने लगे। रासलीलाओं और जार भाव के प्रेम का परिणाम हुआ— वल्लभ सम्प्रदाय में दुराचार की वृद्धि। गोकुलिये गुसांई अपने आपको साक्षात् कृष्ण का रूप और भक्त स्त्रियों को गोपियों का अवतार समझकर उनके साथ रास केलि करने में किंचित् मात्र भी संकोच नहीं करते थे। 'तन-मन-धन श्री गोसांई जी को अर्पण' उनका सरल मंत्र बन गया। इस प्रकार इस सम्प्रदाय के अनाचारी गोस्वामियों ने भक्तजनों के धन एवं वैभव का ही हरण नहीं किया उनके दाम्पत्य जीवन को भी विशृंखलित कर दिया। जब गुजरात और बम्बई में महाराज नामधारी इन गुसांइयों की अनाचार कहानियाँ जन व्यापी हो गईं और पत्र पत्रिकाओं में उनके दुराचार एवं व्यभिचार के अनेक किस्से प्रकाशित हुए तो बम्बई के वल्लभाचार्य मंदिर के महन्त जीवन जी महाराज ने एक पत्र पर मानहानि का अभियोग चलाया। यह महाराज लाइबल केस के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस मुकद्दमे की सुनवाई के दौरान जो गवाहियाँ हुईं उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों के काले कारनामों तथा व्यभिचार-कथाओं का पर्दा फाश कर दिया। स्वामी ब्लाक्टाणन्द नामक एक व्यक्ति ने जो स्वयं अपने पूर्व जीवन में इस सम्प्रदाय का अनुयायी रह कर महाराजों के दुष्चरित्रों की गाथाओं से पूर्ण अवगत हो चुका था, वल्लभ कुल चरित्र दर्पण, वल्लभ कुल छल-कपट दर्पण आदि पुस्तकें लिखीं जिनसे महाराजों की चरित्रहीनता का भंडा-फोड़ हुआ।

जिस समय स्वामी दयानन्द ने बम्बई में प्रथम बार पर्दापण किया, उस समय वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के लोगों में भयंकर खलबली मची हुई थी। महाराजों की चरित्रहीनता से उनके अनेक विचारशील अनुयायी दुःखी थे। इधर वल्लभ सम्प्रदाय के इन दुराचारपूर्ण कारनामों का तीव्र खण्डन करने की आवश्यकता भी सभी लोग अनुभव करते थे। अतः स्वामी जी के बम्बई-आगमन के साथ ही इस सम्प्रदाय के विचारों, सिद्धान्तों और कार्यों के सम्बन्ध में उनके तीव्र खण्डनात्मक व्याख्यान आरम्भ हो गये। स्वामी जी को भी वल्लभ मत की विचारधारा को निकट से देखने और परखने का अवसर मिला। इस बीच उन्होंने वेदविरुद्ध मतखण्डन (वल्लभ मत खण्डन) पुस्तक लिखकर वल्लभ प्रतिपादित बातों का शास्त्रीय ढंग से खण्डन किया। वल्लभ सम्प्रदाय गुजराती भाषी भाटिया जाति के लोगों

१. भक्त स्त्रियाँ हैं गोपियाँ गोस्वामी ही गोपाल हैं।

में भी अधिक प्रचलित था, शीघ्र ही इस सम्प्रदाय की स्थिति बम्बई में अत्यन्त विषम हो गई। यह देखकर कि स्वामी दयानन्द के प्रचण्ड खण्डन से सम्प्रदाय का शीराजा ही बिखर रहा है, गोकुलियाँ गुसाईं लोग स्वामी जी के शत्रु बन गये और उनके प्राण हरण की चेष्टायें करने लगे^१ परन्तु निर्भीक संन्यासी दयानन्द इन धमकियों और खतरों के आगे भी नहीं झुके और पाखण्ड खण्डन के अपने कर्त्तव्य में पूर्णतया जागरूक रहे।

इसी पृष्ठभूमि के आधार पर हमें 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखित वल्लभ सम्प्रदाय की समीक्षा का अध्ययन करना चाहिए। वल्लभाचार्य ने मर्त्यलोक के जीवों की गुरु द्वारा स्थापित ब्रह्मसम्बन्ध से पवित्र करने का पाखण्ड रचा। उनके अनुयायियों की वार्ता-कथायें उनके पुत्र और पौत्र गोस्वामी विट्ठल नाथ और गोस्वामी गोकुल नाथ ने लिखी हैं जो ८४ और २५२ वैष्णवों की वार्ता के नाम से विख्यात हैं। "श्रीकृष्ण-शरणं मम" तथा "क्लीं कृष्णाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा" आदि इस सम्प्रदाय के पवित्र मंत्र हैं। मंत्र में 'क्लीं' का प्रयोग इस सम्प्रदाय पर वाम मार्ग के प्रभाव का सूचक है। क्योंकि 'ह्रीं क्लीं' आदि निरर्थक वाममार्गियों के कपोलकल्पित मंत्रों में ही जुड़े रहते हैं। वल्लभ ने एक समर्पण मंत्र की भी रचना की थी, जिसके अनुसार उपासकों को देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, स्त्री, पुत्र, धन आदि सर्वस्व को कृष्ण (अथवा उसके लौकिक प्रतिनिधि गोसांई जी) के अर्पित करना पड़ता था। यही कारण है कि इस सम्प्रदाय में नव विवाहिता पत्नी को भी एक बार गोस्वामीजी की अंकशायिनी बनना पड़ता था। 'सिद्धान्त रहस्य' नामक इनके एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ में लिखा है कि श्रावण मास की कृष्ण पक्ष की एकादशी की रात्रि को वल्लभ से भगवान् श्री कृष्ण का साक्षात्कार हुआ।^२ इस भेंट में कृष्ण ने वल्लभ को उपदेश करते हुये कहा कि जो ब्रह्म सम्बन्ध स्थापित करता है उसके सहज ही देश कालोत्पन्न, लौकिक और वैदिक, संयोग तथा स्पर्श पंचविध दोष दूर हो जाते हैं।^३ गोस्वामियों को समर्पित किए बिना कोई भी वस्तु ग्रहणीय नहीं है तथा उसके बिना दोष-निवृत्ति भी नहीं होती।^४ अतः प्रत्येक कार्य के आरम्भ में सर्ववस्तु समर्पण की क्रिया

१. गुसांई जीवन जी ने स्वामी जी के रसोइये बलदेव से मिलकर उन्हें विष देकर मारने का भयंकर षड्यन्त्र किया जो स्वामी जी की जागरूकता के कारण असफल हुआ।

२. श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।

साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।

३. ब्रह्म सम्बन्धकरणाद् देह जीवयोः।

सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पंचविधाः स्मृताः।।

सहजा देशकालोत्था लोक वेद निरूपिताः।

संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन।।

४. अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।

असमर्पित वस्तूनां तस्माद्बर्ज्यमाचरेत्।।

होनी चाहिए।^१ सम्प्रदाय के अनुयायियों को यह स्पष्ट कह दिया गया कि वे वल्लभ मत से भिन्न मतों की बातों तथा उपदेशों का श्रवण मात्र भी न करें।^२ तभी तो इस सम्प्रदाय में गुरु की गोपनीय बातों का प्रकट करने वाले तथा अन्य प्रच्छन्न रहस्यों का उद्घाटन करने वाले की कड़ी निंदा की गई है। इन्हें कड़े से कड़े दण्ड का भागी कहा गया है।

इस ब्रह्म सम्बन्ध भाव और सर्वस्व समर्पण की आलोचना करते हुए स्वामी जी ने लिखा है कि जो ब्रह्म का लक्षण मात्र भी नहीं जानते वे ही शिष्य शिष्याओं को ब्रह्मसम्बन्ध का उपदेश देते हैं। क्या शिष्य वर्ग की नारी, कन्या, वधू आदि को स्वसमर्पित कराने वालों ने कभी सोचा है कि उनकी खुद की स्त्री और कन्या असमर्पित रह जाने से क्या अशुद्ध नहीं रह गई? क्या उनमें भी इतना साहस है कि वे अन्यो को स्वदाराओं का समर्पण करा सकें? अन्ततः स्वामीजी इन पथभ्रष्ट लोगों को सत्परामर्श देते हुए लिखते हैं— “अब लों जो हुआ सो हुआ परन्तु अब तो अपनी मिथ्या प्रपंचादि बुराइयों को छोड़ो और सुन्दर ईश्वरोक्त वेद विहित सुपथ में आकर अपने मनुष्य रूपी जन्म को सफल कर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुष्टय फलों को प्राप्त होकर आनन्द भोगो।”

वल्लभ सम्प्रदाय की समीक्षा में कुछ अवान्तर बातें भी लिखी गई हैं। इस सम्प्रदाय का एक नाम पुष्टिमार्ग भी है। पुष्टि का अर्थ अनुग्रह या “भगवत्कृपा” माना गया है। परन्तु सर्व सामान्य तो यही समझता है कि इस सम्प्रदाय के लोग दूध, दही आदि वसायुक्त पदार्थों का प्रभुत मात्रा में भक्षणकर अपने शरीर को पुष्ट करना ही अपना चरम पुरुषार्थ मान बैठे हैं। अतः शरीर को पुष्टि ही उन्हें ‘पुष्टि’ दिखाई पड़ती है। स्वामी जी व्यांग्यपूर्वक कहते हैं कि दुराचारों से आक्रान्त इन मह, राजों का शरीर कुष्ठी के शरीर की भाँति गलित होकर नष्ट हो जाता है।

वल्लभ के अनुसार गोलोक में अकेले कृष्ण ही पुरुष हैं। अन्य जीव तो गोप स्त्रियाँ बन कर उनके निकट निवास करती हैं। ऐसे स्त्रैण लोग को भला हम अपना आदर्श गन्तव्य स्थान कैसे मानें जहाँ पुरुष एक ही हो और उसे असंख्य स्त्रियों की कामवासना संतुष्ट करनी पड़े। गोस्वामियों का यह दम्भ ही है कि उसी गोलोकवासी कृष्ण का प्रतिनिधित्व वे धराधाम पर करते हैं अतः उन्हें भक्तस्त्रियों को भी गोपी मान कर भोगने का पूरा अधिकार है। यदि यह कहा जाय कि मर्त्यलोक में तो शारीरिक दुःख, क्लेश आदि होते हैं, किन्तु कृष्ण का दिव्य धाम गोलोक तो सर्वथा अपार्थिव तथा दिव्य है, वहाँ भला

१. तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तु समर्पणम् ।

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ।।

२. न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ।।

इन दुःखों और कष्टों का क्या काम? उत्तर में यह कहना समीचीन ही है कि 'भोग रोगभय' जहाँ भोग हैं, वहाँ रोग अनायास ही आ जाते हैं। निष्कर्षतः यह कहना होगा कि गोलोक और उसके अधीश्वर कृष्ण तथा उनकी प्रेयसी गोपियों की कल्पना भक्तों के मन-प्रसादन के लिये ही कल्पित की गई हैं।

इस सम्प्रदाय में प्रवर्तित अन्यान्य अनाचारों का भी पूरा भंडाफोड़ 'सत्यार्थप्रकाश' में किया गया है। गोसांई जी की वैष्णव गृहस्थ के घर पधरावनी (आगमन), स्त्रियों द्वारा उनका पाँव स्पर्श करना, इच्छित युवती की अंगुली का गुसांई द्वारा दबाया जाना, कालान्तर में उस युवती का प्रसन्नतापूर्वक अथवा किसी दूती या कुटनी के माध्यम से गुसांई की सेवा में समर्पण हेतु भेजा जाना, गुसांई तथा उनके परिवार के अन्य लोगों—बहूजी (गोस्वामी जी की विवाहिता पत्नी), लाल जी (गोस्वामी जी का पुत्र) बेटी जी (पुत्री) मुखिया जी (मन्दिर का व्यवस्थापक और अधिष्ठाता) को दक्षिणा भेंट के बहाने मचाई वाली लूट, सम्प्रदाय के अनुवर्ती किसी भक्त की मृत्यु पर महा ब्राह्मण की भाँति लूट-खसोट आदि शतशः पाखण्डपूर्ण बात वल्लभ सम्प्रदाय में प्रचलित हैं।

इसी प्रकार होली, वसन्त पंचमी आदि पर्वविशेष पर गोस्वामी जी का स्त्री जनों द्वारा स्नान कराया जाना, अंगराग आदि का लेपन, ताम्बूल प्रदान, जूठे पान की पीक का भक्तों को प्रसाद के रूप में वितरण आदि विभिन्न अनाचार इस सम्प्रदाय में प्रचलित हैं। मंदिर के प्रसाद का बेचना स्मृति प्रमाण के अनुसार 'रस विक्रय दोष' के अन्तर्गत आता है जो ब्राह्मण के लिये निषिद्ध कर्म माना गया है।

वल्लभ मत खण्डन विषयक साहित्य

१. वल्लभाचार्य और उनके पुष्टिमार्ग का संक्षिप्त इतिहास— गोविन्दराम हासानन्द, कलकत्ता
२. पुष्टि मार्ग अथवा महाराज नो पंथ (गुजराती) लीलाधर हरि
३. वैष्णव सम्प्रदाय प्रारम्भ अने परम्परा (गुजराती) मित्र महेश आर्य



१७ स्वामी नारायण मत खंडन

गुजरात देश में स्वामी नारायण मत का पर्याप्त प्रचार है। स्वामी दयानन्द स्वयं गुजराती थे। उन्हें इस मत को निकटता से देखने का अवसर मिला था। अतः उन्होंने प्रसंगोपात्त दृष्टि से स्वामी नारायण मत की आलोचना भी लिखी। स्वामी नारायण मत का प्रवर्तक सहजानन्द नामक एक व्यक्ति था जो ब्रह्मचारी के रूप में गुजरात, काठियावाड़ तथा कच्छ आदि पश्चिमी प्रदेशों में यथेच्छ भ्रमण करता रहा। यहाँ उसके एक दो शिष्य भी बने। अब गुरु-शिष्यों ने परस्पर सम्मति की और सहजानन्द को चतुर्भुज नारायण के अवतार के रूप में प्रसिद्ध करने का निश्चय किया। इसके लिए उन्होंने काठियावाड़ के एक जमींदार को चतुर्भुज नारायण का दर्शन कराने का प्रलोभन दिया और सहजानन्द को विष्णु वेश धारण करा कर एक अंधेरे कमरे में बिठा दिया और सहजानन्द को विष्णुवेश धारण करा कर एक अंधेरे कमरे में बिठा दिया। द्विभुज पुरुष को चतुर्भुज बनाने का एक उपाय उन्होंने यह किया कि एक अन्य पुरुष को सहजानन्द के पीछे बिठा दिया जिसने अपने दो हाथ निकाल कर उनमें गदा और पद्म (कमल) धारण कर लिये जबकि सहजानन्द के हाथों में शंख और चक्र दे दिये गये। इस प्रकार अंधेरे कमरे में एक क्षण भर के लिये प्रकाश कर उस काठियावाड़ी सामन्त को साक्षात् विष्णु भगवान् का दर्शन करा दिया गया। 'दादा खाचर' नामक इस जमींदार ने अपने प्रभाव से स्वामी नारायण मत का गुजरात में व्यापक प्रचार किया। सम्प्रदायगत संकीर्णतायें एवं मानव के लिए अहितकारी बातें भी किस प्रकार तीव्र गति से प्रचारित हो जाती हैं इसे स्पष्ट करने के लिए स्वामी दयानन्द ने नारायणदर्शियों के एक 'नकटा सम्प्रदाय' का रोचक उदाहरण दिया है।

जब किसी अपराध दण्डस्वरूप किसी अपराधी का राजा के द्वारा नाक काट लिया गया तो उसके दिमाग में एक फितूर सवार हुआ। उसने यह कहना आरम्भ किया कि नाक की ओट दूर हो जाने से अब उसे साक्षात् भगवान् के दर्शन होने लगे हैं। जब अन्य लोगों को भी नारायण दर्शन की लालसा उत्पन्न हुई तो उसने उनके समक्ष भी यह प्रस्ताव रखा कि वे नाक कटा लें, उन्हें नारायण के प्रत्यक्ष दर्शन अवश्य हो जायेंगे।

दुनियाँ में मूर्खों का कभी अभाव नहीं रहा। जब प्रथम नारायण-दर्शी की नाक काटी गई तो इस धूर्त-मण्डली के आदि प्रवर्तक उस नकटे अपराधी ने उसके कान में चुपचाप

कह दिया कि भाई, अब नाक तो कट ही गयी, तू भी मेरी तरह झूठ-मूठ यह कहने के लिए तैयार हो जा कि तुझे भगवान् चतुर्भुज नारायण के साक्षात् दर्शन हो रहे हैं। उसने ऐसा ही किया और अब नारायणदर्शी नकटों की एक पूरी जमात ही खड़ी हो गई। जब नारायण-दर्शन का उसका यह सहज नुस्खा उस देश के देवानाप्रिय' राजा को विदित हुआ तो उसके मन में भी भगवत्साक्षात्कार की लालसा उत्पन्न हुई। उसने चटपट नकटा-सम्प्रदाय के गुरु को बुलाया और उसके समक्ष नाक काटकर नारायण-दर्शन करने का प्रस्ताव रखा। राजा के कहने से ज्योतिषी ने चटपट पत्रा देखकर नाक कटाने का मुहूर्त भी निकाल दिया। इस पर स्वामी जी की चुभती हुई टिप्पणी द्रष्टव्य है— “वाह रे पोपजी ! अपनी पोथी में नाक काटने-कटवाने का भी मुहूर्त लिख दिया।”

दृष्टान्त आगे बढ़ता है। राजा के बुद्धिमान् एवं विचारशील मन्त्री को यह बात कुछ कम जंची कि नाक कटाने मात्र से ही भगवान् के दर्शन हो जाते हैं। वह राजा के समक्ष उपस्थित हुआ और उसने निवेदन किया कि “उससे पूर्व कि आप नाक कटाकर नारायणदर्शी बनें, मुझे यह अवसर दीजिए कि मैं इन धूर्तों की पोल खोल कर इस पाखण्ड का भंडा-फोड़ कर सकूँ।” अन्ततः जब दीवान की भी नाक काटकर उसे यह कहा गया कि वह भी अन्य नकटों की भांति यह घोषण कर दे कि उसे भी नारायण के दर्शन हो गये हैं, तो इस सत्यवादी मंत्री ने नकटों का भंडा फोड़ दिया तथा उन्हें दण्डित किया गया। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के लोगों पर यह दृष्टान्त पूर्णतया चरितार्थ होता है।

स्वामी नारायण मत का विशेष खण्डन स्वामी दयानन्द ने ‘शिक्षा पत्री ध्वान्त-निवारण’ शीर्षक एक अन्य लघु पुस्तिका में किया है। ‘शिक्षा-पत्री’ इस सम्प्रदाय की आधारभूति पुस्तक है। इसके ५३ श्लोकों को उद्धृत कर स्वामी जी ने पुनः स्वामी नारायण मत की मान्यताओं का प्रमाणपुरस्सर खण्डन किया है। स्वामी नारायण मत के अनुसार कृष्ण ही साक्षात् ब्रह्म तथा विष्णु के अवतार हैं। इस सम्प्रदाय में राधापति कृष्ण ही पूज्य एवं उपास्य हैं। ग्रन्थारम्भ में ही कृष्ण का राधा वल्लभ एवं लक्ष्मी पति का रूप चित्रित करते हुए मंगलाचरण में कहा गया है—

वामे यस्य स्थिता, राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि ।

वृन्दावनविहारन्तं श्रीकृष्णं हृदि चिन्तये ॥ १ ॥

जिनके वामभाग में राधा और वक्ष पर लक्ष्मी विराजमान हैं उन वृन्दावन-बिहारी कृष्ण का मैं हृदय से चिन्तन करता हूँ। स्वामी नारायण मत में नारायण और शिव को एक ही माना गया है। दोनों ही ब्रह्म रूप हैं यह वेद प्रतिपादित तथ्य है—

एकात्म्येन विज्ञेयं नारायणमहेशयोः ।

उभयो ब्रह्म रूपेण वेदेषु प्रतिपादनात् ॥ ४७ ॥

सम्भवतः इस प्रकार विष्णु और शिव की एकता का प्रतिपादन करने की आवश्यकता सहजानन्द को इसलिए प्रतीत हुई थी कि उस युग में शैव वैष्णवों का संघर्ष अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। शैव और वैष्णव पुराणों में जिस प्रकार एक देवता के अनुयायियों ने अन्य देवता की पूजा, उपासना का जिस विद्वेषपूर्ण भाव से विरोध किया है उसे देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस साम्प्रदायिक संघर्ष ने भारत के समन्वयशील एवं सहिष्णुतापूर्ण धार्मिक चिन्तन को पूर्ण अस्त-व्यस्त कर दिया था। शायद इसी संदर्भ में शिक्षापत्री के लेखक ने नारायण-महेश की एकता का नारा लगाया और दोनों देवताओं को ही ब्रह्मरूप तथा वेदप्रतिपादित घोषित किया। उससे पूर्व के श्लोक में सहजानन्द ने शैव मत के चिह्नों त्रिपुण्ड्र और रुद्राक्ष धारण को यथाकथंचित् सहन करने की बात कही है। मध्ययुग के प्रसिद्ध रामोपासक भक्त कवि तुलसीदास ने भी शैव वैष्णव संघर्ष को समाप्त करने का ऐसा ही प्रयास किया था।^१

शिक्षापत्री की अन्य शिक्षाये वैष्णव मत की सामान्य बातों के ही तुल्य हैं। त्रिग्र्यों को वेदादि शान्त्र पठन, श्रवण, अध्ययन, अध्यापन का अधिकार अन्य मध्यकालीन आचार्यों की भाँति सहजानन्द भी ने स्वीकार नहीं किया। उसके अनुसार—

ज्ञानवार्ता श्रुतिनार्या मुखात् कार्या न पुरुषैः ।

न विवादः स्त्रिया कार्यो न राजा न च तज्जनैः । । ३४ । ।

स्त्री से श्रुति अथवा ज्ञान वार्ता पुरुषों को नहीं सुननी चाहिए और न राजा एवं राज पुरुषों के साथ वाद-विवाद ही करना चाहिए। श्लोक के उत्तरार्द्ध में तो एक नीति की बात कही गई है, किन्तु नारियों से वेदविमर्श न करना एक भ्रान्त धारणा ही है कारण

१. अग्निपुराण (अध्याय १२) में कहा गया है कि विष्णु और शिव में कोई भेद नहीं है। जो भेद मानता है उसे नरक की प्राप्ति होगी—

आवयोनोस्त भेदो वै भेदी नरकमाप्नुयात् ।

परन्तु अन्य पुराणों में सर्वत्र विष्णु और शिव के भेद को माना ही नहीं गया है, किन्तु उसे आँच देकर तीव्र भी बनाया गया है।

२. शिवार्चनादब्राह्मणस्तु शूद्रेण समतामियात् ।

तिर्यक्पुण्ड्रधरं विप्रं चाण्डालमिव संत्यजेत् । ।

अर्थात् शिव पूजा करने से ब्राह्मण शूद्र के तुल्य हो जाता है। तिरछे पुण्ड्रधारी ब्राह्मण को चाण्डाल के तुल्य त्याग देना चाहिए। इसी प्रकार वैष्णवों को गहाँ में कहा गया—

वैष्णवः पुरुषो यस्तु शिव ब्रह्मादि देवताः ।

प्रणमेताच्चेद्वापि विष्ठायां जायते कृमिः । ।

वैष्णव पुरुष को नमस्कार करने तथा पूजने से मनुष्य विष्ठा का कीड़ा बनता है।

३. शिवद्रोही मम दास कहावा ।

सो नर सपनेहु मोहि नहिं पावा । । रामचरित मानस में राम का कथन ।

कि उपनिषद् युग में याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों ने जनक सभा में गार्गी जैसी विदुषियों से ब्रह्म तत्त्व विचार तथा ज्ञान चर्चा की थी। इस ब्रह्म विद्या का आधार श्रुति (वेद) ही हैं।

सहजानन्द प्रवर्तित स्वामी नारायण सम्प्रदाय में तुलसी, माला तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण का विधान किया गया है।^१ मूर्तिपूजा के प्रति यह सम्प्रदाय भी उतना ही निष्ठावान् है, जितने अन्य वैष्णव सम्प्रदाय। स्वगुरु और आचार्य द्वारा प्रदत्त कृष्ण की मूर्ति की पूजा-अर्चना ही यहां कर्त्तव्य मानी गई है। सहजानन्द ने एकादशी, कृष्ण जन्माष्टमी आदि वैष्णव पर्वों के साथ शिवरात्रि को भी महत्त्व देकर अपनी समन्वयबुद्धि का परिचय दिया,^२ किन्तु प्रकृत्या वह वल्लभाचार्य का ही अनुयायी है क्योंकि अपने इस ग्रन्थ में आगे चलकर वह वल्लभ पुत्र विट्ठलनाथ द्वारा प्रवर्तित व्रत उत्सवों को करने का ही विधान करता है।^३

स्वामी नारायण मत में विष्णु, शिव, गणपति, सूर्य तथा शक्ति की पंचायतन पूजा को भी स्थान प्राप्त हुआ है। इस प्रकार यह मत मुख्यतः पुराणाश्रित ही है क्योंकि पुराणों में ही शिव, विष्णु आदि पंच देवताओं को प्रमुखता प्राप्त कराई गई है।

स्वामी नारायण मत में निम्न आठ ग्रन्थ प्रमाणभूत माने गये हैं— वेदव्यास (बादरायण) रचित वेदान्त सूत्र, श्रीमद्भागवत्, महाभारतोक्त विष्णुसहस्रनाम, श्रीमद्भगवद्गीता और विदुरनीति। इसी प्रकार स्कन्दपुराण के वैष्णव खण्ड में कहा गया वासुदेव माहात्म्य तथा धर्मशास्त्र के अन्तर्गत याज्ञवल्क्य स्मृति।^४ इससे स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय में मुख्यतः उन्हीं ग्रन्थों को प्रामाणिक माना गया है जो वैष्णव मत का निरूपण करते हैं। गीता, विष्णुसहस्रनाम तथा भागवत तो सहज ही वैष्णव वाङ्मय के अन्तर्गत आ जाते हैं। स्वामी

१. कृष्ण दीक्षा गुरोः प्राप्ते तुलसी मालिका गले ।
घायो यनित्यं योर्ध्वपुण्ड्रो ललाटादौ द्विजातिभिः ॥ ४१ ॥
२. एकादशीनां सर्वासां कर्त्तव्यं व्रतमादरात् ।
कृष्णजन्म दिनानां च शिवरात्रेश्च सोत्सवम् ॥ ७९ ॥
३. सर्वं वैष्णवं राल श्री वल्लभाचार्यं नन्दनः ॥
श्री विट्ठलेशः कृतवान् यं व्रतोत्सवनिर्णयम् ॥ ८१ ॥
४. विष्णुः शिवो गणपतिः पार्वती च दिवाकरः ॥
एता पूज्यतया मान्या देवताः पंच मामकैः ॥ ८४ ॥
५. वेदाश्च व्यास सूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधम् ।
पुराणं भारते तु श्री विष्णोर्नाम सहस्रकम् ॥ ९३ ॥
तथा श्रीभगवद् गीता नीतिश्च विदुरोदिता ।
श्री वासुदेव माहात्म्यं स्कन्दवैष्णवं खण्डनम् ॥ ९४ ॥
धर्मशास्त्रान्तर्गता च याज्ञवल्क्य ऋषेः स्मृतिः ।
एतान्मष्टम मेष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि ॥ ९५ ॥

दयानन्द ने सहजानन्द द्वारा की गई इस ग्रन्थ-प्रमाण-मीमांसा का विचार करते हुए ठीक ही लिखा है कि “याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका का ग्रहण और पूर्व मीमांसा तथा मनुस्मृति का त्याग करने से सिद्ध होता है कि सहजानन्द अविद्वान् था । भागवत के भ्रष्ट, मिथ्या, भूतप्रेत, अधर्म कथा प्रतिपादक दशम स्कन्ध को सर्वशास्त्रों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता है । अत एव जान पड़ता है कि सहजानन्द वेदनिन्दक (नास्तिक) था ।” सहजानन्द को गीता और वेदान्त सूत्रों पर रामानुज का भाष्य मान्य है । क्योंकि रामानुज ने ही सर्वप्रथम विशिष्टाद्वैत मत को अपना कर इन ग्रन्थों का वैष्णव मत के अनुकूल अर्थ किया था ।^१ रामानुजीय दर्शन के प्रति अपनी स्पष्ट व्यक्त आस्था करते हुए सहजानन्द ने लिखा—

हृदये जीववज्जीवे योऽन्तर्यामितया स्थितः ।

ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोऽसौ सर्वकर्मफलप्रदः ॥ १०७ ॥

स श्रीकृष्णः परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः ।

उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम् ॥ १०८ ॥

अर्थात् जिस प्रकार हृदय में जीव रहता है, उसी प्रकार ईश्वर अन्तर्यामी रूप से जीव में रहता है । वह स्वतन्त्र और सबको उन उनके कर्मों का फल दाता है । वह पूर्ण पुरुषोत्तम परम ब्रह्म श्रीकृष्ण उपासना करने योग्य, इष्ट देव तथा सर्व पदार्थों के आविर्भाव का कारण है ।

इसे स्पष्ट करते हुए शिक्षा पत्री में कहा गया है—

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम् ।

तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम् ॥ १२१ ॥

मेरा मत विशिष्टाद्वैत है और गोलोक मेरा प्रिय धाम है । इस प्रकार स्वामी नारायण सम्प्रदाय में भी वैष्णव मत की सम्पूर्ण दुर्बलतायें तथा विकृतियाँ स्वतः ही समाविष्ट हो गई हैं ।

सहजानन्द ने अपने जीवनकाल में लक्ष्मीनारायण के बड़े-बड़े मन्दिर बनवाये और उनकी पूजा का विधान किया । उसने एक ओर एकादशी व्रत धारण तो दूसरी ओर श्रावण मास में विल्वपत्रों से शिव पूजन का विधान कर वैष्णवों और शैवों में प्रचलित दोनों प्रकार के कर्मकाण्डों का समान रूप से समर्थन किया ।^३ इस प्रकार सहजानन्द प्रवर्तित स्वामी-

१. शिक्षापत्री ध्वान्त निवारण पृ० २७
२. शारीरकाणां भगवद्गीतायाश्चावगम्यताम् ।
रामानुजाचार्यकृतं भाष्यमाध्यात्मिकं मम ॥ १०० ॥
३. एकादशीमुखानाञ्च व्रतानां निज शक्तितः ।
उद्यापनं यथाशास्त्रं कर्तव्यं चित्तिर्थायदम् ॥ १४८ ॥
कर्तव्यं कारणीयं वा श्रावणे मासि सर्वदा ।
विल्वपत्रादिभिः प्रीत्या श्रीमहादेव पूजनम् ॥ १४९ ॥

नारायण मत का व्यवस्थित समीक्षण कर स्वामीजी ने लिखा 'ये सब जितने मत हैं, वे विद्याहीन होने से ऊट-पटाँग शास्त्रविरुद्ध वाक्यरचना करते हैं क्योंकि उनको विद्या के नियमों की खबर नहीं है।' स्वामी नारायण मत वाले भी वल्लभाचार्य के तुल्य 'श्रीकृष्णः शरणं मम' को अपना मन्त्र मानते हैं तथा इसी का उपदेश देते हैं। चक्रांकितों के तुल्य इनमें शरीर को लोहे के चिह्नों से दागने की परिपाटी भी प्रचलित है।

वैष्णवों और शैवों के अवान्तर सम्प्रदाय भी हैं। वैष्णवों में श्री वैष्णव, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ मतानुयायी परिगणित होते हैं। स्मार्त वैष्णव पृथक् हैं। राधावल्लभी, चैतन्य मतानुयायी आदि वैष्णवों ने कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्त्व दिया। शैवों में भी लकुलीश, लिंगायत आदि विभिन्न अवान्तर सम्प्रदाय हैं। सामान्य रूप से वैष्णवों और शैवों की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करने के अनन्तर स्वामी जी ने मध्व और लिंगांकितों के सम्बन्ध में भी कुछ लिखना उपयुक्त समझा। मध्वाचार्य के अनुयायी माध्व मतावलम्बी वैष्णव हैं। आचार्य मध्व द्वैतवादी दार्शनिक थे।^१ जिन्होंने ब्रह्मसूत्र की भेदवादी व्याख्या की है तथा शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन किया है। ब्रह्मसूत्रों के अतिरिक्त इन्होंने गीता तथा उपनिषदों पर भी भाष्य लिखे। मध्व ने वेदार्थ करते हुए अधिकांश मन्त्रों की विष्णुपरक व्याख्याएँ की हैं।^२ परन्तु जहाँ तक साम्प्रदायिक आचार-विचार का सम्बन्ध है, माध्व लोग भी चक्रांकित रामानुजीयों की ही भाँति हैं। ये लोग वर्ष में एक बार विष्णु चिह्नों से अपने शरीर को दागते हैं। इनका तिलक भी श्री वैष्णवों से भिन्न प्रकार का होता है। इनके तिलक में एक काली रेखा होती है। इनकी धारणा है कि श्री कृष्ण के श्याम रंग के अनुकरण पर ही ये भी तिलक की रेखा काली ही रखते हैं। मध्वमत का विशेष प्रचार दक्षिण भारत में है। उडुपी (कर्नाटक) इस सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र है। मध्व के द्वैतवाद-प्रतिपादन से चिढ़ कर अद्वैतवादियों ने इनके मत का तीव्र और कटु खण्डन किया है। सर्वत्र ब्रह्म बुद्धि रखने वाले इन अद्वैतवादियों के हृदय की कटुता तथा द्वैतमत के प्रति दुगुना द्वेष-भाव मध्वमत की इन खण्डनात्मक पुस्तकों के नामों से भी ज्ञात होता है। यथा माध्व मुखमर्दन, माध्व मुख चपेटिका, दुर्जन करि पंचानन आदि। अप्पय दीक्षित ने मध्वमत के खण्डन में दो ग्रन्थ लिखे— मध्वमत विध्वंसन और

१. आचार्य मध्व (अपर नाम आनन्द तीर्थ) का जन्म १२५५ वि० तथा मृत्यु १३३५ वि. में हुई।

२. मध्व ने ऋग्वेद के प्रथम ४० सूक्तों पर भाष्य लिखा। भाष्यारम्भ में वे लिखते हैं—

स पूर्णत्वात् पुमान्नाम पौरुषे सूक्त ईरितः।

स एवाखिल वेदार्थः सर्व शास्त्रार्थ एव च।।

वही नारायण सर्वत्र पूर्ण होने से पुरुष नाम से पुरुष सूक्त में कहा गया है। यही सारे वेद का अर्थ है और सारे शास्त्र का भी।

मध्वतन्त्र मुख मर्दन । लिंगाकित— जिस प्रकार वैष्णव लोग अपने शरीर को चतुर्भुज विष्णु के शंख, चक्र, गदा, पद्म से अंकित करते हैं, उसी प्रकार लिंगाकित शैव अपने शरीर को लिंगाकृति से दागते हैं । लिंग की आकृति का एक स्वर्ण, रजत अथवा पाषाणनिर्मित चिह्न ये अपने गले में लटकाये रहते हैं । लिंगायत सम्प्रदाय का प्रचलन आंध्र प्रदेश में अधिक है । चन्न बसवेश्वर नामक व्यक्ति ने इस सम्प्रदाय का प्रचार किया था ।

स्वामी नारायण मत विषयक परिचायत्मक ग्रन्थ—

१. शिक्षापत्री मूल २१२ कारिकाओं का हिन्दी अनुवाद
२. स्वामिनारायण वेदान्त परिचय— ले. रमेश म. दवे
३. सम्प्रदाय का विकास एवं गुरु परम्परा— ले. हर्षदराम त्रिवेदी
४. भगवान् स्वामिनारायण— ले. हरीन्द्र दवे
५. अक्षर मूर्ति गुणातीतानन्द स्वामी— ले. साधु ईश्वर चरणदास

□

१८ ब्रह्मसमाज समीक्षा

भारत में धार्मिक पुनर्जागरण का सूत्रपात हुआ जब सांस्कृतिक नव-जागरण के सूत्रधार राजा राम मोहनराय ने हिन्दूधर्म के प्रचलित बहुदेव वादी रूप से खिन्न होकर उपनिषद् प्रतिपादित 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' की उपासना के प्रचार हेतु ब्रह्मसमाज की स्थापना की। बंगाल के एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न राममोहन राय ने बाल्यकाल में फारसी और अरबी भाषाओं का अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप वे इस्लाम के एकेश्वरवाद और सूफियों के तसव्वुफ मत की ओर आकृष्ट हुए। युग की मांग के अनुसार यद्यपि राममोहन राय ने अरबी, फारसी पढ़ी थी, परन्तु परिवार की धार्मिक मान्यताओं के पालन हेतु वे संस्कृत-अध्ययन में भी प्रवृत्त हुए। उन्हें संस्कृत-अध्ययन की प्रेरणा देने वाली उनकी माता ही थी जो एक शाक्त मतानुयायी ब्राह्मण परिवार की पुत्री थी। स्वयं राममोहन राय ने अपनी संस्कृत शिक्षा के लिए अपनी माता की प्रेरणा को स्वीकार किया है। राममोहन राय का संस्कृत-शिक्षण काशी में हुआ। वहां रहकर लगभग अढ़ाई वर्षों में उन्होंने उपनिषद्, वेदान्त, स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। उपनिषद् वाङ्मय तथा वेदान्त दर्शन के अध्ययन ने उनके हृदय में अंकुरित एकेश्वर-वाद सिद्धान्त को और भी सुदृढ़ कर दिया।

ब्रह्मसमाज की स्थापना

सन् १८१५ ई० में राममोहन राय ने अपने मकान में आत्मीय सभा नामक एक संगठन बनाया। इसका अधिवेशन प्रति सप्ताह होता था तथा उसमें वेदपाठ एवं ब्राह्मसंगीत आदि के कार्यक्रम रहते। यह सभा १८१९ ई० तक चलती रही। इसी समय कलकत्ता में मिस्टर आदम (Adam) नामक पादरी का इंग्लैंड से आगमन हुआ। राममोहन राय इनसे मिले। पादरी ने यत्न किया कि वे राममोहन राय को अपने विचारों के अनुकूल बना सकें। किन्तु परिणाम इसके विपरीत ही हुआ। राममोहन राय की युक्तिपूर्ण बातें सुनकर पादरी आदम का विश्वास ईसाई त्रित्वाद (Trinity) से उठ गया। अब वे अपने आपको एकेश्वरवादी ईसाई (Unitarian christian) कहने लगे। उन्होंने कलकत्ता में एक यूनीटेरियन सोसाइटी की स्थापना की।

१. According to the usage of my maternal relations, I devoted myself to the study of Sanskrit and the Theological works written in it, which contains the body of the Hindu literature, law and religion. Autobiographical sketch. Compiled in the English works of Raja Ram Mohan Roy P. 223. Panini office Allahabad.

राममोहन राय भी इस समय तक ब्रह्मोपासना के लिये एक सभा की आवश्यकता अनुभव करते थे। आदम द्वारा स्थापित यूनीटेरियन सोसाइटी से उन्हें अपने कार्य को पूरा करने में बड़ी सुगमता हुई। इस सोसाइटी में एकेश्वरवादी ईसाइयों के मतानुसार उपासना होती थी। राममोहन राय अपने कुछ साथियों सहित इस उपासना में सम्मिलित होते रहे। वहां से लौटते समय एक बार उनके शिष्यों ने पूछा कि इन विदेशियों के उपासनालय में जाने की क्या आवश्यकता है? राममोहन राय के मन में तो यह विचार पूर्व से ही था कि उनके जैसे एकेश्वरवादी लोगों के लिए पृथक् उपासना गृह होना चाहिये। उन्होंने अपने घर आकर मित्र से इस विषय में परामर्श किया और फलस्वरूप २५ अगस्त १८२८ को कलकत्ता नगर के जोड़ासाकों (चीतापुर रोड) मुहल्ले में एक किराये का मकान लेकर ब्रह्मसमाज की स्थापना हुई। इसका अधिवेशन प्रति शनिवार सायं ७ से ९ बजे तक होता था। इसमें दक्षिणी ब्राह्मणों द्वारा वेद पाठ, वेद व्याख्या, उपनिषद् पाठ आदि कार्यक्रम होते। १८२९ ई० में ब्राह्मसमाज का अपना भवन बन गया।

निश्चय ही वेद और उपनिषद् प्रतिपादित एकेश्वरवाद तथा ब्रह्मवाद के सिद्धान्त से प्रभावित राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म की पूजा प्रणाली को पौतलिक उपासना की जड़ता से हटाकर शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा की मानस-पूजा के रूप में प्रतिष्ठित किया। यह है ब्रह्मसमाज के संस्थापन का इतिहास। १८३३ ई० में इंग्लैंड के क्रिस्टल नगर में राजा राममोहन राय के दिवंगत होने पर ब्रह्मसमाज का नेतृत्व श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर के हाथों में आया। राममोहन राय ने यदि ब्रह्मसमाज का बीज वपन किया तो ठाकुर महाशय ने उसमें ऊष्मा का संचार कर उसे एक पुष्ट पादप का रूप प्रदान किया। देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्मसमाज की उपासना प्रणाली को एक सुनिश्चित स्वरूप दिया। समाज के सिद्धान्तों के प्रचार के लिये तत्त्वबोधिनी पाठशाला १८४४ ई० में स्थापित की। ब्रह्मसमाज के धर्मविषयक मत को सुनिश्चित करने के लिये देवेन्द्रनाथ ने उपनिषद्, महाभारत तथा कतिपय अन्य ग्रन्थों को लेकर एक पुस्तक संगृहीत की, जिसे ब्राह्म धर्म' का नाम दिया गया। इसी प्रकार अपने अनुयायियों के आचरण और व्यवहार के लिये धार्मिक कर्म काण्डों का निर्धारण किया गया जिसे 'अनुष्ठान-पद्धति' के नाम से उन्होंने संकलित किया था। ब्रह्मसमाज के एकेश्वरवाद के सिद्धान्त में श्रद्धा, भक्ति और आस्था की त्रिवेणी का समावेश कराना देवेन्द्रनाथ का ही काम था।

अब तक वेद की प्रामाणिकता को लेकर ब्रह्मसमाज का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं था। यद्यपि राममोहन राय ने यह स्पष्ट घोषणा की भी कि धार्मिक शस्त्रार्थ और वाद-विवाद की सत्यता मुख्यतः शास्त्रीय प्रमाणों पर ही निर्भर करती है,^१ परन्तु राजा महाशय की

१. "The Validity of the theological controversy chiefly depends upon scriptural authority." (Monotheistical System of the Vedas, P.113)

मृत्यु के पश्चात् शास्त्र-प्रमाण का क्या रूप हो और वेदों की प्रामाणिकता को किस सीमा तक स्वीकार किया जाय— इन विषयों को लेकर ब्राह्म नेताओं में मतभेद हो गया था। देवेन्द्रनाथ ने इस समस्या के समाधान-हेतु अपने चार शिष्यों— आनन्दचन्द्र, तारकनाथ, वनेश्वर और रामनाथ को चार वेदों का अध्ययन करने हेतु काशी भेजा। ऐसा प्रतीत होता है कि इन शिष्यों ने वेदाध्ययन के पश्चात् वेदों के सम्बन्ध में जो धारणा देवेन्द्रनाथ के समक्ष प्रस्तुत की, वह बहुत उत्साहप्रद नहीं थी। अतः ब्रह्मसमाज ने वेदों की प्रामाणिकता के सिद्धान्त से सदा के लिये छुटकारा पा लिया।

देवेन्द्रनाथ के जीवन काल में ब्रह्मसमाज का आचार्य पद ब्रह्मानन्द पदवी धारी केशवचन्द्र सेन को मिल गया। उनके संरक्षण में समाज में कुछ ऐसे क्रांतिकारी तत्त्व पनपने लगे जिनके कारण संस्था का स्वरूप ही आमूलचूल परिवर्तित हो गया। सामाजिक कुरीतियों के त्याग पर अधिकाधिक बल दिया गया, परम्परा के पाश क्षीण हो गये, ईसाई-विश्वास ब्रह्मसमाज में प्रविष्ट होने लगे और शीघ्र ही विदित हो गया कि अब यह समाज एक ऐसे समन्वयशील संगठन के रूप में विकसित होगा जिसमें वैदिक, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान सभी मतों के सिद्धान्त और विश्वास सन्निविष्ट हो जायेंगे।

केशवचन्द्र सेन के इन तथाकथित प्रगतिशील कार्यों ने ब्रह्मसमाज में फूट और विग्रह के बीज बोये। सर्वाधिक विवाद यज्ञोपवीत के प्रश्न पर उत्पन्न हुआ। केशव का आग्रह था कि ब्रह्मसमाज के उपदेशकों को जाति प्रथा एवं रूढ़िवाद के प्रतीक यज्ञोपवीत को त्याग देना चाहिये। एक बार तो प्राचीन निर्दोष मान्यताओं को यथावत् स्वीकार करने वाले देवेन्द्रनाथ भी केशवचन्द्र सेन के समक्ष घुटने टेकने के लिये तैयार हो गये परन्तु शीघ्र ही उनके अनुयायियों ने केशवचन्द्र के समक्ष आत्मसमर्पण करने से इन्कार कर दिया। फलतः पुराने विचारों के ब्राह्मों ने अपने संगठन को 'आदि ब्रह्मसमाज' का नाम दिया और केशव के तथाकथित प्रगतिशील अनुयायी 'भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज' के नाम पर संगठित हुए। परन्तु ब्रह्मसमाज का विभाजन यहीं तक सीमित नहीं रहा। कालान्तर में जब केशव ने अपनी अल्पवयस्का पुत्री का विवाह कूच बिहार के राजकुमार से करना निश्चित किया और इस विवाह में भी ब्राह्मअनुष्ठान पद्धति का प्रयोग न किया जाकर परम्परागत मूर्तिपूजा प्रधान-संस्कार ही सम्पन्न हुआ तो केशव के रहे सहे अनुयायी भी उनसे पृथक् हो गये। केशव ने अपनी पुत्री के अल्पावस्था में विवाह का भी येन केन प्रकारेण समर्थन किया और अपने आपको दैवी आदेश प्राप्त करने वाले सिद्ध पुरुष के रूप में प्रस्थापित किया। परिणाम यह निकला कि उनसे मतभेद रखने वाले ब्राह्मों ने साधारण ब्रह्मसमाज के नाम से अपना पृथक् संगठन बना लिया और केशवचन्द्र ने 'नव

विधान समाज' (New Dispensation) की स्थापना की।

केशवचन्द्र की शिक्षा-दीक्षा पाश्चात्य प्रणाली पर हुई थी। उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि पूर्णतया पश्चिमी चिन्तन से आक्रान्त थी। ईसाइयत के प्रति उनमें अपार उत्साह था। वे ईसा को एशिया का महापुरुष ही नहीं अपितु मानव जाति के त्राता के रूप में स्वीकार करते थे तथा अपने अनुयायियों को ईसाई मत का धार्मिक एवं आचारमूलक शिक्षाओं को खुले आम स्वीकार करने की प्रेरणा देते थे। कहना नहीं होगा कि केशवचन्द्र की इन्हीं परकीयानुकरण की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने के ही कारण परवर्ती ब्रह्म-समाज का विशाल हिन्दू समाज से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। ब्राह्म लोग आपने आपको हिन्दू धर्म की मान्यताओं और विश्वासों की सामान्यधारा से पृथक् करने लगे और एक संकीर्ण सम्प्रदाय के रूप में ही उनका आकुंचन हो गया।

स्वामी दयानन्द ने ब्रह्मसमाज की इन समस्त गतिविधियों और विचारधाराओं का सूक्ष्म अध्ययन किया था। वे ब्रह्मसमाज के नेताओं के आमन्त्रण पर ही दिसम्बर १८७२ में कलकत्ता गये तथा केशवचन्द्र सेन एवं देवेन्द्रनाथ ठाकुर के विचारों, कार्यों और मन्तव्यों को अच्छी तरह से देखा और परखा। इससे उन्हें एक ओर ब्रह्मसमाज की मान्यताओं का वास्तविक ज्ञान हुआ और वे ब्रह्मसमाज की दुर्बलताओं को जान सके, वहाँ दूसरी ओर वे यह भी समझ सके कि अंग्रेजी-शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ देश में जो सर्वत्र परिवर्तन की लहर आ रही है, उसका लाभ उठा कर धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण को कौन-सी दिशा देनी होगी। निश्चय ही कलकत्ता आगमन के समय तक स्वामी दयानन्द के क्रिया-कलाप और उनकी उपदेश-प्रणाली भारत के परम्परागत साधु सम्प्रदाय की कार्य प्रणाली से अधिक भिन्न नहीं थी, किन्तु देश की राजधानी में आकर तथा नव सुधारवादी नेताओं से निकट सम्पर्क स्थापित कर उन्होंने अनुभव किया और इस निष्कर्ष पर भी पहुँचे कि यदि वे आसन्न भविष्य में देशोत्थान की कोई योजना बनाना चाहें तो उन्हें ब्रह्मसमाज की कार्य-पद्धति और रीति-नीति को अवश्य ध्यान में रखना होगा।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने नवोदय के सूत्रधार इन नेताओं से व्यक्तिगत सम्पर्क तो बनाया, किन्तु वे उनके विचार-प्रवाह में बह नहीं गये। इसके विपरीत उन्होंने पदे-पदे बंग नेताओं पर यह स्पष्ट कर दिया कि उनका सुधार और संस्कार का सम्पूर्ण प्रयत्न व्यर्थ हो जायेगा यदि वे पश्चिमी ईसाई आदर्शों को अपनाने में ही उत्साह दिखायेंगे और भारतीय परम्पराओं के आधार को सर्वथा छोड़ देने की भूल करेंगे। 'सत्यार्थप्रकाश' में

१. "The Brahma today is as distinctly outside Hinduism as the Christian." (Modern Religious Movements in India By J.N. Farquhar P.38)

ब्रह्मसमाज की समालोचना को लिखते समय स्वामी जी के मस्तिष्क में उक्त संस्था का सम्पूर्ण अतीत और वर्तमान विद्यमान था। ब्रह्मसमाज की इसी पृष्ठभूमि को दृष्टिपथ में रख कर ही वे इस समालोचना के लिखने में प्रवृत्त हुए थे।

अन्य मतों की समीक्षाओं की ही भांति ब्रह्मसमाज की आलोचना करते समय स्वामी जी ने इस संस्था के गुण-दोषों दोनों का ही वर्णन किया है। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि (१) ब्रह्मसमाज और प्रार्थना-समाज ने हिन्दू समाज के नव शिक्षित लोगों को ईसाइयत के चंगुल में फंसने से बचाया है। (२) वे यह भी मानते हैं कि ब्रह्मसमाज ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया। (३) मिथ्या ग्रन्थों के जाल से छुड़ा कर वेद, उपनिषद् आदि सत्य शास्त्रों की ओर लोगों को प्रवृत्त करना भी इनका श्लाघनीय कार्य था। साथ ही वे ब्राह्म लोगों की इस प्रवृत्ति का घोर विरोध करते हैं जो ईसाई आदर्शों का अनुकरण करने में ही अपनी सार्थकता समझ बैठे थे। फलतः स्वामी जी ने इस संस्था की आलोचना में लिखा—

(१) ईसाइयों के बहुत से आचरणों का अन्धानुकरण ब्राह्म लोगों ने किया है।

(२) खानपान और विवाह आदि के नियमों में स्वेच्छाचारी परिवर्तन करना अनुचित है।

(३) स्वदेश और अपने पूर्व पुरुषों की प्रशंसा करना तो दूर रहा, उनकी निन्दा करते हैं।

(४) आर्यावर्त के प्राचीन ऋषि-महर्षियों की विद्या तथा उनके ज्ञान का बखान न कर यूरोपियनों की अनुचित प्रशंसा करते हैं। ब्राह्म लोगों द्वारा पश्चिम की अनुचित श्लाघा करने की प्रवृत्ति भारतवासियों में हीन भावना को जन्म देने का कारण बनी। नवशिक्षितों में जान-बूझकर यह धारणा फैलाई गई की भारत के प्राचीन निवासी सर्वथा अशिक्षित थे। जो कुछ जागृति तथा प्रगति हुई है यह हमारे शासकों की ही देन है। स्वामी जी ने पश्चिम की इस मुखापेक्षिता का विरोध किया।

(५) ब्रह्मसमाज ने वेदादि शास्त्रों को उनका उचित गौरवपूर्ण स्थान प्रदान नहीं किया। अपितु वे तो पश्चिमी संस्कृतज्ञों की हाँ में हाँ मिलाकर आर्य जाति के इस महत् ज्ञान भण्डार की उपेक्षा और निन्दा ही करते रहे हैं।

(६) ब्रह्मसमाज के मान्य ग्रन्थों में ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक, चैतन्य आदि स्वेदशी-विदेशी साधु-महात्माओं का तो उल्लेख मिलता है, परन्तु वैदिक परम्परा के चिन्तकों— ब्रह्मा, मनु, व्यास, कपिल, जैमिनि आदि ऋषियों-मुनियों का वहाँ नामोल्लेख तक नहीं है। इससे यही अनुमान करना पड़ता है कि ब्राह्म मत भी ईसाई, यहूदी, इस्लाम, सिक्ख आदि मतों की विभिन्न मान्यताओं की एक विचित्र खिचड़ी मात्र है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर स्वामी जी ने यह सहज ही निष्कर्ष निकाल लिया कि जो ब्रह्मसमाज परकीयानुकरण को ही महत्त्व देता है तथा जिसके अनुयायियों में स्वधर्म, स्वसंस्कृति, स्वभाषा और स्वदेश के प्रति बहुत न्यून आस्था-भाव है क्या उनके लिये यह उचित नहीं है कि वे कोई नवीन मत-सम्प्रदाय प्रवर्तित करने या उसमें दीक्षित होने की अपेक्षा स्वदेश के गौरव की वृद्धि का ही कोई कार्यक्रम बनायें। उनका यह कथन नितान्त समयोचित तथा सोद्देश्य है— “भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुए हैं और अपने माता, पिता, पितामहादि के मार्ग को छोड़ दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना, ब्रह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों की एतद्देशस्थसंस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करते हैं। इंगलिश भाषा पढ़के पण्डिताभिमानि हो झटपट एक मत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है?

यह हम पूर्व ही संकेत कर चुके हैं कि केशवचन्द्र के नेतृत्व में ब्रह्मसमाज ने कतिपय प्रगतिशील एवं उग्र सामाजिक सुधारों की ओर कदम बढ़ाया था। उदाहरणार्थ, उन्होंने हिन्दू समाज में प्रचलित भक्ष्याभक्ष्य के स्वस्थ नियमों को भी ‘तिलांजलि’ देकर अंग्रेज, मुसलमान, ईसाई आदि विदेशियों और विधर्मियों के साथ यथेच्छ खान-पान को प्रोत्साहित किया। इसी प्रकार वर्ण व्यवस्था की विद्यमान विकृतियों को अनुभव कर उन्होंने इस व्यवस्था को ही तोड़ने का आग्रह किया, जबकि यह स्पष्ट है कि वर्णव्यवस्था मानव-जाति को गुण, कर्म और स्वभावानुसार स्वकर्तव्य कर्म से नियोजित करने की एक सामाजिक व्यवस्था मात्र है।^१ कालान्तर में वह अपने मौलिक रूप से हट कर किस प्रकार जन्मगत जातियों के जड़ता ग्रस्त रूप में आ गई यह एक पृथक् विषय है। अतः ब्रह्मसमाज का यह कहना कि केवल खान-पान की ऊपरी एकता तथा वर्ण व्यवस्था को समाप्त कर देने से ही समाज-सुधार के नवीन आयामों का उद्घाटन होगा, एक भ्रान्ति मात्र थी। इसी भूल का निराकरण करने के लिये सत्यार्थप्रकाशकार लिखते हैं— “इन्होंने यही समझा होगा कि खाने-पीने और जातिभेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जाएगा। परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहाँ उल्टा बिगाड़ होता है।”

इसी प्रसंग में सत्यार्थप्रकाशकार ने जातिभेद और वर्ण-व्यवस्था के पार्थक्य को स्पष्ट किया। न्यायदर्शन में जाति की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

समान प्रसवात्मिका जातिः ।। २। २। ६८

समान प्रसवधर्मा प्राणी एक ही जाति के होते हैं। इस प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी आदि

१. वर्ण व्यवस्था का स्पष्ट संकेत यजुर्वेद के पुरुषाध्याय में मिलता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।। ३१। ११

विभिन्न जातियाँ हैं। पशुओं में भी गाय, भैंस, ऊँट, कुत्ते, बिल्ली आदि को पृथक्-पृथक् जातियाँ कह सकते हैं। यह जाति-भेद मनुष्य-कृत न होकर ईश्वरकृत ही है क्योंकि ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार ही विभिन्न जीव स्व स्व कर्मानुसार भिन्न-भिन्न जातियों में जन्म ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य जाति में वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त भी वेदोक्त होने से ईश्वरीय ही माना जायेगा।

यह दूसरी बात है कि वर्ण-व्यवस्था की व्यावहारिक और प्रायोगिक सफलता समाज और राजव्यवस्था पर निर्भर करता है।^१ अतः वर्ण-व्यवस्था की आलोचना या निन्दा न कर उसके स्वस्थ रूप को पुनः प्रतिष्ठित करने की चेष्टा ही श्रेयस्कর है। भोजन-भेद को भी ईश्वरकृत माना जा सकता है। मनुष्य प्रकृतया शाकाहारी है किन्तु सिंह और कुत्ता स्वभावतः मांसाहारी हैं। मनुष्य ने भी देश काल और परिस्थिति के अनुसार भोजन में भेद कर रखा है। उसे औचित्य पूर्ण ही माना जाएगा। निष्कर्ष यह निकला कि आवेश में आकर ही जाति भेद और भोजन आदि के स्वस्थ परम्परागत बन्धनों और नियमों को तोड़ना जल्दबाजी ही होगा।

जब ब्रह्मसमाजियों ने यूरोपीय-व्यवहार रहन-सहन वेशभूषा आदि का अंधानुकरण करना आरम्भ-किया तो वे सम्भवतः यह समझते थे कि पश्चिम का यह सब अनुकरण प्रगति और उन्नति का द्योतक है। परन्तु ऐसा करते समय वे यह भूल जाते हैं कि खान-पान की ऊपरी एकता से ही कोई जाति या समाज बलवान् नहीं हो सकता। मुसलमानों में भी पानी पीने की एक ही पात्र का प्रयोग सबमें समान रूप से हो सकता है, वे एक ही थाली में बैठकर भोजन कर लेने में भी संकोच नहीं करते। परन्तु इससे यह धारणा बना लेना उचित नहीं होगा कि यह उनकी सामाजिक सुदृढता का कारण है। यूरोपियनों की उन्नति का कारण है उनका सुन्दर स्वास्थ्य, बाल-विवाह आदि बुराइयों का अभाव, शिक्षा की उन्नति, विवाह में स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार, पाखण्डों से दूर रहना, सामाजिक प्रश्नों का निश्चय सामाजिक स्तर पर ही करना, स्वदेश हित को सर्वोपरि मानकर उसकी सिद्धि हेतु तन, मन, धन न्यौछावर करने की तत्परता, आलस्य, त्याग और पुरुषार्थ की प्रवृत्ति। पश्चिमी जातियों के लोगों के स्वदेशानुराग का उदाहरण देते हुए स्वामी जी ने लिखा— ‘देखो, अपने देश के बने हुए जूते को आफिस और कचहरी में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं। इतने में ही समझ लेओ कि अपने देश के बने जूतों का कितना मान प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते।’

स्वामी जी ने भारत में निवास करने वाले यूरोपियनों के चाल-चलन, आचार व्यवहार

१. “इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त कराना राजा आदि सभ्यजनों का काम है।” सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लस

आदि को सूक्ष्मता से देखा था। उन्होंने अनुभव किया कि यद्यपि इन विदेशियों को इस देश में आये प्रायः दो शताब्दियाँ व्यतीत हो गई हैं किन्तु इन्होंने अपने वस्त्राच्छादन की स्वदेशी परिपाटी का त्याग नहीं किया है। ये लोग अभी भी मोटा वस्त्र धारण करते हैं जैसे अपने देश में पहनते हैं। नवीन फैशन को अंगीकार करने की प्रवृत्ति जैसी भारतवासियों में है वैसी इन विदेशियों में नहीं है। नकल बुरी होती है और विचारहीन होकर अनुकरण तो और भी घातक है। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय जातियों ने एशिया के अनेक पूर्वी देशों पर जिस प्रकार अपना राजनैतिक और आर्थिक आधिपत्य जमा लिया था उसके और कितने ही कारण क्यों न रहे हों, उसमें इन विदेशियों का अपना पौरुष बल, स्वदेश-निष्ठा आदि गुण भी थे। स्वामी दयानन्द ने उन्मुक्त भाव से परकीयों के इन गुणों का निस्संकोच भाव से बखान किया। इस प्रकार विदेशियों की बाह्य चमक-दमक और उनके आचार-व्यवहार से प्रभावित और आतंकित न होने की प्रेरणा करते हुए सत्यार्थप्रकाशकार ने ब्राह्म लोगों को सत्परामर्श दिया "इसलिए जो कुछ करना वह सोच-विचार करना चाहिए जिसमें पुनः पश्चात्ताप करना न पड़े। देखो, वैद्य और औषध की आवश्यकता रोगी के लिये है, नीरोग के लिये नहीं। विद्यावान् नीरोग और विद्या रहित अविद्या रोग से ग्रस्त रहता है। उस रोग से छुड़ाने के लिये सत्य विद्या और सत्योपदेश है।"

ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों की समीक्षा

प्रकारान्तर से स्वामी दयानन्द ने ब्रह्मसमाज के कतिपय अन्य सिद्धान्तों और मन्तव्यों की भी समालोचना की है। ब्रह्मसमाज ने ईश्वरीय ज्ञान के रूप में प्रामाणिकता प्रदान नहीं की। यद्यपि राममोहन राय ने वेदों की अपौरुषेयता को स्वीकार किया था तथा शास्त्र-प्रमाण-विचार में वेद की सर्वोपरि प्रामाणिकता भी मानी थी,^१ किन्तु कालान्तर में इस स्थिति में परिवर्तन हो गया। देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन के समय में ब्रह्मसमाज ने वेद प्रमाण को सर्वथा अस्वीकार कर दिया।^२ साथ-साथ यह भी कहना आरम्भ किया कि वेद के समान ही बाइबिल, कुरान आदि अन्य ग्रन्थ भी हमारे लिये प्रामाणिक और ग्राह्य हैं। यदि सत्यांश किसी भी ग्रन्थ में हो तो उसे स्वीकारने में किसी को विप्रतिपत्ति क्यों हो?

स्वामी दयानन्द यदि चाहते तो वेदप्रमाण-विषयक इस शंका या पूर्वपक्ष का

१. "A commonly received rule for ascertaining the authority of any book is this, that whatever book opposes the Veda, is destitute of authority." The Brahmunical Magazine No. 2P. 162.

२. "Members of the Brahma Samaj, after becoming better acquainted with their own sacred usage than they ever had been before, should solemnly have declared in the year 1850 that the claim of being divinely inspired could no longer be maintained in favour of the hymns of Brahmins or the Veda." Ram Mohan to Ram Krishna By Prof. F. Maxmuller. P. 64.

विस्तारपूर्वक शास्त्रीय विमर्शयुक्त समाधान कर सकते थे। किन्तु उन्होंने इसी ग्रन्थ के सातवें समुल्लास में वेदप्रमाण की व्याप्ति का व्यापक विचार किया था। अतः उसे पिष्टपेषणवत् पुनः लिखना अनावश्यक समझा। इतना अवश्य लिख दिया था कि मनुष्य स्वभाव से ही अल्पज्ञ है, वह सर्वज्ञ ईश्वरीय शक्ति की सहायता के अभाव में निरवलम्ब रहकर संसार-सागर में भटकता ही रहेगा यदि उसे वेदरूपी किसी नौका की सहायता न मिले। वेद युक्ति, प्रमाण तथा प्राकृतिक नियमों के सर्वथा अनुकूल हैं तथा उन्हें सर्वसत्य विद्याओं का मूल स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ब्राह्मसमाजियों का यह कथन कि हम सभी धर्म ग्रन्थों के अच्छे अंशों को ग्रहण करने के लिये स्वतंत्र हैं, अधिक युक्तिसंगत नहीं है। यद्यपि विभिन्न धर्मग्रन्थों में अनेक अंश ऐसे भी हैं जिन्हें निरपेक्ष भाव से ग्रहण करने में किसी में कोई कठिनाई नहीं होती किन्तु साथ ही यह भी स्मरण रखना उचित है कि इन ग्रन्थों में अनेक ऐसी बातें भी हैं जो संकीर्ण साम्प्रदायिकता, रूढ़िग्रस्त कर्मकाण्ड तथा युक्ति, तर्क एवं प्राकृतिक नियमों के विपरीत हैं। अतः 'विषादपि अमृतं ग्राह्यम्' वाली उक्ति को यथार्थ मानते हुए यह भी माना होगा कि 'विषसम्पृक्तान्वत्' ऐसे ग्रन्थ त्याज्य ही होते हैं। विभिन्न धर्मग्रन्थों के ग्राह्य अंशों को स्वीकार कर अपनी धर्म पुस्तक बनाने वाले ब्राह्मों को स्वामी जी 'सब घर के भिक्षुक' कहते हैं।

इससे भी महत्त्व की एक बात और है। स्वामी दयानन्द ने यह तथ्य पूर्णतया हृदयंगम कर लिया था कि भारत में जो कुछ भी धर्म-सुधार और समाज-संशोधन का कार्य किया जाएगा वह तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसके पीछे आर्य परम्परा का बल और शताब्दियों से यथावत् स्वीकार किये जाने वाले वैदिक प्रमाणवाद और वेद के अपौरुषेयता के सिद्धान्त की आधारशिला न हो। यह एक सर्वस्वीकृत सत्य है कि भारत में जन्मे,

१. देवी भागवत में वेद की प्रामाणिकता को लेकर कतिपय सुन्दर श्लोक लिखे गये हैं—

श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं यत्स धर्मः प्रकीर्तितः।

अन्य शास्त्रेण यः प्रोक्तो धर्माभासः स उच्यते ॥

जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों से प्रमाणित है वही धर्म कहलाता है। अन्य शास्त्रों के द्वारा कहा गया तो धर्माभास ही है, धर्म नहीं।

तस्मान्मुमुक्षुः धर्मार्थं सर्वथा वेदमाश्रयेत्।

राजाज्ञा च यथालोके हन्यते न कदाचन ॥

अतः मुमुक्षु को चाहिये कि धर्मार्थ के लिये वह वेद का ही आश्रय ग्रहण करे। जिस प्रकार राजाज्ञा का लोक में उल्लंघन नहीं होता उसी प्रकार वेदाज्ञा का भी उल्लंघन नहीं होता।

यो वेद धर्ममुत्सृज्य धर्ममन्यं समाश्रयेत्।

राजा प्रवासयेद देशान्निजादेतान् धर्मिणः ॥

जो वेद धर्म को छोड़कर अन्य धर्म का ग्रहण करता है राजा को चाहिये कि वह उस अधर्मी को अपने देश से निष्कासित कर दे।

पले और बढ़े सभी मतों और सम्प्रदायों ने वेद प्रमाण को येन केन प्रकारेण स्वीकार किया है। जैन, बौद्ध आदि जो धर्म वैदिक परम्पराओं से अपना समबन्ध विच्छेद कर बैठे वे भारत के मौलिक धर्म-चिन्तन से भी पृथक् हो गये तथा भारत में उनके प्रति उतनी श्रद्धा और निष्ठा नहीं रही जितनी वैदिक प्रमाण को स्वीकार करने वाले शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायों के प्रति रही। अतः स्वामी दयानन्द यह भली भाँति समझते थे कि यदि ब्रह्मसमाज भी देश की उन्नति को अपना लक्ष्य मानता है तो उसे कार्य आरम्भ करने से पूर्व अपना मार्ग निर्धारित करना होगा। यदि ब्राह्म लोग यह समझते हैं कि वेदादि परम्परागत शास्त्रों को ठुकरा कर वे बाइबिल, कुरान और अन्य मत ग्रन्थों के सुभाषितों और सूक्तियों से ही धर्मग्रन्थ का काम चला लेंगे, तो यह उनकी भूल है। स्वामी जी के अनुसार 'वेदादि शास्त्रों को माने बिना तुम अपने वचनों की सत्यता और असत्यता की परीक्षा और आर्यावर्त की उन्नति भी कभी कर सकते हो? जिस देश को रोग हुआ है, उसकी औषधि तुम्हारे पास नहीं और यूरोपीय लोग तुम्हारी अपेक्षा नहीं करते और आर्यावर्तीय लोग तुमको अन्य मतियों के सदृश समझते हैं।' इस प्रकार लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रह्मसमाजियों की स्थिति तो सर्वाधिक शोचनीय रही है। जिन यूरोपियनों का वे सर्वतोभावेन अनुकरण करना चाहते हैं वे ही उन्हें 'नेटिव' कहकर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, और जिन भारतवासियों के सुधार और उन्नति के लिये वे यत्नशील हैं उनका विश्वास-अर्जन अभी तक उन्होंने नहीं किया। अतः भारत के बृहत् जन समुदाय की दृष्टि में वे ईसाई भावापन्न एक विशिष्ट सम्प्रदाय मात्र से अधिक कुछ नहीं है।

ब्रह्मसमाज ने कालान्तर में यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि परम-सत्य परमात्मा-प्रेरित ही होता है। इस प्रकार वे ईश्वरीय आदेश को ही सर्वोपरि मानने लगे और किसी ग्रन्थ को प्रमाण कोटि में स्वीकार करना उनके लिये कठिन हो गया। इस पर स्वामी दयानन्द का कथन है कि यदि सत्य को परमात्मा-प्रेरित अथवा उसके द्वारा प्रकाशित मानना ही अभीष्ट हो तो ऋषियों की आत्माओं में प्रकाशित वेदज्ञान को ही परम सत्य मानने में क्या कठिनाई है?

ब्रह्मसमाज का अव्यवस्थित दर्शन

कुछ अन्य दार्शनिक मतभेदों की चर्चा भी आवश्यक है। वस्तुतः ब्रह्मसमाज में किसी सुव्यवस्थित दार्शनिक चिन्तन का विकास नहीं हो सका था। राममोहन राय उपनिषद् और वेद के आधार पर जीवेश्वर-भेद को स्वीकार करते थे। देवेन्द्रनाथ ने स्पष्ट ही

शांकर अद्वैतवाद और मायावाद को अस्वीकार कर दिया था। फिर भी ब्राह्म लोग, ईश्वर, जीव, प्रकृति, सृष्टि, उत्पत्ति, कर्म फल आदि के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा नहीं बना सके। संसार के उपादान कारण के रूप में जड़ प्रकृति को स्वीकार न कर बिना कारण के ही कार्यसृष्टि की उत्पत्ति माना और जीव को भी अनादि-अनन्त, स्वतन्त्र सत्ता न मानकर उसकी भी उत्पत्ति और विनाश मानना ब्राह्म दर्शन की न्यूनतायें हैं। वस्तुतः ईश्वर की ही भाँति जीव और प्रकृति की निरपेक्ष स्वतन्त्र सत्ता मानना आवश्यक है।^१

क्या पश्चात्ताप से पापनिवृत्ति होती है?

ब्राह्म धर्म में ईसाई-सिद्धान्तों का प्रायः अनुकरण पाया जाता है। जिस प्रकार ईसाई लोग पश्चात्ताप से पाप-निवृत्ति मानते हैं और ईसा पर विश्वास लाने तथा उसे ईश्वर-पुत्र मानने मात्र से ही मनुष्य के पाप ताप संतापों का दूर होना स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार ब्राह्म लोगों ने भी विशेषतः केशव के नेतृत्व वाले ब्राह्मों ने पश्चात्ताप और प्रार्थना से पाप-निवृत्ति मानी है। परन्तु यह सिद्धांत अमान्य है। प्रायः सभी साम्प्रदायिक मतवादी लोग किसी न किसी आस्था, विश्वास तथा निष्ठा का स्वीकार कर लेना ही मनुष्य-जीवन की चरम सार्थकता समझ बैठे हैं। ऐसे सभी सम्प्रदायों में पाप-निवृत्ति और अपवर्ग-प्राप्ति के सुगम और सहज उपाय बताये गये हैं। यथा पुराणमतवादियों ने तीर्थ स्नान, व्रतोपवास और नाम स्मरण को मुक्ति का हेतु ठहराया तो ईसाई लोग भी खुदा के इकलौते बेटे ईसा पर ईमान लाना मनुष्य के इहलौकिक और पारलौकिक सुख का कारण मान बैठे। परन्तु वैदिक सिद्धान्त तो 'कर्म का निश्चित फल कर्मकर्त्ता को मिलता है।' यह स्वीकार करता है। पश्चात्ताप या प्रार्थना से पूर्व कृत पाप नष्ट नहीं होते। "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" का सिद्धान्त ही तर्कपूर्ण है। यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर बिना दण्डित किये ही पापी और अपराधी को क्षमा कर देता है, तो इससे उसके न्यायकारी होने को आँच आती है। जीव भी ससीम है। अतः अनन्त उन्नति उसके लिये सम्भव नहीं है। ईसाइयों की भाँति ईश्वर की दयालुता का ढिंढोरा पीटना किन्तु उसकी न्यायशीलता को भुलाना ब्रह्मसमाज के लिये उचित नहीं है। न तो पश्चात्ताप और प्रार्थना से कृत कर्मों का सर्वथा विनाश ही होता है और न ससीम कर्मों का असीम फल मिलता है।

स्वाभाविक ज्ञान पर्याप्त नहीं

स्वाभाविक ज्ञान को ब्राह्म लोगों ने नैमित्तिक ज्ञान से भी बढ़ कर माना। उनकी

१. वेद ने 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋग्वेद १। १६४। २०) आदि मंत्रों में ईश्वर जीव एवं प्रकृति का स्पष्ट पार्वत्य दर्शाया है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् के 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णा' आदि वाक्यों में भी त्रैतवाद का प्रतिपादन किया गया है।

दृष्टि में ऋषियों और प्राचीन परम्परा से प्राप्त होने के कारण वेद का ज्ञान भी नैमित्तिक ही है। स्वाभाविक ज्ञान सहज, स्वभाव-सिद्ध और प्रकृतिदत्त होने के कारण उत्कृष्ट है। परन्तु ऐसा कहते समय वे यह भूल जाते हैं कि स्वाभाविक ज्ञान से ही मानव का काम नहीं चल सकता उसे नैमित्तिक ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। स्वाभाविक ज्ञान तो सीमित मात्रा में मनुष्य मात्र को उपलब्ध होता ही है। पुनः उसी को गुरुजनों अथवा पुरातन सत्य ज्ञान के भण्डार शास्त्र-ग्रन्थों से जब तक बढ़ाया नहीं जाता और पुष्ट एवं परिपक्व ही नहीं कर लिया जाता तब तक मानव स्वकर्तव्यों की सर्वांगीण पूर्ति में असमर्थ रहता है। जिस प्रकार एक अज्ञ बालक क स्थिति होती है, उसी प्रकार की दशा प्राकृतिक सहज ज्ञान-प्राप्त मनुष्य की होती है। बालक जैसे आगे चल कर कर्तव्याकर्तव्य और धर्माधर्म का ज्ञान अपने गुरुओं और शिक्षकों से ग्रहण करता है। उसी प्रकार सहजज्ञानसम्पन्न मनुष्य को भी वैदिक ज्ञान की अपेक्षा रहती है, जिसके अभाव में वह कर्तव्य और धर्म का पाठ नहीं सीख सकता।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त अवश्य माननीय है

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है ब्राह्म दर्शन और मान्यतायें अत्यन्त अस्त-व्यस्त, अव्यवस्थित और वैदिक परम्पराओं से अननुमोदित थीं। ब्राह्म लोगों ने ईसाइयत और इस्लाम की सैमेटिक विचारधारा से प्रभावित होकर पुनर्जन्म के वैज्ञानिक सिद्धान्त को भी धता बता दी। पुनर्जन्म की चर्चा 'सत्यार्थप्रकाश' में पूर्व ही की जा चुकी है।^१ अतः उसका यहाँ विस्तार न कर श्री महाराज ने इतना ही लिखा कि "पूर्वापर जन्म न मानने से कृतहानि और अकृताभ्यागम नैर्घृण्य और वैषम्य दोष भी ईश्वर में आते हैं।" ईश्वर जीव के कर्मफलानुसार ही उसे आगामी जन्म देता है। पाप-पुण्यानुसार ही जीव अनेक योनियों में जन्म ग्रहण करता है। यह ईश्वर की न्याय और दया का ही उत्कृष्ट चमत्कार है। आज विश्व के सभी जागरूक और विचारशील लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करने लगे हैं।

देवता और अग्निहोत्र

ब्राह्मसमाज की कुछ अन्य धार्मिक मान्यतायें भी आलोचना की अपेक्षा रखती हैं। बुद्धिवाद के अतिरेक के कारण ब्राह्मों ने देवता और देव संज्ञक पदार्थों की सर्वथा अवहेलना की और किसी अलौकिक देवसत्ता के प्रति विश्वास रखने से इन्कार किया। परन्तु आर्यसमाज और उसके प्रवर्तक की देवता विषयक धारणायें नितान्त तर्कपूर्ण और युक्तिसंगत हैं। दिव्य गुण धारण करने वाले पदार्थ ही देव संज्ञा के अधिकारी हैं।^२ इस प्रकार सूर्य,

१. नवम समुल्लास ने पुनर्जन्म का विवेचन हुआ है।

२. देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्यु स्थानो भवतीति वा। निरुक्त ७। ७५

चन्द्र आदि नक्षत्र भी जड़ देवता हैं जिनका यथार्थ उपयोग ग्रहण ही उनकी वास्तविक पूजा है। जन्मदाता माता, पिता और ज्ञानदाता गुरु आचार्य भी देवता हैं जिनका आदर सत्कार ही उनकी पूजा है। परात्पर देव परमात्मा भी 'महादेव' शब्द से अभिहित होता है। अतः ब्रह्मसमाज की देवताविषयक निषेधात्मक मान्यता निस्सार है।

ब्रह्मसमाज ने मूर्तिपूजा का निषेध किया तथा उसे पुरातन उपनिषद्-प्रतिपादित उपासना-प्रणाली का विरोधी बताया। यहाँ तक तो ठीक, किन्तु ब्राह्म लोगों ने अग्निहोत्र, यज्ञ यागादि वैदिक कर्मकाण्ड को मूर्तिपूजा के अन्तर्गत मानकर एक बड़ी भूल की। राममोहन राय ने यज्ञ के सम्बन्ध में अपनी कोई विधेयात्मक अथवा निषेधात्मक धारणा व्यक्त नहीं की थी। परन्तु परवर्ती ब्राह्मों ने इसे भी मूर्तिपूजा के तुल्य ही मान कर एक उपयोगी क्रियाकाण्ड को तिलांजलि दे दी। स्वामी दयानन्द ने तो अग्निहोत्र को परम लोकोपकारक तथा विश्व ब्रह्माण्ड के लिये उपयोगी सिद्ध किया। उन्होंने यज्ञ की अदृष्टपरक व्याख्या को स्वीकार करने के साथ-साथ उसके द्वारा वातावरण की शुद्धि, वर्षा होना आदि भौतिक लाभों को भी सिद्ध किया। इसी प्रकार यज्ञोपवीत के विरोध को भी स्वामी जी ने उचित नहीं माना। हम यह देख चुके हैं कि यज्ञोपवीत के प्रश्न को लेकर ब्रह्मसमाज में फूट पड़ी थी। राजा राममोहन राय आजन्म यज्ञोपवीत धारण करते रहे। उनकी मृत्यु के समय तक उनके शरीर पर यज्ञोपवीत था। देवेन्द्रनाथ भी यज्ञोपवीत धारण को एक आर्योचित कर्तव्य समझते थे किन्तु केशवचन्द्र की बातों में आकर उन्होंने यज्ञोपवीतधारी पुरोहित और आचार्यों का ब्राह्म वेदी पर बैठ कर उपदेश देना रुकवा दिया। इसकी जो भीषण प्रतिक्रिया ब्राह्म लोगों में हुई उसी ने ब्रह्मसमाज में विघटन के बीज बोये। देवेन्द्रनाथ को पुनः प्राचीनता के पोषक ब्राह्मों का साथ देना पड़ा जो 'आदि ब्रह्मसमाज' के नाम से संगठित हो गये थे। इधर केशव ने अपने तथाकथित प्रगतिशील ब्राह्म अनुयायियों के साथ "भारतवर्षीय ब्रह्म समाज" का गठन किया।

यज्ञोपवीत के प्रति इस विरक्ति को देखकर स्वामी जी ने लिखा— "और जो विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत और शिखा को छोड़ मुसलमान ईसाइयों के सदृश बन बैठना व्यर्थ है। जब पतलून आदि वस्त्र पहिरते हो और तमगों की इच्छा करते हो तो क्या यज्ञोपवीत आदि का कुछ बड़ा भार हो गया है।" ब्राह्म लोगों की स्वदेश-निष्ठा में चाहे शंका न की जा सके, किन्तु यह तो निश्चित है कि उन्होंने अपने आपको स्वदेशी परम्परा से विच्छिन्न कर लिया था। केशवचन्द्र अपने युग के अद्वितीय वाग्मी थे। परन्तु उन्होंने अपने भाषणों में ईसा का ही गुणगान किया, भूलकर भी एतद्देशीय ऋषियों और विद्वानों के प्रति प्रशंसापूर्ण उद्गार व्यक्त नहीं किये। क्या इसे पक्षपात और खुशामद नहीं कहा जा सकता?

इस प्रकार महाभारत-काल के पश्चात्पूर्वी युग से आर्यावर्त में जो धर्म की अधोगति आरम्भ हुई तथा जिसके परिणामस्वरूप समाज और राष्ट्र में सर्वत्र पतन, आलस्य, प्रमाद, निराशा और कुण्ठा का वातावरण बना, उसने हमारे देश को सार्वत्रिक विनाश की किस स्थिति तक पहुँचाया है, इसका समग्ररूप से दिग्दर्शन कराने के पश्चात् स्वामी दयानन्द ने स्वस्थापित आर्यसमाज के साथ मिलकर धर्म, समाज, राष्ट्र और मानवता के बहुमुखी कल्याण में योग देने का आह्वान करते हुए लिखा— “इसलिए जो उन्नति करना चाहो तो आर्यसमाज के साथ मिलकर उनके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिए, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा।” उनकी यह सुदृढ़ धारणा बन चुकी थी कि देश का मंगल और हित आर्यसमाज के साथ बंध चुका है। अतः वे कहते हैं— “हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें।” देश के हितसाधन में आर्यसमाज की उपयोगिता निर्विवाद है— “जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है वैसा दूसरा नहीं हो सकता। यदि इस समाज का सौभाग्य बढ़ाना समुदाय का काम है, एक का नहीं।” अब तक जो कुछ स्वदेश और जातिहित का कार्य भारत में हो रहा था वह कुछ व्यक्तियों के प्रयत्नों तक ही सीमित था। परन्तु अपने भक्तों, प्रशंसकों और अनुयायियों के परामर्श से जब स्वामी दयानन्द ने १० अप्रैल, १८७५ को भारत की महानगरी बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की तो मानो समाज सुधार, धर्म संशोधन और राष्ट्र निर्माण को एक नवीन आयाम ही मिल गया। इस प्रकार सुधार-कार्य में समाज के सम्पूर्ण घटकों को साथ लेकर चलना और समष्टि के स्तर पर देश की उन्नति की चर्चा करना आर्यसमाज का प्रमुख लक्ष्य बना। ‘सत्यार्थप्रकाश’ के लेखनकाल तक आर्यसमाज अपने शैशवकाल में ही था। निकट भविष्य में वह किस प्रकार देश के नवनिर्माण और समाज के सार्वत्रिक उत्थान में अपनी महत्वशाली भूमिका निभायेगा यह कहना उस समय कठिन था। अतः स्वामी जी ने आर्यसमाज का साथ देने का आह्वान करके ही अपनी बात समाप्त कर दी।

ब्रह्मसमाज विषयक समीक्षात्मक ग्रन्थ :

१. असरार ए ब्रह्मपन्थ (उर्दू) — मेहता राधाकृष्ण

२. ब्राह्ममत परीक्षा — भीमसेन शर्मा

३. महर्षि दयानन्द और राजा राममोहन राय — डा. भवानीलाल भारतीय □

१९ धर्म और सम्प्रदाय का अन्तर

यहाँ तक आते-आते आर्यावर्तीय मत-मतान्तरों की समीक्षा का कार्य समाप्त हुआ । परन्तु लेखक यह जानता था कि उसके समीक्षण कार्य के हेतु और औचित्य को लेकर नाना प्रकार की शंकायें की जायेंगी, लोग यह समझ ही नहीं पायेंगे कि किस प्रकार एतद्देशीय मतों का ही विस्तृत खण्डन करने में ग्रन्थकार का क्या लक्ष्य और प्रयोजन था । कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो सबको संतुष्ट रखना ही समाज के लिए हितकर मानते हैं । इनका सिद्धान्त है— रामाय स्वस्ति, रावणायाऽपि स्वस्ति । स्वामी दयानन्द इस सिद्धान्त को नहीं मानते । उनकी दृष्टि में धर्म, सत्य और न्याय का बेलाग समर्थन आवश्यक है । धर्म का यदि हम व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ लें तो वह मनुष्य के लिए आचरण योग्य कर्त्तव्य का ही प्रतीक बन जाता है । उस दृष्टि से मानव जाति का आचरणीय धर्म एक ही होगा और इसके विपरीत जितने मत, पन्थ, सम्प्रदाय आदि हैं वे अधर्म फलतः अनाचरणीय एवं निन्दनीय हो जायेंगे । यह कह जाने पर कि 'आप सबका खण्डन करते ही आते हो, परन्तु अपने-अपने धर्म में सब अच्छे हैं, खण्डन किसी का न करना चाहिए' स्वामी जी ने स्पष्ट किया— "धर्म और अधर्म एक ही हैं अनेक नहीं ।" पुनः नाना मत पन्थों का प्रचलन क्यों हुआ? इसे स्पष्ट करने के लिये स्वामी जी ने पन्थाइयों और जिज्ञासु का एक रोचक, ज्ञान वर्धक दृष्टान्त उपस्थित किया ।

कोई जिज्ञासु राजा संसार में विद्यमान सभी मत-पन्थों के अधिष्ठाताओं को एकत्र कर उनसे सत्य धर्म की जिज्ञासा करे तो यह सुनिश्चित है कि सभी साम्प्रदायिक मठाधीश अपने-अपने मत-सम्प्रदाय की ही प्रशंसा करेंगे, उसे ही श्रेष्ठ ठहरायेंगे और उसी में दीक्षित होने की संस्तुति भी करेंगे । इस जिज्ञासु ने क्रम से वाममार्गी, वेदान्ती, जैनी, मुसलमान, वैष्णव, कबीरपंथी, नानकपंथी, वल्लभाचारी, सहजानन्दी, मध्व अनुयायी आदि सभी के समीप जाकर धर्म को जानना चाहा तो सभी के उत्तर एक से ही थे । उन्होंने अपनी धारणाओं और मान्यताओं को ही एकान्त सत्य बताया तथा अवान्तर साम्प्रदायिक निष्ठाओं को प्रवचनापूर्ण, धोखा तथा छल प्रदूषित कहा । फलतः वह जब साम्प्रदायिक घटाटोप से आच्छन्न गुरुडम से सर्वथा निराश होकर उपनिषद् वर्णित मुमुक्षु की भाँति समित्पाणि होकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय (विदवेत्ता) की शरण में जाता है तो उसे ज्ञात होता है कि अब तक वह जिस साम्प्रदायिक वातावरण में भ्रमण कर रहा था वह स्वार्थी मनुष्यों द्वारा निर्मित चापलूसी और आत्म श्लाघा से भरपूर था । सम्प्रदायों के पूर्वाग्रह से ग्रस्त लोगों की यह प्रवृत्ति होती है कि वे वास्तविकता को छिपाकर अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए मानव को भटकाने की यथासाध्य चेष्टा करते हैं ।

परन्तु इस आप्त गुरु ने सत्यासत्य, धर्माधर्म और कर्त्तव्याकर्त्तव्य को जानने की एक

१. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्, समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।

ऐसी कसौटी जिज्ञासु को बताई जिससे काम में लेकर वह यह जान सका कि जिन तत्त्वों और पदार्थों को धर्म का मौलिक अंग कहा जाता है, उन्हें स्वीकार करने और आचरण करने की शिक्षा देने में तो प्रायः सभी धर्म कहलाने वाले मत पन्थ एकमत हैं। अब झगड़ा केवल उन्हीं बातों का रह जाता है जो प्रत्येक मत-सम्प्रदाय के बाह्याचारों, रूढ़ियों और कर्मकाण्डों से सम्बन्धित होती हैं। यह सत्य है कि यदि सम्प्रदायों के आचार्यगण इन बाह्य आचारों के पालन, रूढ़ियों और कर्मकाण्ड के क्रियान्वयन पर जोर न दें तो धर्म के नाम पर चलने वाला उनका यह सारा व्यवसाय और उनकी सिद्धाई ही समाप्त हो जायगी। इसी धारणा के अनुसार जब जिज्ञासु ने उन सहस्राधिक मतों के आचार्यों की मण्डली के बीच में खड़े होकर सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि के सम्बन्ध में पूछा तो सभी ने उन्हें ग्रहण करने और आचरण के योग्य ठहराया और इसी प्रकार अविद्या, व्यभिचार, कुसंग, आलस्य, असत्याचरण, छल, कपट, हिंसा और परहानि को निन्दनीय एवं त्याज्य कहा। परन्तु जब उनसे पूछा गया कि यह जानते हुए भी कि सत्य, धर्म और न्याय क्या हैं वे उसकी उन्नति और प्रचार में संलग्न क्यों नहीं होते और मिथ्याचार एवं अनाचरणीय कृत्यों की जानकारी रखते हुए भी स्वयं उससे विरत हो अन्यो को भी विरत करने की चेष्टा क्यों नहीं करते, सम्प्रदायाचार्यों ने स्पष्ट उत्तर दिया—“जो हम ऐसा करें तो हमको कौन पूछे? हमारे चले हमारी आज्ञा में न रहें, जीविका नष्ट हो जाए आदि।” स्पष्ट हुआ कि मत-सम्प्रदाय का आग्रह मनुष्य के क्षुद्रतम स्वार्थों से ही प्रेरित होता है। ऐसे लोग न तो शासक की ही परवाह करते हैं और न इन्हें परलोक या परमात्मा का ही भय होता है। कारण कि ये इतने चालाक और धूर्त होते हैं कि शासक को भी अपने वश में कर लेना इनके लिये सहज होता है। जहाँ तक परलोक और ईश्वर का सम्बन्ध है, इन्हीं नामों से संसार को प्रवंचित करने वाले लोग स्वयं परलोक या ईश्वर के प्रति कोई आस्था या विश्वास ही नहीं रखते। उनका सिद्धान्त है “रोटी खाइये शक्कर से, दुनिया ठगिये भक्कर से।”

ये स्वार्थपरायण लोग न राजा की परवाह करते हैं और न प्रजा की। ये जानते हैं कि जब तक राजा और प्रजा मूढ़, अज्ञ और स्वार्थ लिप्त रहेंगे तब तक उन्हें क्या चिन्ता है? उन्हें अपना भण्डा फूटने का डर भी क्यों हो जब कि वे जानते हैं कि साम्प्रतिक परिस्थिति में अज्ञान, अविद्या और जागृति के अभाव में सभी लोग सुप्त अथवा प्रमत्त-तुल्य दिङ्मूढ़ हो रहे हैं। वे यह भी अनुभव करते हैं कि जब बिना पढ़े-पढ़ाये अपनी छल विद्या के बल पर ही वे टके सीधे कर लेते हैं तो सतत अभ्यास से प्राप्त होने वाले ज्ञान और विद्या की प्राप्ति हेतु वे पुरुषार्थ क्यों करें? ऐसे लोगों के लिए टका ही धर्म और टका ही कर्म होता है। लक्ष्मीप्राप्ति ही उनके लिए परम पुरुषार्थ है। लक्ष्मी के प्रति सामान्य व्यक्ति का मोह तो समझ में आने वाली बात है, परन्तु जब धर्म का पाठ पढ़ाने वाले भी धन को धर्म और परम पद का पर्याय बना देते हैं तो कुछ भी कहना सम्भव नहीं। स्वामी जी ने अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण शैली में रुपये की रजत मुद्रा को ही षोडशकला-पूर्ण भगवान्

का रूप मानने वालों के प्रति कटाक्ष करते हुए यह श्लोक लिखा—

आना अंश कलाः प्रोक्ता रूप्योऽसौ भगवान् स्वयं ।

अतस्तं सर्वमिच्छन्ति रूप्यं हि गुणवत्तमम् । ।

१६ आने जिसके अंश हैं और पैसे, कौड़ी आदि जिसकी कलायें हैं, उन्हें धारण करने वाला यह रूपया ही साक्षात् भगवान् है । उसे ही सब कोई प्राप्त करना चाहते हैं । गुण गरिमा से भरपूर यह रूपया ही है ।

नाना तर्क-वितर्क करने के पश्चात् भी सम्प्रदायों के अधीश्वरगण अपनी भूल स्वीकार नहीं करते । उनका अन्तिम तर्क होता है कि संसार में एक मत (धर्म) की स्थापना तो असम्भव ही है । क्योंकि मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभावादि भी भिन्न होते हैं । पुनः एक धर्म की स्थापना के लिये प्रयत्नशील होने में क्या लाभ है ? स्वामी दयानन्द की धारणा इससे नितान्त भिन्न है । वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि यदि बाल्यावस्था से ही सबको एक-सी शिक्षा दी जाय, सत्यभाषणादि धर्म को ग्रहण करने और असत्य भाषण रूपी अधर्म को त्यागने के लिये सब लोग तत्पर रहें, तो कोई कारण नहीं कि संसार में एकमत होना सम्भव न हो अन्यथा संसार की प्रचलित रीति के अनुसार धर्म और अधर्म, न्याय और अन्याय, सत्य और असत्य तो सदा से ही इस पृथ्वी पर रहते आये हैं । देखना यह है कि इनमें किसका पलड़ा भारी रहता है ? सत्य, न्याय और धर्म का अथवा असत्य, अन्याय और अधर्म का, क्यों नहीं सत्य और न्याय को विजयी बनाने के लिये हम प्रयत्नशील हों ।

यह कहना तो व्यर्थ ही है कि कलियुग ही सारी विकृतियों और अभिशापों के लिये उत्तरदायी है । कलियुग तो काल का ही एक अंश है जो स्वयं निष्क्रिय होने से धर्माधर्म के लिये न साधक है औन न बाधक । अतः मनुष्य अपनी कर्मशीलता को त्यागकर ही अच्छे-बुरे के लिये कलियुग को उत्तददायी ठहराये, यह अनुचित है । दृष्टान्त की समाप्ति पर आप्त विद्वान् ने यह धारणा व्यक्त कि कि विद्वानों और संन्यासियों को चाहिए कि वे सत्यधर्म के प्रचार और मिथ्या रीति नीति के विरोध में बद्ध परिकर हों । □

१. सत्य, न्याय और धर्म को विजयी बनाना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है असत्य, अन्याय और अधर्म की प्रवृत्तियों को पराजित करने के लिये भी सचेष्ट होना । स्वामी दयानन्द ने इस सम्बन्ध में कितने क्रान्तदर्शी विचार व्यक्त किये हैं— 'मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्धों के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे । अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे । इतना ही नहीं, किंतु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वे महाअनाथ, निर्बल, और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, अनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे ।'

—स्वमन्तमव्यामन्तव्य प्रकाश

२० प्रचलित ब्रह्मचर्य-संन्यास-समीक्षा

भारत में ब्रह्मचर्य और संन्यास आश्रम में रहकर समाज एवं लोकहित के लिये समर्पणपूर्वक कार्य करने की परिपाटी प्राचीन काल में विद्यमान थी। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेने वाले ब्रह्मचारी विद्या, तप एवं वैराग्य से परिपूर्ण होकर उपदेशक के कार्य निर्वाह हेतु कार्य की क्षेत्र में उतर पड़ते थे।^१ इसी प्रकार संन्यासियों से भी यही अपेक्षा की जाती थी कि वे संसार के सभी आकर्षणों एवं मोह, माया, ममता से मुक्त होकर लोकहित एवं बहुजन-कल्याण के लिये अपने आपको समर्पित कर देंगे। परन्तु आज स्थिति विपरीत है। ब्रह्मचारी लोग नाम के ही ब्रह्मचारी हैं। वे व्यर्थ ही जटायेँ बढ़ायेँ, यत्र तत्र निरर्थक भ्रमण करते हैं। विद्या और तपस्या का लेशमात्र भी उनमें नहीं होता। ब्रह्मचर्य-काल में ही यदि वेदाभ्यास नहीं किया गया तो इस आश्रम में दीक्षित होने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। भारत के साम्प्रतिक काल के चतुर्थाश्रमियों की दशा भी नितान्त सोचनीय है। उनका काम रह गया है विद्याहीन होकर व्यर्थ अटन करना, जल, स्थल, पाषाणादि का दर्शन, पूजन करना और अपने जीवन को नष्ट करना। इनमें जो पठित संन्यासी हैं, उनमें भी कर्त्तव्य बोध लेशमात्र भी नहीं है। विद्यावान् होते हुए भी वे मौन धारण करने का आडम्बर करते हैं। वेद और विद्या का प्रचार इन्हें अभीष्ट नहीं। पाखण्ड, आडम्बर और कदाचारों का विरोध करने में ही उनकी जिह्वा मौन रहती है। ये नाम के ही संन्यासी हैं। क्योंकि केवल काषाय वस्त्र तथा दण्ड, कमण्डलु का धारण ही संन्यासी के लिए पर्याप्त नहीं है। उसे अपनी आत्मा को भी लोकहित को प्रज्वलित अग्नि में उद्दीप्त करना है। तभी वे अपने काषाय वस्त्रों को सार्थक करता है। स्वयं संन्यासी होने के कारण स्वामी दयानन्द के लिए तो यह और भी आवश्यक था कि वे अपने ही आश्रम के लोगों के कर्त्तव्यों का उचित विधान करते।

प्रचलित संन्यास प्रथा—

भारत में संन्यासाश्रम की कतिपय प्रथायें शंकराचार्य द्वारा प्रचलित की गईं। संन्यासियों के आचार-विचार तथा उनके अन्य विधि-विधान भी शांकर मठों के द्वारा ही प्रचारित

१. स्वयं स्वामी दयानन्द ने भी संन्यास ग्रहण करने से पूर्व नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा ली थी। उस समय उनका नाम "शुद्ध चैतन्य" रखा गया।

हुये हैं। संन्यासी गण अपने नाम के आगे गुरु परम्परानुसार निम्न दस नामों में से कोई एक नाम जोड़ लेते हैं— गिरि, पुरी, भारती, सरस्वती, वन, पर्वत, अरण्य, तीर्थ, सागर और आश्रम। मध्यकालीन संन्यासियों ने युग की माँग के अनुसार अनेक संगठन किये। कभी-कभी उन्हें युद्ध भी करने पड़े। इनकी मण्डलियाँ और जमातें सर्वत्र घूमती रहती हैं। प्रायः संन्यासी शांकर अद्वैतमत का ही प्रचार करते हैं। रुद्राक्ष और भस्म धारण शैवमत का अनुगमन उनका सहज आचरण है। स्वामी दयानन्द तो स्वयं प्रचलित रीति के अनुसार ही चतुर्थाश्रम की दीक्षा लेकर संन्यासी हुए थे।^१ उन्होंने वर्षों तक इन साधु-संन्यासियों के बीच रहकर उनके गुण-दोषों को निकटता से देखा। साधुओं की जमातों और दशनामी संन्यासियों की मण्डलियों और उनके महन्तों के गुणावगुणों से वे भली भाँति परिचित थे। उन्हें प्रचलित संन्यास-प्रणाली में निम्न दोष दिखाई दिये :-

१. गिरि, पुरी आदि दशनाम पीछे से कल्पित किये गये हैं, वे सनातन नहीं हैं।

२. मण्डली बाँधकर चलना संन्यासी के लिये अनुचित है। प्रायः भोजन की सुविधा के लिए ही निठल्ले और अकर्मण्य साधु इन मण्डलियों में सम्मिलित हो जाते हैं। मण्डली के महन्त-प्रधान साधु की आज्ञा के वशवर्ती होकर अन्य साधु चलते हैं। प्रधान साधु की आज्ञा की अवहेलना करना अनुशासन भंग माना जाता है।

३. शैव सम्प्रदाय का अभिमान रखकर शंकराचार्योक्त मत का मण्डन तथा चक्रांकित वैष्णवों के मत का खण्डन एकांगी कर्तव्य है। अच्छा होता यदि ये साधुगण देश में प्रचलित सभी मत पन्थों के पाखण्डों का खण्डन करने में अपने पुरुषार्थ का प्रदर्शन करते। कई संन्यासी तो खण्डन-मण्डन को भी प्रवृत्तिमार्ग का ही एक रूप मानते हैं। वे अपने आपको साधना के अत्युच्च धरातल पर प्रतिष्ठित वीतराग समझकर लोकहित से पराङ्मुख हो बैठते हैं। स्वामी दयानन्द के अनुसार ऐसे लोग भी संन्यास आश्रम के लिए कलंक तथा संसार के लिए भार रूप हैं।

४. अधिकांश साधु लोक, पुत्र और वित्त की आकांक्षा से ऊपर नहीं उठ पाये हैं। जब वे त्रिविध एषणाओं का त्याग ही नहीं कर सके,^२ तो संन्यासी बनकर वे व्यर्थ ही भू-भार को बढ़ायेंगे।

देश की तत्कालीन शोचनीय स्थिति और संन्यासी वर्ग को कर्तव्याचरण से विमुख एवं पथभ्रष्ट देखकर स्वामी जी उन्हें उद्बोधन देते हुए लिखते हैं— ‘दिखो, तुम्हारे सामने

१. पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास ग्रहण कर शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी ने ‘दयानन्द सरस्वती’ नाम ग्रहण किया।

२. संन्यास ग्रहण करते समय चतुर्थाश्रमी को निम्न प्रतिज्ञा लेनी होती है—

पुत्रपेणा वित्तपेणा लोकपेणा मया परित्यक्ता। भक्तः सर्वभूतेभ्योऽभयस्तु।।

— (संस्कार विधि : संन्यासप्रकरण)

पाखण्ड मत बढ़ते जाते हैं, ईसाई, मुसलमान तक होते जाते हैं। तनिक भी तुमसे अपने घर की रक्षा और दूसरों को मिलाना नहीं बन सकता। बने तो जब तुम करना चाहो।'' भारत के साधु समाज में प्रचलित ठग विद्याओं का पर्दाफाश करने से भी स्वामी जी नहीं चूके। पुत्रहीना नारी को संतान देना, धनहीन को धन प्राप्ति के उपाय बताना, गड़ा खजाना बताना, मुकदमे में सफलता, रोगमुक्ति आदि के अनेक टोने टोटके साधु वर्ग में प्रचलित हैं। यह सब भोले लोगों से धन हरने के उपाय हैं जो साधु समाज के लिए कलंक के तुल्य हैं, सिद्ध और साधक बनकर इन तथाकथित साधुओं ने समस्त देश में अपना मायाजाल फैला रखा है। साधकों का काम है सिद्ध गुरु की ख्याति का प्रसार करना, मूढ़ और अज्ञानों को उनके इर्द-गिर्द एकत्रित करना और पुत्र, धन, आरोग्य के नाम पर उन्हें उल्टे उस्तरे से मूँड़ना। इस प्रकार इस धूर्त मण्डली का सुनियोजित षड्यन्त्र सफलीभूत होता है। इस प्रकार वंचना और ढोंग फैलाकर भारत के इन तथा-कथित साधुओं ने देश का जितना अकल्याण किया है, उसकी कल्पना भी दुष्कर है। निश्चय ही प्रचलित अज्ञान, अंधविश्वास और अविद्या के निवारण के लिए लोगों को शिक्षित करना होगा, उनके मूढ़ विश्वासों को समाप्त करना होगा तभी पाखण्ड जाल की समाप्ति होगी और देश उत्कर्षगामी होगा, यही सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास की फलश्रुति है।

पठनीय साहित्य—

१. आजकल के साधुओं की करतूत — ज्वाला सहाय
२. आजकल के साधु — शंकर शर्मा, व्यास

□

उपसंहार

‘सत्यार्थप्रकाश’ के एकादश समुल्लास में स्वामी दयानन्द ने आर्यावर्त देश के प्रचलित मत-मतान्तरों की समीक्षा लिखने का जो महत्त्वपूर्ण दायित्व लिया था, उसे उन्होंने पूर्ण किया। वाम मार्ग के प्रचलन से लेकर ब्रह्मसमाज के अभ्युदय तक की धार्मिक हलचलों को उन्होंने प्रमाणपुरस्सर सटीक ढंग से उपस्थित किया। इस प्रकार लगभग ५ हजार वर्षों तक का भारत के धार्मिक चिन्तन और व्यवहार का लेखा-जोखा इस अध्याय में सतर्क और सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। सम्भवतः खण्डन-मण्डन के इस विशद विवरण को पढ़ते-पढ़ते पाठक अपने मन में कोई निराशा, अवसाद और कुण्ठा का वातावरण न बना लें इसलिए अध्याय के अन्त में लेखक ने आर्यावर्त के उन राजाओं की एक वंशावली प्रस्तुत की जिन्होंने महाभारत के समाप्त होने से लेकर पृथ्वीराज चौहान पर्यन्त भारत पर स्वाधीन राज्य किया। यह वंशावली युधिष्ठिर से आरम्भ होती है जिन्होंने कौरवों को युद्ध में पराजित कर हस्तिनापुर का शासन संभाला था। युधिष्ठिर के हिमालय-गमन के पश्चात् अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित गद्दी पर बैठा। परीक्षित के दिवंगत होने पर जनमेजय हस्तिनापुर का राजा बना। महाभारत की रचना जनमेजय के काल में ही हुई थी। स्वामी जी को यह राज वंशावली नाथद्वारा (राजस्थान) से प्रकाशित होने वाली हरिश्चन्द्रचन्द्रिका (कालान्तर में यह मोहनचन्द्रिका के नाम से प्रकाशित होने लगी थी) से प्राप्त हुई थी। इस वंशावली को सम्पादक ने १७८२ वि० की लिखी एक हस्तलिखित पुस्तक से उद्धृत कर अपनी पत्रिका के मार्गशीर्ष सं० १९३९ (किरण १९-२०) के दो पाक्षिक अंकों में प्रकाशित किया। राज वंशावली में प्रत्येक राजा के शासनकाल के वर्ष, मास तथा दिन तक की संख्या दी गई है तथा बीच-बीच में होने वाले राजनैतिक परिवर्तनों को भी सूचित किया है। लगभग १२४ राजाओं की यह वंशावली चार हजार वर्षों की अवधि तक के शासकों का विवरण उपस्थित करती है। इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के राजा यशपाल पर शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमण तथा क्षत्रिय राजा के पराभव के साथ भारत की स्वाधीनता का सूर्य अस्त हुआ। तदनन्तर भारत पर गुलाम, खिलजी, लोदी, मुगल आदि मुस्लिम राजवंशों ने शासन किया। स्वामी जी द्वारा उद्धृत इस राज वंशावली पर शोध एवं अनुसंधान अपेक्षित है। स्वामी जी इस दिशा में पूर्ण सजग थे। वे यह भी चाहते थे कि “आर्य सज्जन लोग इतिहास और विद्या पुस्तकों की खोजकर प्रकाश करें। इससे देश को बड़ा ही लाभ पहुँचेगा।”

संशोधन तथा परिवर्द्धन

अध्याय-३ वाम मार्ग समीक्षा

देवी भागवत में आगम शास्त्र (तंत्र) को वेद तथा स्मृतियों से विरुद्ध होने के कारण तामस कोटि का कहा है तथा ऐसे तामस आगमों के अन्तर्गत वाम, कापालक, कौतक तथा भैरवागमों को गिनाया गया है—

श्रुति स्मृति विरुद्धानि तामसान्येव सर्वशः ।

वामं कापालकं चैव कौलकं भैरवागमः । ।

आगे यह भी कहा गया है कि सामान्य लोगों को मोहित करने के लिये ही ये ग्रन्थ शिव द्वारा बनाये गये ।

वाम मार्ग में पंच मकारों का सेवन अनिवार्य माना गया है । इनके बिना सिद्धि प्राप्ति नहीं होती—

मद्यं मासं च मत्स्यं च मुद्रा मैथुनमेव च ।

विना पञ्चमकारेण मोक्ष सिद्धिर्न जायते । ।

जो लोग पंच मकारों का आलंकारिक अर्थ करते हैं उन्हें यह जान लेना चाहिए कि इन मद्यादि गर्हित वस्तुओं का स्थूल अभिधार्थ लेना ही तंत्रकारों को इष्ट है । वस्तुतः तंत्रों को इन ग्राम्य अश्लील और वीभत्स उक्तियों का कोई अन्य अर्थ हो ही नहीं सकता । पर नारी से व्यभिचार को मोक्षदायक मानते हुए तंत्रकार कहता है—

नरके कार्तिकस्नायी माघ स्नायी च यासि हि ।

पर स्त्री कण्ठ लग्नानां पुनर्जन्म न विद्यते । ।

अर्थात् कार्तिक और माघ में स्नान कर पुण्य प्राप्ति की आशा करने वाले तो नरकगामी ही होते हैं, किंतु परनारी का कण्ठालिंगन करने वाला पुनर्जन्म से छूट जाता है ।

निम्न श्लोकों में उल्लिखित तांत्रिकों के दुष्कर्म समाज में व्यभिचारजनक ही माने जायेंगे—

यवनी शक्तिमानीय गान कर्म परायणम् ।

कुलाचार मतेनैव तस्यायोनिं विकासयेत् । ।

तत्र जिहा प्रदत्त्वा तु जयेन्नाम सहस्रकम् । ।

(हरेराम ब्रह्मर्षि कृत भारत धर्म दर्शन पृ० ९)

वाममार्गी एवं साधक का एक अन्य चित्र देखें—

मुखे हाला करे माला वामे बाला तु कोमला ।

हृदये त्रिपुरा देवी यज्ञ शालागृहे गृहे । ।

जिसके मुख में मदिरा है, हाथ में माला है और बाईं ओर कोमल बाला (भैरवी) है, जिसके हृदय में त्रिपुरा देवी है, ऐसा ब्राममार्गी साधक तो मानो अपने घर की यज्ञशाला में ही बैठा है ।

तंत्र ग्रन्थों में पञ्च मकारों के सेवन को साधक के लिये अनिवार्य माना गया है । यह कहना तो सत्य का अपलाप करना ही है कि तंत्र कथित पञ्च मकार स्थूल भोग्य वस्तुओं के प्रतीक नहीं हैं । मातृका तंत्र में मद्यपान की अनिवार्यता बताते हुए कहा है—

मद्यपान विना देवि तत्त्वज्ञानं न लभ्यते ।

अतएव हि विप्रस्तु मद्यपानं समाचरेत् । ।

यहाँ तंत्रकार तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिये मद्यपान को अनिवार्य कहता है जब कि वैदिक मर्यादा में मद्यपान की गणना पञ्च महापातकों में की गई है ।

सत्य तो यह है कि तंत्रों में पञ्च मकारों में भी पर स्त्री संसर्ग को महत्त्व दिया । कुलार्णव तंत्र कहता है—

पंचमं देवि सर्वेषु मम प्राणप्रियं भवेत् ।

पंचमेन विना देवि चंडीमंत्रं कथं जपेत् । ।

अर्थात् हे देवि ! पञ्चम मकार (मैथुन) ही मुझे प्राणप्रिय है । इसके बिना चंडीमंत्र का जाप नहीं किया जाता ।

उत्पत्ति मंत्र में लिखा है—

कुलाचारपदो वीरः कुलपूजा परायणः ।

भगलिंग समायोगात् आकृष्य जपमाचरेत् । ।

तांत्रिकों के जप की यह विचित्र विधि है जहाँ रतिबंध के आसन में संलग्न होकर जप करना कहा गया है ।

सार सर्वस्व नामक एक अन्य तंत्र में लिखा है—

नगनां पर स्त्रियं वीक्ष्य जपेद्युतं परः ।

स भवेत् सर्व विद्यानां पारगः सर्ववेद वित् । ।

वैदिक परम्परा जहाँ पर नारी की ओर देखना भी पाप मानती है वहाँ सिद्धान्त कहता है कि नग्न पर स्त्री को देखकर जो दस हजार मंत्र जपे वह सब वेदों का ज्ञाता तथा सर्व विद्या निष्णात हो जाता है ।

इससे भी अधिक भ्रष्ट जप विधि कुल सर्वस्व नामक ग्रन्थ में लिखी गई ।

ऋतुमत्याः भगं पश्यन् यो जपेद्युतं नरः ।

अनुकूला हि तद्वाणी गद्यपद्य मयी भवेत् । ।

वाणी को विदग्धता पूर्ण तथ गद्य युक्त बनाने का कैसा विचित्र नुस्खा तंत्र ने दिया है ।
व्यभिचार कर्म भी तांत्रिक लोग किससे करे । यह भी तंत्रों में विस्तार से बताया लिखा है । उत्पत्ति तंत्र कहता है—

कुलस्त्री सेवनं कुर्यात् सर्वथा परमेश्वरि ।

रमेत युवती कन्यां कामोन्मत्तां विलासिनीम् । ।

काम से उन्मत्त युवती कन्या से काला मुंह करने की शिक्षा तंत्र के प्रवक्ता भगवान्, शिव पार्वती को दे रहे हैं ।

गुप्त साधन तंत्र में तो उन जातियों का उल्लेख हुआ है जिनके साथ पांचवें मकार का सेवन किया जाना चाहिए । तंत्र का यह भ्रष्ट लेखक इन्हें नवकन्या कहता है । प्रमाण देखें—

नटी कापालिका वेश्या रजकी नापितांगना ।

ब्राह्मणी शूद्रकन्या च तथा गोपाल कन्यका । ।

मालाकारस्य कन्या च नवकन्या प्रकीर्तिताः । ।

आश्चर्य है कि तंत्रकार की दृष्टि में वेश्या भी 'कन्या' है । रुद्रयामल तंत्र एक कदम आगे बढ़ गया । उसने इन नारियों से व्यभिचार करने को काशी, प्रयाग, अयोध्या तथा मथुरा जैसे तीर्थों की यात्रा करने के तुल्य बताया—

चाण्डाली तु स्वयं काशी प्रयागः चर्मकारिणी ।

अयोध्या पुष्कसी प्रोक्ता रजकी मथुरा मता । ।

तांत्रिकों की यह महाभ्रष्ट पूजा तंत्रों में इस प्रकार वर्णित है—

सीत्कारो मंत्ररूपस्तु वचनं स्तवनं भवेत् ।

मर्दनं तर्पणं विद्धि वीर्यपातः विसर्जनम् । ।

इसमें पूजा में प्रयुक्त मंत्र पाठ, देव स्तवन, तर्पण तथा देवता के विसर्जन की तुलना जिन कृत्यों से की गई है, उनका उल्लेख करना भी शिष्टाचार के प्रतिकूल है ।

कुर्लाणव तंत्र में तो शिवजी महाराज की स्पष्ट घोषणा है कि मद्य और मांसादि उपकरणों से रहित पूजा कदापि नहीं होनी चाहिए । तंत्र का यह भ्रष्ट लेखक निर्लज्ज होकर कहता है कि व्यभिचार जन्य आनन्द के बिना शिवजी की संतुष्टि नहीं होती ।

□

अध्याय-४ शंकरचार्य और नवीन वेदान्त

शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तों पर बौद्ध दर्शन की छाया स्पष्ट है। इस विषय में इतिहासकार प्रो. जयचन्द्र विद्यालंकार की सम्मति इस प्रकार है— “शंकर के विचारों पर बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु की पूरी छाप है। इसी कारण वे प्रच्छन्न बौद्ध कहलाते हैं (मायावादमसतशास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च। मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मण रूपिणौ—पद्मपुराण) और चूंकि उन्होंने अपने दर्शन में बौद्ध मत की मुख्य बातें अपना लीं, इसलिये बौद्ध दर्शन अनावश्यक सा हो गया।”

अद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि करने में शंकर यत्र-तत्र इतने आग्रही हो गये हैं कि उन्होंने सांख्य, योग आदि वैदिक दर्शनों का खण्डन करने में भी कोई संकोच नहीं किया। यथा—
न तथा श्रुति विरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्।

—शंकर भाष्य २।१।१

अर्थात् वेद विरुद्ध होने से कपिल का सांख्य मत श्रद्धा करने के योग्य नहीं है। कपिल के मत को वेद विरुद्ध कहना शंकर का दुराग्रह मात्र ही है। पौराणिक मान्यता के अनुसार तो आचार्य कपिल साक्षात् विष्णु के अवतार हैं। कपिल सांख्य का विस्तृत उल्लेख भागवत (स्कन्ध ३) में मिलता है। □

अध्याय-५ शैवमत समीक्षा

वैष्णव पुराणों में शैव मत की तीव्र निंदा की गई है। भागवत में लिखा है कि जब दक्ष यज्ञ के अवसर पर नन्दीश्वर ने वेदाधारित यज्ञों की निंदा की तो वेद मार्ग का समर्थन करते हुए महर्षि भृगु ने पाखण्डी शैवों को निम्न प्रकार भर्त्सना करते हुए उन्हें शाप दिया—

भवन्नत धरा ये च ये तान् समनुव्रताः ।

पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्र परिपन्थिनः ॥ ४ । २ । २८

अर्थात् जो लोग शिव भक्त हैं तथा जो उन भक्तों के अनुयायी हैं वे सत्-शास्त्रों के विरुद्ध आचरण करने वाले तथा पाखण्डी हों ।

शैव सम्प्रदाय में वैष्णवों का विरोध सर्वत्र दिखाई देता है । पद्म पुराण के पाताल खण्ड में निम्न वाक्य मिलते हैं—

विष्णु दर्शन मात्रेण शिवद्रोहः प्रजापते ।

शिवद्रोहात् न सदेहो नरकं याति दारुणम् ।

तस्मात् च विष्णु नामानि न वक्तव्यानि कदाचन ॥

अर्थात् विष्णु की प्रतिमा को देखने से ही शिव का द्रोह उत्पन्न हो जाता है और शिवद्रोही निश्चय ही दारुण नरक में जाता है, अतः भूल कर भी विष्णु का नाम नहीं लेना चाहिए । यह है साम्प्रदायिक द्वेष की पराकाष्ठा जिसका विरोध स्वामी दयानन्द ने डट कर किया ।

□

अध्याय—६ वैष्णव मत समीक्षा

सत्यार्थप्रकाशकार ने शठकोप, मुनिवाहन तथा यामुनाचार्य आदि वैष्णवमत के आचार्यों के द्विजेतर कुलों में उत्पन्न होने की जो बात लिखी है, उसका समर्थन अन्य विद्वानों ने भी किया है। यथा, तेवीज कीते परकाल, मुनिवाहन अने यामुनाचार्य क्रम थी मिल्ल, चांडाल अने यवन हता तेवुं पण तेज (भक्तिसार आदि) ग्रन्थों माथी मली आवे छे ।''

हरेराम ब्रह्ममर्षि लिखित गुजराती ग्रन्थ भारत मत दर्शन पृ. ४५

वैष्णव मत में वेद निंदा के अनेक संदर्भ मिलते हैं। यथा—

चतुर्वेदी च यो विप्रो वैष्णवं चेन्न विन्दति ।

वेद भार भाराक्रान्तः स वै ब्राह्मणगर्दभः । ।

जो ब्राह्मण चारों वेदों का ज्ञाता होकर भी वैष्णव के समीप नहीं जाता, वह तो वेद रूपी बोझ को ढोनेवाला गर्दभ ही है।

चक्रांकित वैष्णव अपने से भिन्न अवैष्णव द्विज को स्पर्श भी कर ले तो उसे वस्त्र सहित स्नान करना चाहिये।

अवैष्णव द्विजं स्पृष्ट्वा सवासा जलमाविशेत ।

वैष्णवों में अपने सम्प्रदाय का अभिमान तो पराकाष्ठा पर पहुंच गया था। वे अपने आपको चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से भी ऊपर उठा मानते थे और वर्णाश्रम का अनुसार करने वाले को दम्भपूर्वक वेदों का दास कहते थे। उनके अनुसार वैष्णव तो पांचवें वर्ण तथा पाँचवें आश्रम के अन्तर्गत हैं अतः श्री वैष्णवों रामानुज मतानुयायियों का आश्रम तो सभी वर्णाश्रमियों से श्रेष्ठ है।

वैष्णवों ने पाखण्ड प्रवर्तन को पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया। उन्होंने घोषणा की कि ज्ञान पूर्वक या अज्ञान से ही करोड़ों जन्म पर्यन्त किये पाप वैष्णवों का जूठा भोजन खाने से अविलम्ब नष्ट हो जाते हैं।

कोटि जन्मार्जितं पापं ज्ञानतो ऽज्ञानतो ऽपि वा ।

सद्यः प्रणश्यते नृणां वैष्णवोच्छिष्ट भोजनात् । ।

वैष्णव मत ने अंध श्रद्धा को बढ़ावा दिया तथा दार्शनिक चिन्तन को अवरुद्ध किया। न्याय का वैशेषिक प्रतिपादित मुक्ति का उपहास करते हुए एक वैष्णव की यह उक्ति सुनिये—

वरंवृन्दावनेऽरण्ये शृगालत्वं भजाम्हम् ।

न च पाषाणवन्मोक्षं प्रार्थयामि कदाचन । ।

वैष्णवों के वृन्दावन धाम में मुझे गीदड़ बन कर जन्म लेना तो इष्ट है किन्तु नैयायिकों की मुक्ति अभीष्ट नहीं है। □

अध्याय-१३ फलित ज्योतिष तथा नवग्रह-समीक्षा

भारत में फलित ज्योतिष (शुभाशुभ) विचार का पाखण्ड शताब्दियों से फैला हुआ है। इस विषय के ऐसे ऐसे ग्रन्थ बनाये गये हैं जो बुद्धि, तर्क तथा वैज्ञानिक चिन्तन के सर्वथा प्रतिकूल तो हैं ही, मानव के विवेक तथा उसके चिन्तन को भी कुण्ठित करते हैं।

सामान्यतया शरीर पर तेल की मालिश स्वास्थ्य वर्धक समझी जाती है, किन्तु जरा देखिये, भारत का ज्योतिषी क्या कहता है—

रविस्तापं कान्तिं वितरति शशी भूमितनयो ।

मृतिं लक्ष्मी सौम्यं सुरपति गुरुर्वित्तहरणम् ।।

विपत्तिं दैत्यानां गुरुरखिल भोगानुगमनम्

नृणां तैलाभ्यंगात् सपदि कुरुते सूर्यतनयः ।।

(ज्योतिः सार संग्रह)

रविवार को तेल लगाने से कष्ट, सोमवार को कान्ति, मंगल को मृत्यु, बुध को लक्ष्मी, गुरु को दरिद्रता, शुक्र को विपत्ति तथा शनि को सुख प्राप्ति होती है। भला इस प्रकार किसी दिन तेल लगाने से लाभ और किसी दिन हानि होने में कौन सा वैज्ञानिक आधार है?

ज्योतिषियों की इस धनहरण विद्या को दृष्टि में रखकर एक चतुर व्यक्ति ने उनकी तुलना वेश्याओं से की है। अर्थात् गणक और गणिका एक समान हैं। गणिकादि अपने शरीर के पांच गोपनीय अंगों को दिखाकर अपने प्रेमी का द्रव्यहरण करती हैं तो ये गणक (ज्योतिषी) भी अपना पंचांग दिखा कर जनसाधारण को लूटते हैं।

फलित ज्योतिषियों का उपहास करने में संस्कृत के वाग्विदग्ध लोग पीछे नहीं रहें एक ज्योतिषी की स्त्री व्यभिचारिणी है और उसने अनेक दुराचारियों के साथ अपने सम्बन्ध बना रखे हैं। अब आकाश में रहने वाले चन्द्रमा का विशाखा नक्षत्र से संयोग ढूँढ़ने वाला यह मूर्ख ज्योतिषी अपनी गृहिणी के नाना भुजंग (दुराचारी पुरुष) क्रीडासक्त होने की बात नहीं जानता—

गणयति गगने गणकः समागमः विशाखायाः ।

विविध भुजंग क्रीडा सक्तां गृहिणीं न जानाति ।।

अध्याय-१६ वल्लभ सम्प्रदाय समीक्षा

गोस्वामी गोकुलनाथ ने अपनी ब्रह्मसम्बन्ध नाम पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि विवाद के पश्चात् गुरु के लिये स्त्री का समर्पण सम्प्रदाय विहित है। यथा, तस्मादादौ सोपभोगात् पूर्वमेव सर्ववस्तु पदेन भार्या पुत्रादीनामपि समर्पणं कर्तव्यम्। विवाहानान्तरम् सोपभोगे सर्व कार्ये सर्व कार्य निमित्तं तत्त कार्योंपभोगि वस्तु समर्पणं कार्यं समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कर्तव्यानीत्यर्थः। अर्थात् स्वयं द्वारा उपयोग करने से पूर्व ही आर्या, पुत्र आदि का समर्पण गुरु के लिये करना चाहिए। विवाद के पश्चात् स्त्री आदि को समर्पित करने के पश्चात् ही अन्य कर्तव्य किये जाने चाहिए।

ब्रज प्रदेश में वल्लभ सम्प्रदाय का प्रचार आरम्भ से ही रहा है। इस मत की पाखण्ड लीलाओं का भण्डाफोड़ करते हुए मथुरा गजेटियर के लेखक डी.एल. ड्रेक ब्रॉकमेन आई. सी.एस. ने १९११ में लिखा था— "Sin of all kinds is washed away by a union with god; Krishna is the refuse of all, and to the holy Krishna man must dedicate his all. The scandal which has attached itself to the name of the sect is due to the development of this doctrine, apparently in the time of gokul nath. The Gosain is identified with the divinity. By the act of dedication a man submits to the pleasure of the gosain as gods representative, not only his worldly wealth but the virginity of his daughter of newly married wife under this teaching the vallabhacharyas have become the epicureans of the East, and are not ashamed to avow their belief that the ideal consists rather in social enjoyment than in solitude and mortification. Members of the sect are invariably family men and engage in secular pursuits."

अर्थात् सब प्रकार के पापों का निवारण ईश्वर का साक्षात्कार होने से होता है। कृष्ण ही सबके शरणस्थल हैं और कृष्ण के लिये ही लोगों को अपना सर्वस्व समर्पित कर देना चाहिए। इस वल्लभ सम्प्रदाय के साथ जो बदनामी जुड़ी, उसका कारण उक्त सिद्धान्त ही है और यह गोकुल नाथ के समय से ही आरम्भ हुई। गोसांइयों को साक्षात् भगवान् मान लिया गया। गोसांइयों को भगवान् मान कर भक्तगण न केवल अपनी सांसारिक सम्पत्ति अपितु अपनी पुत्री का कौमार्य और नवपरिणीता पत्नी का सतीत्व भी उनको समर्पित कर देते हैं। इस प्रकार की शिक्षाओं के कारण वल्लभ सम्प्रदाय वाले पूर्व के एपीक्यूरीयन (खाने पीने और मौज मस्ती को जीवन का लक्ष्य मानने वाला एक यूनान देशीय दार्शनिक सम्प्रदाय) बन गये हैं। उन्हें यह घोषित करने में लज्जा नहीं आती कि आदर्श जीवन तो भोग विलास में ही है न कि एकान्त वास या इन्द्रिय-निग्रह में। इस सम्प्रदाय के अनुयायी प्रायः गृहस्थी हैं और वे स्वतंत्रतापूर्वक सांसारिक भोगों की प्राप्ति में ही लगे रहते हैं।

□

परिशिष्ट १

१ थियोसोफिकल सोसाइटी

ईसाई धर्म में व्याप्त ढोंग, पाखण्ड तथा अवैज्ञानिक एवं तर्क विरुद्ध विश्वासों से उकताये हुए दो व्यक्तियों के १० नवम्बर, १८७५ को अमेरिका के महानगर न्यूयार्क में थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की। इनमें एक पुरुष कर्नल हेनरी स्टील आल्काट (१८२३-१९०७) अमेरिकन थे और सेना के कर्नल पद से निवृत्त हो चुके थे। दूसरी एक महिला थी जो मूलतः रूस देश की थी। यह थी हेलेना पेट्रोना ब्लैवेट्स्की (१८३१-१८९१) जिसका विवाह सत्रह वर्ष की आयु में एक साठ वर्षीय सैनिक जनरल ब्लैवेट्स्की से हुआ था। इस अनमेल विवाह का परिणाम सुखद नहीं रहा और मैडम ने शीघ्र ही गृहस्थ का त्याग कर दिया और यायावर का सा जीवन व्यतीत करने लगी। १८७२ में वह मिन्न आई और राजधानी काहिरा में कुछ काल तक रही। यहाँ उसकी ख्याति आत्म विद्या के एक ऐसे ज्ञाता के रूप में हुई जो दिवंगत आत्माओं से सम्पर्क कर उनसे बातचीत कर सकती थी। थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना का प्रथम विचार तो उसी महिला के मन में उदय हुआ था।

सोसाइटी की स्थापना करने के पश्चात् उसके संस्थापकों ने भारतीय धर्म, अध्यात्म तथा यहाँ के तत्त्व चिन्तन के बारे में प्रशंसापूर्ण बातें सुनीं। अब उनका यह विचार बना कि भारत के इन श्रेष्ठ अध्यात्म तत्त्वों को जानने का यत्न करना चाहिए। इस बीच मूल जी ठाकर जी नामक एक प्रवासी गुजराती से उन्हें स्वामी दयानन्द और उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज आन्दोलन का परिचय मिला। वे स्वामी जी के विचारों तथा उनके द्वारा वैदिक ज्ञान के पुनरुद्धार की योजनाओं से अत्यधिक प्रभावित हुए और पर्याप्त समय तक परस्पर पत्राचार के पश्चात्, कर्नल और मैडम ने भारत आकर स्वामी दयानन्द से भेंट करने का निश्चय किया।

१८७९ में आल्काट मैडम न्यूयार्क से चलकर इंग्लैण्ड होते हुए बम्बई आये और वहाँ कुछ दिन रह कर सहारनपुर गये, जहाँ उन दिनों स्वामी दयानन्द विराजमान थे थियोसोफी के इन संस्थापकों तथा आर्यसमाज के प्रवर्तक के परस्पर विचार विमर्श का अनुकूल परिणाम यह निकला कि इन आगन्तुकों ने अपनी संस्था को आर्यसमाज की शाखा बनाना स्वीकार कर लिया। उन्होंने वेदों और ऋषि दयानन्द प्रतिपादित आर्ष सिद्धान्तों में अपनी दृढ़ आस्था प्रकट की। मेरठ और काशी में भी ये लोग से पुनः मिले और नाना विषयों पर उनसे चर्चा की।

किन्तु स्वामी दयानन्द को शीघ्र ही थियोसोफिस्टों के हृदयगत भावों का पता चल

गया। कर्नल और मैडम १८८० में लंका गये और वहाँ उन्होंने विधिवत् बौद्धमत की दीक्षा ली, पंचशील को स्वीकार किया और भारत लौटे। जब स्वामी जी को थियोसोफी वालों के परिवर्तित विचारों का ज्ञान हुआ तो उन्होंने इनसे परस्पर बैठकर विवादस्पद मसलों को तय करने का अनुरोध किया किन्तु कर्नल और मैडम ने चतुराई पूर्वक इसे टाल दिया। जब स्वामी जी को थियोसोफिस्टों के कपटाचरण का पूरा ज्ञान हो गया और उन्होंने यह ज्ञान लिया कि इन लोगों को न तो ईश्वर में ही विश्वास है और न ये वेदों को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में ही स्वीकार करते हैं तो उन्होंने बम्बई की एक सार्वजनिक सभा में आर्य समाज और थियोसोफिकल सोसाइटी के सम्बन्ध-विच्छेद की घोषण कर दी।

अब थियोसोफिस्टों को स्वतंत्र रूप से अपना कार्य करने का अवसर मिल गया। वस्तुतः कर्नल की अपेक्षा मैडम ब्लैवेट्स्की अधिक धूर्त, कपटाचरण वाली तथा मिथ्यावादिनी थी। स्वयं कर्नल ने अपनी पुस्तक ओल्ड डायरी लीज में मैडम की गप्पबाजी तथा उसके अतिशयोक्तिपूर्ण कथनों की पोल खोली है। मैडम ने यह प्रचारित किया कि उसका अलौकिक सम्पर्क तिब्बत में अदृश्य रूप से निवास करने वाली उन दिव्यात्माओं से है जो उसके आध्यात्मिक विकास में सहायता करती हैं तथा जो उसे कितनी ही भविष्य की बातें बतलाती हैं। वह इन अदृश्य आत्माओं को महात्मा कहा करती थी। तथ्य यह है कि मैडम को मैसमेरिज्म तथा हिप्नोटिज्म की कुछ साधनायें सिद्ध थीं। इन्हीं के आधार पर वह यदाकदा अनेक चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन किया करती थी। लोग इनसे प्रभावित होते और मैडम को अलौकिक शक्तियों का आगार समझते। थियोसोफिकल सोसाइटी ने भारतीय हिन्दू धर्म के प्रति अपनी आस्था तो व्यक्त की साथ ही सर्व धर्मों में सत्यता के मत का भी प्रतिपादन किया। उसका सिद्धान्त वाक्य था— *There is truth in all religions*. आपाततः तो यह कथन निर्दोष प्रतीत होता है क्योंकि धर्म के मूलभूत तत्त्व तो सत्य, अहिंसा, न्याय, क्षमा, शान्ति, विश्व मैत्री आदि ही हैं और इन्हें मानने में किसी भी मत या सम्प्रदाय को थोड़ी भी आपत्ति नहीं है। तथापि यह सम्भव नहीं है कि सभी मतों और सम्प्रदायों में स्वीकार्य पूजा उपासना की पृथक् प्रणालियों, उनके विभिन्न कर्मकाण्डों, आचार-व्यवहार तथा अन्य रूढ़िगत बाह्याडम्बरों को भी सत्य स्वीकार किया जाये। अतः थियोसोफी तथा उसके ही जैसे सोच वाले अन्य लोगों का सर्वधर्म समन्वय का नारा मात्र वागाडम्बर ही रह जाता है।

कर्नल और मैडम के परलोकवासी होने पर श्रीमती एनीबेसेन्ट ने थियोसोफी का नेतृत्व ग्रहण किया। यों भारत के स्वाधीनता संग्राम में श्रीमती बेसेन्ट का योगदान कम नहीं रहा। हिन्दू धर्म, संस्कृति और सभ्यता के प्रति उनके प्रेम तथा निष्ठा की सराहना काशी की तत्कालीन विद्वन्मण्डली ने भी की तथा उनकी सहज, शालीन, अमल, धवल

भारतीय वेशभूषा से प्रभावित होकर इस गौरांग महिला को उन्होंने सर्वशुक्ला सरस्वती के गौरवपूर्ण विरुद्ध से अलंकृत किया।

ढोंग, पाखण्ड, अतिशयोक्ति पूर्ण बड़बोली बातें थियोसोफी वालों को सदा से ही प्रिय रही हैं। श्रीमती बेसेन्ट भी इसका अपवाद नहीं थीं उन्होंने ३१ दिसम्बर, १९०८ को अपने एक भाषण में घोषित किया कि जो परम पुरुष कृष्ण और तत् पश्चात् बुद्ध तथा ईसा के रूप में संसारी आत्माओं का गान करने के लिये उत्पन्न हुआ था वह अब इस कलियुग में एक किशोर जे. कृष्णमूर्ति के रूप में पुनः अवतरित हुआ है। बात यह थी कि कृष्णमूर्ति की प्रतिमा ओर उसके कुछ गुणों से आकृष्ट होकर श्रीमती बेसेन्ट ने उसके माता पिता से उसे मांग लिया और थियोसोफी के मुख्यालय में रख कर अपनी देखरेख में उसको शिक्षा दीक्षा देने लगी। किन्तु शीघ्र ही बेसेन्ट के इस पाखण्ड का भुण्डा फोड़ हो गया। कृष्णमूर्ति के पिता ने अपने पुत्र को मांगा और श्रीमती बेसेन्ट के इन्कार करने पर उसने मद्रास हाईकोर्ट में थियोसोफी की नेत्री पर अभियोग दायर कर दिया। यह मुकदमा जब तक चलता रहा, तब तक भारत में इसकी पर्याप्त धूम रही। ईसाई प्रचारक तो पहले ही थियोसोफी से खार खाये बैठे थे। उन्होंने इस मुकदमे की आड़ में अपने दिल के फफोले फोड़े और श्रीमती बेसेन्ट को बदनाम किया। जिस युवक कृष्णमूर्ति पर भरोसा कर बेसेन्ट ने इसे ईश्वरावतार घोषित किया था वह स्वयं भी अब इस पाखण्ड से उकता गया था। अतः उसने यह घोषणा कर दी कि वह न तो ईश्वर है और न कृष्ण, बुद्ध या ईसा का अवतार। वह तो एक साधारण हाड़ मांस का पुतला इन्सान है। मद्रास हाईकोर्ट में चलने वाले मुकदमे का परिणाम भी बेसेन्ट के प्रतिकूल निकला और जे. कृष्णमूर्ति ने थियोसोफी से सदा के लिये नाता तोड़ लिया। कालान्तर में वह यूरोप चला गया और मौलिक चिन्तन के बल पर उसने अपने एक जीवन्त दर्शन और स्फूर्तिदायक विचारधारा से मानवजाति को उपकृत किया।

थियोसोफी आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संगठित किया गया था। न्यूनाधिक रूप से अनेक देशों में उसकी शाखायें स्थापित हुईं। किन्तु भारत में थियोसोफी का प्रचार अत्यन्त सीमित रहा। इसे कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखे, अभिजात्य लोगों में ही लोकप्रियता मिली। समाज सुधार, देशोत्थान, राष्ट्रीयता के प्रचार प्रसार जैसे जन हितकारी मुद्दों से थियोसोफी वालों का कोई लेना देना नहीं रहा। इसके साप्ताहिक सत्संगों का आरम्भ उपनिषद् पाठ, बुद्ध वचन, जिनदेवों की प्रार्थना, कुरान और बाइबिल के पाठ तथा गुरु ग्रन्थ साहब के वाक्यों के उच्चारण से होता है। आज थियोसोफी का भारत में प्रचार नगण्य ही है। तथापि प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के संग्रह, प्रकाशन तथा भारत तत्त्व (Indology) विषयक साहित्य के संरक्षण तथा उद्धार में थियोसोफी का जो योगदान

रहा है, वह भुलाने की वस्तु नहीं है। मद्रास (अड्यार) स्थित थियोसोफी का मुख्य केन्द्र इस प्रकार का साहित्यिक तथा विद्या विषयक प्रवृत्तियों का प्रमुख केन्द्र है। डाक्टर भगवानदास, रुक्मिणी अरुण्डेल, जिन राजा दास तथा टी. सुब्बाराव आदि अनेक प्रसिद्ध भारतीय थियोसोफी से जुड़े रहे।

थियोसोफी विषयक पठनीय साहित्य

१. दयानन्द दिग्विजयार्क खण्ड ३ मयूख-३

(थियोसोफिस्टों की गोलमाल-पोलपाल)

२. पं. लेखराम रचित स्वामी दयानन्द के जीवनचरित का थियोसोफिकल सोसाइटी और आर्यसमाज शीर्षक अध्याय (भाग २, अध्याय ७, परिच्छेद २)

३. पं. घासीराम सम्पादित स्वामी दयानन्द का जीवनचरित भाग-२ परिशिष्ट २

४. नवजागरण के पुरोधा: दयानन्द सरस्वती (डा. भवानीलाल भारतीय लिखित) का प्रकरण चतुष्टय शीर्षक अध्याय

५. हरविलास शारदा लिखित स्वामी दयानन्द का अंग्रेजी जीवनचरित भाग-४ अध्याय ३२

6. A Tretise on the Arya Samaj and the Theosophical Society--

ले. श्याम सुन्दरलाल 1925

7. Swami Dayanand and the Theosophical Society- An Article of Shri Ram Sharma in the Panjab University Research Belletin (Arts) 1973 P.117-135

□

२ राधास्वामी सत्संग

कबीर, नानक तथा दादू आदि निगुर्ण मत को मानने वाले मध्यकालीन सन्तों की वाणी तथा उनके विचारों से प्रेरणा लेकर उन्नीसवीं शताब्दी में राधा स्वामी मत का प्रादुर्भाव हुआ। इसके प्रवर्तक आगरा के एक खत्री कुलोत्पन्न शिवदयाल साहब (१८१८-१८७८) थे। सम्प्रदाय में इन्हें स्वामीजी महाराज कहा जाता है। तुलसी साहब नामक सन्त को इनका गुरु माना गया है किन्तु सम्प्रदाय की मान्यता है कि इन्होंने स्वयं की साधना से ही अनेक आध्यात्मिक शक्तियाँ उपार्जित कीं। १८६१ में उन्होंने अपने सिद्धान्तों का सार्वजनिक रूप से प्रकाशन किया और शिष्य समुदाय को एकत्र किया।

स्वामीजी महाराज (शिवदयाल सिंह) के निधन के पश्चात् आगरा के ही एक कायस्थ कुल में उत्पन्न (१८२८) राय शालिग्राम साहब सम्प्रदाय की गद्दी पर बैठे। पूर्वश्रम में ये सरकारी डाक विभाग में कार्यरत रहे और तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के पोस्टमास्टर-जनरल के पद तक पहुँचे। सरकार ने इन्हें राय बहादुर की पदवी प्रदान की। सम्प्रदाय के प्रथम संस्थापक गुरु से इनकी भेंट १८५६ में हुई धर्म और अध्यात्म में इनकी आरम्भ से ही रुचि थी। इसलिये ये शिवदयाल साहब के शिष्य बन गये और स्वामीजी महाराज (सम्प्रदाय के प्रथम गुरु) के निधन के पश्चात् १८७८ में सम्प्रदाय के मुखिया बने। इनके दो पद्य ग्रन्थ प्रेम बानी तथा प्रेम पत्र हिन्दी में उपलब्ध होते हैं जबकि राधा स्वामी मत-प्रकाश शीर्षक एक लघु पुस्तक अंग्रेजी में है, जो राधा स्वामी मत का परिचय कराती है। राय शालिग्राम की मृत्यु १८९८ में हुई। इनकी समाधि आगरा के पीपल मण्डी मोहल्ले में है। राधा स्वामी मत के सिद्धान्तों को सुस्पष्ट रूप राय शालिग्राम ने ही प्रदान किया। सम्प्रदाय में इन्हें हुजूर महाराज के नाम से पुकारा जाता है।

इस मत का तीसरे गुरु एक बंगाली ब्राह्मण ब्रह्मशंकर मिश्र थे। १८६१ में बनारस में उत्पन्न मिश्र जी ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम.ए. तक शिक्षा प्राप्त की। १८८५ में इनका राधास्वामी सत्संग में प्रवेश हुआ और १८८९ में राय शालिग्राम की मृत्यु के पश्चात् ये सम्प्रदाय के प्रमुख बने। इन्होंने राधास्वामी मत को व्यवस्थित और वैधानिक रूप प्रदान किया। १९०७ में बनारस में हुई इनकी मृत्यु हुई। सम्प्रदाय में ये महाराज साहब के नाम से जाने जाते हैं। राधास्वामियों के एक अन्य गुरु आनन्दस्वरूप जी साहब जी महाराज के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये मूलतः पंजाब के निवासी थे अतः स्वामी दयानन्द

तथा आर्यसमाज की शिक्षाओं से भली भांति परिचित थे। इन्होंने सत्यार्थप्रकाश का खण्डन यथार्थप्रकाश (तीन भाग) नामक प्रस्तुत लिखकर किया। जिसका उत्तर आर्यसमाज की ओर से 'यथार्थप्रकाश की हकीकत' शीर्षक पुस्तक में दिया गया।

पाठक देखेंगे कि स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के ११ वें समुल्लास में राधास्वामी मत का कोई उल्लेख नहीं किया। इसे ही आधार बनाकर राधास्वामी मत के लोगों ने यह प्रसिद्ध किया। (द्रष्टव्य— A Brief Account of the progress or the Radha-Soami satsang duing 100 Years) कि अपने आगरा प्रवास (१८००) के समय स्वामी दयानन्द ने शिवदयाल साहब से भेंट कर उनके राधास्वामी सम्प्रदाय में प्रविष्ट होने की इच्छा व्यक्त की थी। तदनुसार वे राधास्वामी मत में दीक्षित भी हुए और शिवदयाल जी के आदेश से ही देश भ्रमण कर मूर्तिपूजा जैसे आडम्बरों का खण्डन किया और राधास्वामी मत में मान्य निर्गुण मत का प्रचार किया। कहना नहीं होगा कि महज सारी बातें कपोलकल्पित तथा मिथ्या हैं। राधास्वामी मत की चर्चा या खण्डन यदि सत्यार्थप्रकाश में नहीं हुआ तो इसका कारण इतना ही है कि उस समय यह मत अपनी ग़ैशवावस्था में ही था और स्वामी दयानन्द ने उसकी सामान्य चर्चा करना भी अनावश्यक समझा।

राधास्वामी मत की अधिकांश शिक्षायें कबीर, नानक आदि मध्यकालीन सन्तों के आध्यात्मिक उपदेशों तथा अनुभवों पर आधारित हैं। सम्प्रदाय के नाम से प्रयुक्त 'राधा' आत्मा का प्रतीक तथा 'स्वामी' परमात्मा का वाचक माना जाता है, जबकि तथ्य यह है कि सम्प्रदाय के प्रवर्तक शिवदयाल जी की पत्नी का ही नाम राधा था। स्वामी जी महाराज (शिवदयाल) के जीवन चरित्र के पृष्ठ ११ पर उल्लिखित हुआ है कि "बाद जब महाराज की शादी हो गई और राधाजी महाराज आगरे में आईं तो उनको भी स्वामीजी महाराज ऊंचे दर्जे के परमारथ की समझौती (शिक्षा) दिया करते थे।" इस मत के साधक अपनी साधना में स्वामी महाराज (शिवदयाल साहब) तथा उनकी पत्नी राधा की तस्वीर अपने समक्ष रखते हैं तथा उस पर पुष्प आदि अर्पित करते हैं। सम्प्रदाय के तीसरे आचार्य (पं. ब्रह्मशंकर मिश्र) ने कबीर के एक उद्धरण को प्रस्तुत कर यह सिद्ध करना चाहा था कि राधा स्वामी शब्द का परमात्मा के लिये प्रयोग कबीर साहित्य में मिलता है। किन्तु यह कथन असत्य है कारण कि कबीर ने 'अराध स्वामी' का प्रयोग किया है न कि राधा स्वामी शब्द का।

राधा स्वामी मत के सिद्धान्त, मान्यतायें और साधना प्रणाली को प्रायः गुप्त ही रक्खा जाता है। ये लोग अपने ग्रन्थों को अन्य मतावलम्बियों को नहीं दिखाते और न अपना भेद ही उन्हें बताते हैं। मूर्तिपूजा को यद्यपि इस मत में मान्यता नहीं मिली है तथापि यहाँ गुरुओं की समाधि, उनके द्वारा प्रयुक्त पलंग, कुर्सी, भजन करने की चौकी आदि

जड़ वस्तुएं भी पूज्य मानी जाती हैं। इनके समक्ष मत्था टेकना तथा समाधियों पर पुष्प अर्पित करना मूर्तिपूजा का ही अवान्तर रूप है। सन्त मतों की ही भांति राधा स्वामी सम्प्रदाय भी वेद शास्त्रों को मान्यता प्रदान नहीं करता, अपितु उनकी निंदा करता है। सार वचन (८।१७।१२) में लिखा है—

वेद शास्त्र और स्मृत पुराना। पढ़ना इनका बिरथा जाना।

तथा षट् शास्त्र और चारों वेदा। यह सन्तन ने किये निषेधा।।

सार वचन २४।१।९५

राधा स्वामी साधना पद्धति में सुरत, शब्द, कुलमालिक, सच खण्ड आदि शब्दों का बहुतायत से प्रयोग होता है। इन शब्दों में से कुछ तो कबीर जैसे निर्गुणिये सन्तों की वाणी से ग्रहण किये गये हैं जब कि कई शब्द इसी सम्प्रदाय के गुरुओं द्वारा कल्पित किये गये हैं। गुरुडम के सारे पाखण्डपूर्ण आचरण और उनके परिणाम इस सम्प्रदाय में पराकाष्ठा तक पहुंच चुके हैं। सम्प्रदाय का गुरु परमात्मा का साक्षात् रूप माना जाता है अतः उसकी लौकिक सेवा को सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है। स्त्री भक्तों द्वारा गुरु चरण दबाना, पंखा करना, स्नान कराना, वस्त्र पहनाना, रसोई बनाकर भोजन कराना, पानी पिलाना, हुक्का भरना, पलंग बिछाना, पीकदान प्रस्तुत करना आदि को महत्त्व मिला है। गुरु की यह लौकिक सेवा उस समय अत्यन्त जुगुप्सा जनक स्थिति को पहुंच जाती है जब कि गुरु के थूक को पी जाने का आदेश भी इनके ग्रन्थों में मिलता है। सार वचन (१२।१) में लिखा है— पीकदान ले पीक करावे। फिर सब पीक आप पी जावे।

गुरु के किये कुल्ले को पीने का विधान भी सार वचन (४१।३।५) में मिलता है— कुल्ली दर्ई स्वामी कुल मेरा उधरा।

जन्म सुफल और तन मन सुधरा।।

पादरी फर्कुहर को भी इसलिये लिखना पड़ा— There are some very disgusting practices connected with this idea, certain products of his body being actually eaten or drunk by his followers.. अर्थात् गुरु के शरीर से निकले विकार (थूक, पीक आदि) इनके अनुयायियों द्वारा पी लिये जाते हैं तो अत्यन्त घृणास्पद कृत्य हैं।

राधा स्वामी मत की एक अन्य शाखा का विकास अमृतसर जिले के व्यास नामक स्थान में हुआ। इसके प्रवर्तक सिख मतानुयायी थे। आज राधास्वामी मत के व्यास सत्संग के अनुयायियों की संख्या लाखों में है। विशेषतः पंजाब, हिमाचल प्रदेश तथा हरियाणा में व्यास सत्संग अत्यन्त लोकप्रिय है। राधास्वामी मत का प्रमुख केन्द्र आगरा के स्वामी बाग नामक परिसर में है। यहाँ इनके गुरुओं का स्मारक स्थापत्य कला का एक उत्कृष्ट नमूना है जो गत ८०-९० वर्षों से निर्माणधीन है और निकट भविष्य में उसके निर्माण कार्य

के समाप्त होने की कोई सम्भावना नहीं है। उत्तर भारत के हिन्दी भाषी प्रदेशों में आगरा सत्संग के अनुयायी प्रचुर संख्या में मिलते हैं जो प्रायः उच्च जातियों तथा पठित वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। स्वामी बाग में राधा स्वामियों ने सामूहिक जीवन व्यतीत करने का एक आदर्श प्रारूप (Commune) बनाया है। यहाँ भोजन, शिक्षा, आवास, श्रम कार्य को सामूहिक रूप से निष्पन्न करने के अनेक योजनायें सफलतापूर्वक क्रियान्वित की गई हैं।

राधास्वामी मत विषयक पठनीय समीक्षात्मक साहित्य—

१. राधास्वामी मत खण्डन— वजीर चंद विद्यार्थी
२. राधास्वामी मत और वैदिक धर्म— मास्टर लक्ष्मण
३. राधास्वामी मतालोचना— बुद्धदेव मीरपुरी तथा महता सावनमल्ल
४. राधास्वामी मत दर्पण— जगदीशचन्द्र विद्यार्थी
५. राधास्वामी पाखण्ड खण्डन— श्रीराम आर्य

□

३ देव समाज और उसका संस्थापक

अनीश्वरवादी नास्तिक मत देवसमाज का संस्थापक शिवनारायण अग्निहोत्री जाति से कान्यकुब्ज ब्राह्मण था। उसका जन्म कानपुर जिले के अकबरपुर ग्राम में १८५० में हुआ। सोलह वर्ष की आयु में वह रुड़की के इंजीनियरिंग कालेज में प्रविष्ट हुआ और ओवरसियर की परीक्षा पास की। १८७३ में उसे गवर्नमेंट स्कूल लाहौर में ड्राइंग मास्टर के पद पर नियुक्ति मिली, तब से अग्निहोत्री का सम्बन्ध अपने जन्म स्थान से छूट गया और वह पूर्णतया पंजाब का ही होकर रहा। लाहौर में अग्निहोत्री का पंजाब ब्रह्मसमाज के नेता श्री नवीनचन्द्र राय से सम्पर्क हुआ और उसने ब्राह्म दीक्षा ली। १८७५ में उसे ब्रह्मसमाज का आचार्य नियुक्त किया गया।

जब १८७७ में स्वामी दयानन्द का लाहौर आगमन हुआ तो शिवनारायण अग्निहोत्री उनसे मिला और अनेक धार्मिक विषयों पर उनसे चर्चा की। प्रारम्भ में तो वह स्वामी जी की विचारधारा से प्रभावित हुआ, किन्तु अपने अड़ियल रूख तथा दुराग्रही मनोवृत्ति के कारण स्वामी दयानन्द जैसे स्पष्ट वक्ता महापुरुष से उसकी पटरी नहीं बैठी। वह न केवल स्वामी दयानन्द का विरोधी ही बना किन्तु जीवन के अवशिष्ट काल में आर्यसमाज के प्रति उसका आचरण शत्रुवत् रहा। इन दिनों स्वामी जी अपना वेद भाष्य लिख रहे तथा उन्होंने आर्यसमाज लाहौर के सभासदों के आग्रह पर पंजाब सरकार से इस भाष्य के प्रकाशन में आर्थिक सहायता करने के लिये प्रार्थना पत्र भी भेजा था। इसी बीच अग्निहोत्री ने 'दयानन्द के वेद भाष्य पर रिव्यू' (विक्टोरिया प्रेस, लाहौर १८७८) लिख कर स्वामी जी की वेद भाष्य शैली का खण्डन किया। अग्निहोत्री का ब्रह्मसमाज से सम्बन्ध पूर्ववत् बना रहा और १८८० में वह साधारण ब्रह्मसमाज के एक समारोह में सम्मिलित होने के लिये कलकत्ता भी गया। १८८२ में उसने सरकारी सेवा से त्यागपत्र दे दिया और ब्राह्ममत के अनुसार २० दिसम्बर, १८८२ को संन्यास की दीक्षा लेकर अपना नाम सत्यानन्द अग्निहोत्री रख लिया।

सत्यानन्द स्वभाव से ही हठी, दुराग्रही तथा तानाशाही मनोवृत्ति का क्षुद्रमन्स्क व्यक्ति था, अतः ब्रह्मसमाज के गम्भीर प्रकृति से सदस्यों से उसकी नहीं पटी और उसने अपने

कतिपय अनुयायियों के साथ उक्त समाज से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। १६ फरवरी १८८७ को उसने देवसमाज के नाम से एक नवीन संस्था की स्थापना की और अपने धर्म को देवधर्म का नाम दिया। प्रारम्भ में इसके सिद्धान्त ब्राह्मधर्म के अनुकूल ही थे। किन्तु कालान्तर में उसने स्वयं को ही सर्वोपरि पूज्य घोषित कर दिया और कहा कि मैं सर्वपाप विमुक्त घोषित कर दिया और कहा कि मैं सर्वपाप विमुक्त ईश्वर तथा पीड़ित मानवता की एक मात्र आशा हूँ। कहने को तो अग्निहोत्री संन्यासी था, किन्तु वह काम, क्रोध आदि क्षुद्र वासनाओं से मुक्त नहीं हो सका था। प्रौढावस्था में उसने अपनी एक अल्पवयस्क शिष्या से विवाह कर लिया जिसके कारण लाहौर में उसकी बदनामी हुई। १८९८ से देवसमाज ने अपने आपको नास्तिक घोषित कर दिया किन्तु इसके अनुयायी अपने संस्थापक सत्यानन्द अग्निहोत्री को ही सत्यदेव तथा महामाननीय पूजनीय श्री गुरु देवभगवान् जैसे भारी भरकम विशेषज्ञों से सम्बोधित करते हैं।

देवसमाज का दर्शन, यदि उसे दुर्जनतोष न्याय से हम दर्शन कहें, पदार्थ तथा शक्ति, दो को ही अनादि तत्त्व मानता है। स्वयं को देवगुरु तथा भगवान् घोषित करने के पश्चात् सत्यानन्द ने देवसमाज की नियमित बैठकों में भी आना बंद कर दिया तथापि अपने गुरुडम तथा चमत्कार की बातें फैलाने का सिलसिला जारी रक्खा। उसने प्रचारित किया कि उसके अनेक सम्बन्धी उसके द्वारा प्रतिपादित सत्य को स्वीकार कर मोक्षगामी बन चुके हैं तथा वह देवसमाज भवन में एकत्रित होने वाली आत्माओं को अपना उपदेश सुनाता है। देवसमाज की उपासना प्रणाली में देवगुरु भगवान् की तस्वीर के आगे प्रणिपात करने का विधान है। कालान्तर में देवसमाज ने पंजाब में आर्यसमाज की ही भांति शिक्षा प्रचार करने का काम अपने हाथ में लिया। आज भी फिरोजपुर, अम्बाला, मोगा तथा चण्डीगढ़ आदि अनेक नगरों में देवसमाज के अनेक स्कूल तथा कालेज चल रहे हैं। पादरी फर्कुहर के अनुसार देवसमाज में जो वैज्ञानिक चिन्तन है वह मुख्यतः ड्रमण्ड की पुस्तक *Natural Law in the Spiritual World* तथा स्पेन्सर के ग्रन्थों पर आधारित है। ब्रह्मसमाज की ही भांति देवसमाज पुनर्जन्म को मान्यता नहीं देता। १९१३ में सत्यानन्द ने अपने ही पुत्र देवानन्द को अपना स्थानापन्न नियुक्त किया। इसका विरोध उसके एक शिष्य देवरतन ने किया जो चौबीस वर्षों तक उससे सम्बद्ध रहा था। फलतः देवरतन अपने गुरु से पृथक् हो गया। उसने एक अन्य संस्था *The Society for the Promotion or Higher Life* बनाई जिसमें 'गुरु' का पूर्णतया बहिष्कार किया गया है। आज देवसमाज एक धार्मिक संस्था के रूप में सर्वथा अस्तित्वहीन है, किन्तु इस संगठन द्वारा संचालित कुछ शिक्षण संस्थाएँ अवश्य चल रही हैं। आज के देवसमाजियों को भी अपनी संस्था के इस विगत इतिहास का परिपूर्ण ज्ञान शायद ही हो। देवशास्त्र और देवधर्म नामक पुस्तकों

में देवसमाज के सिद्धान्त वर्णित हैं। स्वयं अग्निहोत्री ने कई खण्डों में एक पुस्तक लिखकर स्वयं में देव तत्त्व के विकास की गाथा लिखी थी।

परिचयात्मक (खण्डनात्मक) ग्रन्थ—

१. शिवनारायण की शोखी का जवाब— आजाद

२. नवीनचन्द्री अग्निहोत्री का गृहस्थ संन्यास— मुन्नालाल उप्रैती शर्मा

३. सत असत प्रकाश अर्थात् सत्यानन्द अग्निहोत्री के रिसाला 'पं. दयानन्द का संन्यास' का जवाब— मास्टर मुरलीधर

1. A Reply to Pt. Agnihotri's 'Pt. Dayanand unveiled' मास्टर दुर्गा प्रसाद

2. Agnihotri Demolished, Being a thorough refutation of his Dayanand unveiled and its rejoinder रामभज दत्त चौधरी □

४ रामकृष्ण (विवेकानन्द) मिशन

हिन्दू धर्म (पौराणिक मत) के सभी अच्छे बुरे पक्षों का घनघोर समर्थन करने की प्रवृत्ति आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् के कुछ धर्माचार्यों में दिखाई पड़ती है। भारत के आधुनिक धर्मान्दोलनों के इतिहास को लिखने वाले पादनी जे.एन. फर्कुहर ने इन आन्दोलनों को Full Defence of the old Religions पुराने मतों का पूर्ण बचाव की संज्ञा दी है। ऐसे धर्मान्दोलनों में परमहंस रामकृष्ण तथा उनके तेजस्वी शिष्य स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रचारित धार्मिक विचारधारा की चर्चा आवश्यक है। परमहंस रामकृष्ण का वास्तविक नाम गदाधर चट्टोपाध्याय था। इनका जन्म २० फरवरी १८३४ को बंगाल के हुगली जिले के कामार प्रकुर नामक ग्राम में हुआ। शिक्षा के नाम पर ये कुछ भी अर्जित नहीं कर सके। जब रानी रासमणि नामक एक धनी महिला ने हुगली नदी के तट पर दक्षिणेश्वर में काली का एक बड़ा मंदिर बनवाया तो गदाधर के बड़े भाई रामकुमार को इसका पुजारी नियुक्त किया गया। रामकुमार ने अपने छोटे भाई गदाधर को मंदिर की पूजा अर्चना में सहायता देने के लिये कलकत्ता बुला लिया। यहीं से गदाधर की आध्यात्मिक साधना आरम्भ होती है। वे घण्टों तक काली प्रतिमा से बातें करते और कभी-कभी अपने इष्ट देव का चिंतन करते हुए उनकी भाव समाधि लग जाती। १८५९ में उनका विवाह एक अल्पवयस्क कन्या शारदा से कर दिया गया, किन्तु रामकृष्ण ने अपनी पत्नी से कभी दाम्पत्य, सम्बन्ध स्थापित नहीं किया। एक ब्राह्मण संन्यासिनी ने रामकृष्ण के व्यक्तित्व में निहित आध्यात्मिक शक्तियों को पहचाना और उसे साधना पक्ष पर आगे बढ़ने में सहायता दी। बाद में तोतापुरी नामक एक दशनामी संन्यासी ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी तथा वेदान्त के तत्त्वों को बताया। अब उनका नाम रामकृष्ण हुआ।

यह रामकृष्ण का साधना काल था। उन्होंने इस तथ्य को अनुभव किया कि सभी मत मतान्तरों की पूजा उपासना प्रणाली चाहे देखने में भिन्न ही क्यों न हो, वह तत्त्वतः अभिन्न ही है। और इन मत सम्प्रदायों की साधना पद्धतियाँ परम तत्त्व का ही साक्षात्कार कराती हैं। इस मन्तव्य को व्यावहारिक रूप से जानने समझने के लिये रामकृष्ण ने क्रमशः वाम मार्ग, वैष्णव, ईसाइयत तथा इस्लाम की साधना पद्धतियों का व्यक्तिशः अनुभव प्राप्त किया। इस दौरान उनका आचरण, व्यवहार तथा इतर दैनन्दिन कार्य उक्त सम्प्रदायों में स्वीकृत आचरण पद्धतियों के अनुकूल रहा। वैष्णव साधना की अवधि में वे स्वयं को

राधा समझकर स्त्रैण वस्त्र धारण करते तथा स्त्रियों की ही भांति बोलते। वाममार्गियों के द्वारा स्वीकृत पञ्चमकार सेवन करने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ। ईसाई मत की साधना करते समय उन्हें ईसा मसीह का दर्शन हुआ और कहा जाता है कि इस्लाम की जीवन या साधना पद्धति को अपनाते समय वे गोमांस खाने के लिये उत्सुक दिखाई पड़े, किन्तु रानी रासमणि के दामाद मथुरा बाबू ने उन्हें इस प्रकार का अनाचार करने की आज्ञा नहीं दी।

रामकृष्ण की इस मान्यता से तो शायद ही किसी का विरोध हो कि संसार में प्रचलित सभी मत सम्प्रदाय ईश्वर तत्त्व के ही जिज्ञासु हैं और उनका आराध्य एवं उपास्य भी वह परम पिता परमात्मा ही है। यह दूसरी बात है कि ईश्वरोपासना तथा उसकी पूजा अर्चना की साम्प्रदायिक प्रणालियों में स्पष्टतः भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। किन्तु यह भी सत्य है कि इन मत सम्प्रदायों की पूजा उपासनाओं में जो स्थूल तत्त्व आकर मिल गये हैं उनके औचित्य को स्वीकार करना कठिन हो जाता है। यदि कोई सम्प्रदाय यह कहे कि परमात्मा को प्राप्त करने के लिये राधा या गोपियों के तुल्य स्त्रियोचित आचरण करना होगा, अथवा इस्लाम के अनुयायियों की भांति खुदा के लिये बकरे या मेंढ़े की बलि देकर उसे प्राप्त किया जा सकता है तो यह हठ या दुराग्रह ही माना जायगा। खेद है कि रामकृष्ण ने आध्यात्मिक साधना के मौलिक उपादानों को चीन्हने की अपेक्षा साम्प्रदायिक स्थूल कर्मकाण्डों और परस्पर विरुद्ध मत विश्वासों में एकता तलाशने का ही श्रम किया।

रामकृष्ण शाब्दिक अर्थ में पढ़े लिखे नहीं थे, किन्तु वे अपने समीप आये भक्तों और अपने अनुयायियों को अनेक दृष्टान्तों, उपाख्यानों तथा लौकिक उदाहरणों से धर्म और अध्यात्म के स्वानुभूत तत्त्वों का उपदेश देते रहते थे। कालान्तर में उनके एक भक्त महेन्द्रनाथ गुप्त ने *The Gospel of Sri Ram Krishna* शीर्षक से इन उपदेशों को संगृहित किया। फर्कुहर ने उन्हें प्रखर संवाद पटु (Conversationalist) की संज्ञा दी और अंग्रेजी के महान् विद्वान् डॉ. सैमुअल जान्सन के समान उन्हें अजस्र वाग्धारा का स्वामी कहा है।

इन्हीं रामकृष्ण के सम्पर्क में नरेन्द्रनाथ दत्त नामक एक युवक आया। ९ जनवरी, १८६२ को कलकत्ता के एक कायस्थ कुल में उत्पन्न नरेन्द्र ने कालेज की उच्च शिक्षा पाई थी। अपनी धार्मिक जिज्ञासा को शान्त करने के लिये वह थोड़े दिन तक ब्रह्मसमाज में भी जाता रहा किन्तु वहाँ उसकी सन्तुष्टि नहीं हुई। अपने एक रिश्तेदार के आग्रह पर नरेन्द्र ने दक्षिणेश्वर जाकर रामकृष्ण के दर्शन किये और वह उनके प्रभाव क्षेत्र में आ गया। उसने रामकृष्ण की विचारधारा को सर्वांश में आत्मसात कर लिया। दार्शनिक दृष्टि से रामकृष्ण ने शांकर द्वैत मत की सत्यता घोषित की थी किन्तु मूलतः शाक्त

मत के उपासक होने के कारण वे तांत्रिक उपासना पद्धति से भी आजीवन जुड़े रहे। स्वामी विवेकानन्द (नरेन्द्र नाथ दत्त ने संन्यास लेकर यही नाम धारण कर लिया था) ने भी आजीवन अपने गुरु रामकृष्ण की विचारधारा का ही प्रचार किया। अपने कतिपय भक्तों और प्रशंसकों के आग्रह पर वे विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिये अमेरिका गये और सितम्बर १८९३ में उन्होंने शिकागो में आयोजित इस सम्मेलन के खुले अधिवेशन में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में अपनी प्रसिद्ध वक्तृता दी। ओजस्वी वक्तृत्व शैली, संसार के धर्म मतों में पाये जाने वाले समानता के तत्त्वों का विशद एवं प्रभावशाली निरूपण तथा भारतीय धर्म संस्कृति और सभ्यता का उदात्त आख्यान ही वे तत्त्व थे जिनके कारण भारत के इस वीतराग संन्यासी ने धन, वैभव और भौतिक चाकचिक्य में आकण्ठ मग्न पश्चिमी जगत् को विस्मय विमुग्ध कर दिया। विवेकानन्द ने यह तो स्वीकार किया कि भारत को पश्चिम के ज्ञान विज्ञान, तकनीक तथा अन्य भौतिक उपलब्धियों से लाभ उठाना है, किन्तु वे ईसाई प्रचारकों के इस कथन से सहमत नहीं थे कि धर्म और नैतिकता के ज्ञान से शून्य भारत के हिन्दुओं को ईसाई मत का पाठ पढ़ाया जाना आवश्यक है। अमेरिका पत्र पत्रिकाओं ने भी स्वामी विवेकानन्द के इस कथन की सत्यता को समझा। न्यूयार्क हैरल्ड ने लिखा— "After hearing him we feel how foolish it is to send missionaries to this learned nation." अर्थात् स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यान को सुनने के पश्चात् हम अनुभव करते हैं कि भारत जैसे विद्वत्तापूर्ण देश में ईसाई प्रचारकों को भेजना कितना मूर्खता पूर्ण है।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों के प्रचार तथा शिक्षा, चिकित्सा जैसे लोकहित के सेवा कार्यों के लिये रामकृष्ण की मिशन की स्थापना की तथा अपने गुरु भाइयों (स्वामी रामकृष्ण के अन्य संन्यासी शिष्यगण) को वेदान्त प्रचार, दरिद्रता निवारण, चिकित्सा, शिक्षा प्रचार आदि के कार्यों में नियोजित किया। ४ जुलाई १९०२ को मात्र चालीस वर्ष की आयु में स्वामी विवेकानन्द का बेलूर मठ में निधन हो गया। परमहंस देव १८८५ में दिवंगत हो चुके थे।

स्वामी विवेकानन्द द्वारा हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति के उदात्त एवं भव्य रूप को जिस प्रकार विश्व मानवता के समक्ष प्रस्तुत किया गया, उसकी प्रशंसा करने में शब्दों की कृपणता नहीं होनी चाहिए। तथापि सम्पूर्ण विवेकानन्द साहित्य (लिखित, मौखिक व्याख्यानों में संकलित तथा पत्र व्यवहार के रूप में उपस्थित) का अनुशीलन करने के पश्चात् हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि उनके विचारों में एकरूपता कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती। इसके विपरीत वदतोव्याघात युक्त परस्पर विरुद्ध कथन सर्वत्र भरे पड़े हैं। हम इसे निम्न प्रकार से प्रमाणित कर सकते हैं—

१. स्वामी विवेकानन्द ने अन्य वैदिकों की ही भांति वेदों को धर्म का मूलाधार, ईश्वर निश्चस्ति तथा नित्य घोषित किया, किन्तु वस्तुतः वेदों को गम्भीर अभ्यास न करने के कारण वे वेदों में बहुदेवतावाद, याज्ञिक कर्मकाण्ड, पशुहिंसा, तथा लौकिक इतिहास आदि की सत्ता से भी इन्कार नहीं कर सके।

२. जहां तक दार्शनिक मान्यताओं का सम्बन्ध है शांकर अद्वैत के प्रबल पक्षपाती होने पर भी वे शांकर भाष्य में प्रस्तुत अनेक युक्तियों तथा तर्कों को उचित नहीं ठहराते। उन्होंने यह भी माना है कि शंकर द्वारा शारीरिक सूत्रों का भाष्य करते हुए कपिल सांख्य का खण्डन करना अनुचित है। उनकी यह भी धारणा थी कि शंकर से पूर्व वेदान्त सूत्रों की भेदवादी व्याख्यायें भी लिखी गई थीं। अद्वैतवाद पर अपनी इन शंकाओं को उन्होंने काशी के एक बंगाली विद्वान् बाबू प्रमदादास मित्र के सम्मुख उपस्थित भी किया था।

(३) स्वामी विवेकानन्द के मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद विषयक विचारों में सर्वत्र अन्तर्विरोध दिखाई पड़ता है। अलवर के राजा द्वारा मूर्तिपूजा के औचित्य पर शंका की जाने पर स्वामी विवेकानन्द ने कोई समुचित उत्तर देने की अपेक्षा राजा से कहा कि वह दीवानखाने में लगी अपनी स्वर्गीय पिता की तस्वीर पर धूक दे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मूर्तिपूजा में औचित्य है। किन्तु स्वामीजी का यह कथन पूर्णतया वाक्छल एवं हेत्वाभास युक्त है। किसी व्यक्ति (चाहे वह राजा है या अन्य) की तस्वीर उसकी स्मृति को जीवित रखने का एक स्थूल प्रतीक मात्र होती है। उस पर पुष्प माला अर्पित करने से इस जड़ वस्तु का न तो सम्मान होता है और न धूक देने से उसका अपमान। तथापि जो वस्तु जिस प्रकार की हो उसका रखरखाव भी यथोचित ही होना चाहिए। तस्वीर कांच में मढ़ कर दीवार पर लगाने के लिये होती है, न कि कोई उस पर धूके। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने मूर्तिपूजा के समर्थन में भी बहुत कुछ कहा तो यत्र तत्र उसका खण्डन करने में भी कोई कसर नहीं रक्खी। जहाँ तक अवतारवाद का प्रश्न है वे तो एक कदम आगे बढ़कर अपने गुरु परमहंसदेव को ही परमात्मा का अवतार घोषित कर बैठे और बेलूर मठ में उनकी प्रतिमा स्थापित कर सायं प्रातः उसकी पूजा अर्चना का विधान कर दिया।

(४) उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न हुए हिन्दू धर्म के सुधार आन्दोलनों के प्रति स्वामी विवेकानन्द में अत्यन्त विरक्ति तथा आक्रोश का भाव था। यों प्रत्यक्षतया वे धर्म एवं समाज के क्षेत्रों में सड़े रीतिरिवाजों तथा रूढ़ियों के विरोधी दिखाई पड़ते हैं, किन्तु वस्तुतः समाज सुधार को लेकर उन्होंने अत्यन्त प्रतिक्रियामूलक विचार व्यक्त किये हैं। इस प्रकार वे कहीं बाल विवाह का समर्थन करते हैं तो अन्यत्र विधवा विवाह को अनुत्साहित करते हैं। स्वामी विवेकानन्द की सुधार के प्रति यह तीखी विरोध दृष्टि क्यों बनी इसके

कारणों में जाना तो यहाँ स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है। फर्कुहर ने इस प्रसंग में उचित लिखा है— "Every particle of Hinduism is of value and must be retained. The reformers are mistaken. In trying to uproot the weeds, they are tearing up the precious wheat also." अर्थात् हिन्दू धर्म का प्रत्येक अंश रक्षणीय है। सुधारकगण गलती पर हैं। वे खरपतवार को उखाड़ने के प्रयास में मूल्यवान् गेहूँ की बालों को भी उखाड़ रहे हैं। हम विवेकानन्द के इस कथन को पूर्णतया भ्रान्त समझते हैं। हिन्दू धर्म में प्रविष्ट हुए अनिष्टकारी तत्त्वों को नष्ट किया ही जाना चाहिए। सुधारकों ने ऐसा करते समय धर्म के मूल्यवान् तत्त्वों को कभी हाथ से जाने नहीं दिया अतः विवेकानन्द का आरोप गलत है। विवेकानन्दीय चिन्तन में पाये जाने वाले अन्तर्विरोध की चर्चा हमने ऊपर की है। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द के समग्र चिन्तन तथा उनके मानसिक धरातल की हम छानबीन करें तो उसमें सामञ्जस्य तथा एकरसता के तत्त्व तो नगण्य ही मिलेंगे। कहीं वे मांस भक्षण का निषेध करते हैं तो अन्यत्र जोर शोर से मांस मछली खाने की वकालत करते हैं। कहीं ईसाइयत और इस्लाम की कटु आलोचना करते हैं तो अन्यत्र इनकी प्रशंसा के पुल बांध देते हैं।

वस्तुतः विवेकानन्द एक गम्भीर दार्शनिक, तत्त्वचिन्तक तथा व्यवस्थित लेखक की अपेक्षा भावना प्रधान व्यक्तित्व वाले धर्म प्रचारक ही थे। अपने सम्मोहक व्यक्तित्व तथा प्रभाव पूर्ण वाक्पटुता के कारण वे विश्व को अपनी ओर खींचने में सफल हुए, किन्तु सावधानी पूर्वक शोध की प्रक्रिया का सहारा लेकर लिखने का गुण उनमें नहीं था। अतः फर्कुहर की इस टिप्पणी से हम असहमत नहीं हैं। There is not the faintest reflection in his writings of the accuracy and correct research which are the very life-breath of modern Scholarship. अर्थात् उनके लेखन में प्रामाणिकता का लेश मात्र भी दिखाई नहीं पड़ता और न अवधान पूर्वक किये गये उस अनुसंधान के ही कोई चिह्न दिखाई देते हैं जो आज के वैदुष्य का प्राण जीवन समझा जाता है।

स्वामी विवेकानन्द को भारत राष्ट्र तथा हिन्दू धर्म के सर्वश्रेष्ठ प्रवक्ता होने का गौरव प्रदान किया गया है। उनके स्फूर्तिदायक उपदेशों ने देशवासियों को शताब्दियों के आलस्य, प्रमाद, अकर्मण्यता तथा हताशा से छुटकारा दिलाया तथा उनमें देशाभिमान, स्वदेश गौरव तथा राष्ट्रीय अस्मिता का भाव जागृत किया। तथापि उन्होंने देश के राष्ट्रीय संग्राम में सक्रिय होने के लिये देशवासियों को भूल कर भी प्रेरित नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने राजनीति को भारत के सार्वजनिक जीवन से पृथक् बताया (भारत में विवेकानन्द पृ. १२८), क्रान्तिकारी देश भक्तों को उनके कर्तव्य पथ से विमुख करने का प्रयास किया (The History of Rama Krishna Mission p. 211) यहाँ तक कि भारत को

कृतघ्न तथा बुद्धिहीनों का देश बताया। (Letters of Vivekananda P. 17) सम्भवतः विवेकानन्द की शिक्षा का ही यही परिणाम था कि कुछ वर्ष पहले कलकत्ता के रामकृष्ण मिशन ने स्वयं को हिन्दू धर्म से पृथक् घोषित कर सरकार से उसे अल्प संख्यक कोटि में रखने का आग्रह किया।

पठनीय समीक्षात्मक साहित्य—

१. महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द— डॉ. भवानीलाल भारतीय

२. स्वामी विवेकानन्द के विचार— स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

□

५ दादा लेखराज का ब्रह्माकुमारी मत

सिंध के लेखराज खूबचंद कृपलानी नामक एक व्यक्ति ने देश विभाजन से पूर्व स्वयं को कृष्ण और अपनी अल्प वयस्का शिष्याओं को गोपी के रूप में प्रसिद्ध किया और ओम् मण्डली के नाम से एक पाखण्ड पूर्ण संगठन बनाया। जब हैदराबाद (सिंध) में इस व्यक्ति ने गोपियों के साथ रास लीला रचाना आरम्भ किया तो सिंध के प्रसिद्ध साधु टी.एल. वास्वानी ने इस अनाचार के विरुद्ध आन्दोलन चलाया, इनके अड्डों पर धरना दिया और दादा नाम से प्रसिद्ध लेखराज के ढोंग पूर्ण कृत्यों की पोल खोली। ओम् मण्डली के संस्थापक पर मुकदमा भी चला और उसकी सर्वत्र बदनामी हुई।

इसी बीच देश का विभाजन हो गया और ओम् मण्डली के काले कारनामे लोगों की स्मृति से ओझल हो गये। दादा लेखराज ने भी आबू पर्वत पर आकर एक नया आशियाना बनाया। उसने पोकरण हाउस नामक भवन को पाण्डव भवन का नाम दिया और ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय के नाम से अपना पाखण्ड जाल पुनः फैला दिया। ब्रह्माकुमारियों के क्रिया कलाप और आचरण रहस्यमय तो होते ही हैं सामान्य व्यक्ति उनकी आपत्तिपूर्ण कार्य प्रवृत्तियों को तब तक नहीं जान सकता जब तक वह उनके सम्पर्क में नहीं आता। दादा लेखराज के अनुयायियों में शिष्यों की अपेक्षा शिष्याओं की संख्या अधिक होती है। ये अपनी इन शिष्याओं को माता-पिता, घर परिवार, पति, पुत्र को छोड़कर आने के लिये कहते हैं किन्तु यह कहना भी नहीं भूलते कि गृह त्याग के समय वे अपने मूल्यवान् आभूषण आदि लाना न भूलें जो ब्रह्माकुमारी सम्प्रदाय के कोश के अंग बन जाते हैं। इस संस्था में धन के आगमन के स्रोत आज तक रहस्यमय बने हुए हैं।

योग के नाम पर ब्रह्माकुमारी मत में आंखों से आंखें मिलाना (एक प्रकार की ट्राटक क्रिया) ही एक मुख्य क्रिया है। जिस समय अंधेरे साधना कक्ष में ब्रह्माकुमारी और ब्रह्माकुमार ध्यान के लिये बैठते हैं उस समय विद्युत प्रकाश को धीमा कर दिया जाता है तथा टेप-रिकार्डर पर फिल्मी गीत गूंजने लगते हैं। इस सम्प्रदाय की दार्शनिक तथा धार्मिक मान्यताएं अत्यन्त अस्त व्यस्त, सर्वथा उलजलूल तथा बिना किसी शास्त्रीय आधार वाली हैं। सच्ची गीता नाम पुस्तक इस मत का एक मान्य ग्रन्थ है जिसे आद्यन्त पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि ब्रह्माकुमारी मत को मान्यताओं में न तो कोई संगति है और न कोई तार्किकता। ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म, सृष्टि रचना, काल विचार जैसे

महत्त्वपूर्ण विषयों पर दादा लेखराज के विचार सर्वथा बेतुके और कल्पना पूर्ण हैं। आश्चर्य होता है कि आज के विचार प्रधान तथा वैज्ञानिक चिन्तन के युग में इस प्रकार की आधारहीन और बेसिर पैर की बातों को लोग कैसे मान लेते हैं और इन मिथ्या, कपोल कल्पित बातों का प्रचार करने वाले सम्प्रदाय किस प्रकार भोले भाले लोगों को बहकाकर उन्हें पथभ्रष्ट करते हैं। राम, कृष्ण, शिव, ब्रह्मा आदि हिन्दू धर्म में मान्य देवताओं तथा रामायण, महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों के बारे में ब्रह्माकुमारियों की धारणाओं को यदि आप सुनें तो हंसे बिना नहीं रहेंगे।

वस्तुतः दादा लेखराज ने स्वयं को ही शिव रूपी ईश्वर घोषित किया और अपने अनुयायियों से यह अपेक्षा की थी कि वे वृद्ध शरीर में निवास करने वाले लेखराज को ही साक्षात् ईश्वर मानें। इस सम्प्रदाय की प्रचार प्रणाली भी विचित्र है। ये लोग जानते हैं कि प्रतिपक्षी की युक्तियों का उत्तर देना तथा उनके द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले प्रश्नों का ठीक ठीक समाधान करना हमारे लिये सम्भव नहीं होगा। अतः इन्होंने जन सामान्य को आकर्षित करने के लिये विचित्र प्रकार की चित्रावलि बना रखी है। इस बात की प्रत्येक शाखा में ब्रह्माकुमारी की द्योतक इन चित्र प्रदर्शनियों के द्वारा युवती प्रचारिकायें आगन्तुकों को अपनी बात समझाने का प्रयत्न करती हैं। किन्तु इन बेचारी कुमारिकाओं को वही रटी रटाई बातें दर्शकों के सामने रखनी पड़ती हैं। यदि कोई प्रबुद्ध दर्शक-श्रोता कभी तीखा या टेढ़ा प्रश्न कर ले तो ये युवती साधिकायें अप्रतिम होकर बगलें झांकने लगती हैं।

सत्य की अपेक्षा मिथ्या का प्रसार सहज और बिना अधिक परिश्रम के हो सकता है, इस तथ्य को ब्रह्माकुमारियों की प्रचार प्रणाली ने उजागर कर दिया है। आज देश में इस पाखण्डपूर्ण सम्प्रदाय की हजारों शाखायें हैं तो विदेशों में भी इनका जाल बिछा हुआ है। वस्तुतः इनकी प्रचार प्रणाली की दाद देनी पड़ती है। जहाँ अपने सच्चे और खरे सोने की प्रामाणिकता सिद्ध करने में एक व्यक्ति को घोर परिश्रम करना पड़ता है वहाँ ब्रह्माकुमारी आन्दोलन से जुड़े लोग अपने नकली माल को भी धड़ल्ले के साथ बचने में सफल हो रहे हैं। इसके अनेक कारण हैं किन्तु प्रमुख कारण यह है कि सामान्य अपठित या अल्पपठित व्यक्ति का तो कहना ही क्या, उच्च शिक्षित तथा प्रबुद्ध व्यक्ति भी बिना सच्चाई का पता लगायें ब्रह्माकुमारियों के वाक्जाल में फंस जाते हैं तथा उनके कार्यक्रमों में अपना सहयोग देने में संकोच नहीं करते। आज ब्रह्माकुमारी संस्था की मुखिया दादी प्रकाशमणि नामक एक वृद्ध महिला है जो दादा लेखराज की मृत्यु के पश्चात् सम्प्रदाय की प्रमुख है। यह सम्प्रदाय सार्वजनिक सम्पर्क को अत्यधिक महत्त्व देता है और अपने कार्यक्रमों में साधारण राजनीतिज्ञों से लेकर देश के प्रधान मंत्री, राज्यपाल, राष्ट्रपति तक

को आमंत्रित करने में संकोच नहीं करता। नैतिकता, सदाचार, चरित्र निर्माण, दुर्गुण उन्मूलन, भ्रष्टाचार विरोध, राष्ट्र निर्माण, अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव, साम्प्रदायिक सौमनस्य जैसे जन-साधारण को प्रभावित करने वाले विषयों पर गोष्ठियाँ, सम्मेलन तथा कार्य शालाओं का आयोजन कर ब्रह्माकुमारी मत वाले अपने सम्पर्क का दायरा फैलाते हैं। किन्तु इनके द्वारा आयोजित इन संगोष्ठियों और सम्मेलनों में भाग लेने वाले इन उच्च वर्ग के लोगों को इस मत के विगत इतिहास, इनके स्वकल्पित सिद्धान्तों तथा इनकी वास्तविकता की किञ्चित मात्र कभी जानकारी नहीं होती।

ब्रह्माकुमारी सम्प्रदाय विषयक समीक्षात्मक साहित्य—

१. ब्रह्माकुमारी मत दर्पण— जगदीशचन्द्र विद्यार्थी
२. ब्रह्माकुमारी मत दर्पण— शिव दयालु
३. ब्रह्माकुमारी संस्था— रामगोपाल शालवाले
४. ब्रह्माकुमारी मत खण्डन— श्रीराम आर्य
५. सच्ची गीता की आलोचना— देवदत्त शास्त्री



६ प्रभात रंजन सरकार स्थापित आनन्द मार्ग

मुंगेर जिले के जमालपुर जंक्शन पर रेलवे में लिपिक का काम करने वाले प्रभात रंजन सरकार नामक एक बंगाली ने आनन्द मार्ग की स्थापना की। प्रभात रंजन सरकार का जन्म १९२१ में हुआ था। यद्यपि वह रेलवे का एक मामूली किरानी ही था, किन्तु उसने अपने आपको एक तांत्रिक तथा हस्त विद्या विशारद ज्योतिषी के रूप में प्रसिद्ध कर रक्खा था। अपनी इन्हीं चालाकियों और चालबाजियों के बल पर उसने कुछ लोगों को अपने प्रभाव में ले लिया। धीरे-धीरे बड़े सरकारी अफसर भी उसके सम्पर्क में आये जिन्हें उसने अपने वाक्छल तथा अन्य प्रकार की धूर्ततापूर्ण कार्यवाहियों से अपने वश में किया। फलित ज्योतिष के प्रति आकर्षण प्रायः लोगों की कमजोरी होती है।

९ जनवरी, १९५५ को सरकार ने जमालपुर की रेलवे कालोनी में आनन्द मार्ग की स्थापना की। उसने योग, तंत्र, अध्यात्म आदि के लुभाने वाले शब्दों के जाल में हजारों लोगों को फंसाया। आनन्द मार्ग में प्रविष्ट होकर जीवनदान देने वाले अवधूत कहलाते हैं। इन्हें आनन्दमार्ग की दीक्षा लेने के पहले अपनी शिक्षा तथा यज्ञोपवीत को तिलाञ्जलि देनी पड़ती है। आनन्दमार्ग की दीक्षा पद्धति भी वाममार्ग तांत्रिकों के क्रिया-कलापों की भांति गोपनीय तथा छलना पूर्ण होती है। प्रभातरंजन सरकार अपने शिष्यों में बाबा या आनन्द मूर्ति के नाम से जाने जाते हैं। इनके शिष्य 'बाबा नाम केवलम्' की रट लागाये रहते हैं। जैसे वाममार्गी यदा कदा भैरवी चक्र का अयोजन कर मद्य, मांस तथा गुप्त व्यभिचार का सेवन करते हैं उसी आनन्दमार्ग के अवधूत भी धर्मचक्र का अयोजन करते हैं। मनुष्य की खोपड़ियाँ हाथ में लेकर भयावनी मुद्राओं से अवधूतों का यह नैश नृत्य ताण्डव नृत्य कहलाता है।

यों संसार को दिखाने के लिये आनन्दमार्गियों ने स्कूल, अस्पताल आदि सेवा संस्थाएँ भी बना रखी हैं। कुछ वर्ष पूर्व बंगाल में आनन्दमार्ग ने कुछ ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दी थीं जिनके कारण बंगाल की साम्यवादी सरकार को इस सम्प्रदाय से खुला संघर्ष करना पड़ा। तब आनन्दमूर्ति के अनेक काले कारनामों का पर्दाफाश हुआ। बाबा के खुद के काले कारनामों को उजागर करने के लिये उसकी पत्नी उमा सरकार ही आगे आई।

आनन्दमूर्ति का दाहिना हाथ समझा जाने वाला विशोकानन्द अवधूत भी अपने गुरु के दुष्चरित्रों का भण्डाफोड़ करने में पीछे नहीं रहा। परिणाम यह हुआ कि अनेक अमानुषिक हत्याओं तथा अस्वाभाविक यौन प्रसंगों के आरोप बाबा आनन्दमूर्ति पर लगाये गये। लम्बी अवधि तक वे जेल में रहे तथा केन्द्रीय जांच ब्यूरो को आनन्दमार्ग के संस्थापक की अपराधपूर्ण प्रवृत्तियों की जांच का काम सौंपा गया। उन वर्षों में आनन्द मार्ग समाचार पत्रों की सुर्खियों में रहता था।

आनन्दमूर्ति ने अपनी वाचालता, उल्टे सीधे प्रवचन उपदेशों से आनन्दमार्ग का जो विस्तार किया, उसका अनुमान इसी बात से होता है कि भारत में तो उसकी सैकड़ों शाखाएँ थीं ही, विदेशों में भी उसके हजारों अनुयायी थे। पाठक वह प्रसंग नहीं भूले होंगे जब तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई के आस्ट्रेलिया प्रवास के समय एक विदेशी आनन्दमार्गी ने ही उनके प्राणहरण की चेष्टा की थी।

अपने विचारों के प्रचार के लिये आनन्दमार्गी ने अनेक ग्रन्थ विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित किये हैं। इन ग्रन्थों में नाना प्रकाश के युक्तिजाल, वाक्छल तथा हेत्वाभास पूर्ण कथनों का सहारा लेकर आनन्दमूर्ति अपने विचारों को पाठकों तक पहुंचाता है। दर्शन सूत्रों की भांति आनन्दमार्गी ने भी आनन्दसूत्रम् की रचना की है। इसकी बानगी देखिये—

ब्रह्म सत्यं जगदपि सत्यमापेक्षिकम्

ब्रह्म तो सत्य है ही, संसार भी आपेक्षिक रूप से सत्य है। 'काणिका में प्राउट' शीर्षक अनेक खण्डों में लिखी गई पुस्तक आनन्दमार्ग के विचारों का संग्रह है। रजनीश की ही भांति आनन्दमूर्ति प्रवचनों के द्वारा ही अपनी बात कहता था। किन्तु जिस मत की नींव ही असत्य, ढोंग, पापाचार तथा चरित्रहीनता पर टिकी हो उसकी गति वैसी ही होती है। अभियोग के दिनों में आनन्दमूर्ति के जो कारनामे जनता के समक्ष आये उनसे इस अनाचारपूर्ण सम्प्रदाय का पूरा भण्डाफोड़ हो गया। आज आनन्दमूर्ति संसार त्याग चुके हैं और उनके सम्प्रदाय का स्वास्थ्य भी खराब ही चल रहा है।

विशेष अध्ययन—

१. आनन्दमार्ग— निरानन्द की ओर

२. आनन्दमार्ग दर्पण— गोविन्द प्रसाद आर्य

□

७ पं. श्रीराम शर्मा और उनकी गायत्री संस्था

मथुरा जिले के एक ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में जन्मे श्रीराम शर्मा आर्यसमाज के सम्पर्क में आये और मथुरा नगर की आर्यसामाजिक गतिविधि में जोर शोर से भाग लेने लगे। कुछ समय बाद उन्होंने अनुभव किया कि आर्यसमाज में रहकर वे न तो प्रभूत द्रव्योपार्जन कर सकते हैं और न अधिक से अधिक लोगों के गुरु बनकर अपने गुरुडम का विस्तार ही कर सकते हैं। फलतः उन्होंने अनुभव किया कि कुछ ऐसा किया जाना चाहिए जिससे अधिक से अधिक भावुक हिन्दुओं की धर्म भावनाओं का लाभ उठा कर अपने स्वार्थों की पूर्ति की जा सके। उन्होंने देखा कि गायत्री मंत्र और यज्ञ ऐसे दो प्रतीक हैं जिनके साथ अशेष हिन्दू समाज की निष्ठा जुड़ी है फलतः उन्होंने गायत्री मंत्र तथा गायत्री यज्ञ के द्वारा ही लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने का निश्चय किया।

अब श्रीराम शर्मा ने गायत्री की एक सुन्दर स्त्री मूर्ति कल्पित की और प्रत्येक गायत्री यज्ञ के आरम्भ में इस प्रस्तर प्रतिमा की पूजा करानी आरम्भ की। इस भले आदमी को यह नहीं सूझा की अन्य छंदों की भांति गायत्री भी एक वैदिक छन्द है जिसकी सम्पूर्ण वर्ण संख्या २४ होती है। 'तत्सवितुर्वरेण्यं' से आरम्भ होने वाला प्रसिद्ध मंत्र भी गायत्री छंद है और इसमें सविता नाम वाले परमात्मा से बुद्धि की याचना की गई है। निश्चय ही आर्य धर्म में इस मंत्र को वैशिष्ट्य तो प्राप्त है किन्तु किसी भी प्राचीन ऋषि, मुनि, धर्मशास्त्रकार या कर्मकाण्ड निष्णात आचार्य ने इस मंत्र को नारी मान कर उसकी मूर्ति बनाने तथा उसकी धूप, दीप, नैवेद्य आदि से षोडशोपचार पूजा करने का विधान नहीं किया।

हिन्दुओं का जड़ पूजा के प्रति सहज आकर्षण होता है। परिणाम यह निकला कि स्थान पर श्रीराम शर्मा के नेतृत्व में गायत्री यज्ञ होने लगे और इनमें अधिकाधिक आडम्बर किये जाने लगे। यज्ञ के पूर्व दिन सुहागिन स्त्रियों द्वारा जल भरे कलशों की यात्रा, यज्ञ वेदी की परिक्रमा जैसे अनेक स्वकल्पित विधान श्रीराम शर्मा द्वारा आरम्भ किये गये। गायत्री जप से अनेक प्रकार के भौतिक लाभ तथा चमत्कारों के होने की घोषणायें की गईं और देखते ही देखते पं. श्रीराम शर्मा का गायत्री परिवार भारत की सीमाओं को पार कर अन्य देशों में भी विस्तार कर गया।

अब इस गायत्री सम्प्रदाय के स्वयं पर संस्थापक श्रीराम शर्मा ने अपने को 'वेदमूर्ति'

कहना आरम्भ किया और उपलब्ध टीकाओं और भाष्यों का सहारा लेकर वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण तथा अन्य धर्मशास्त्रों पर भाष्य लिख डाले। वस्तुतः इन तथाकथित भाइयों में न कोई मौलिकता है और न इनसे इस शास्त्र वाङ्मय की कोई गौरव वृद्धि ही हुई किन्तु शर्माजी को तो सर्व शास्त्र भाष्यकार कहलाने का लाभ मिल ही गया। इन भाष्यों में मौलिकता का सर्वथा अभाव है, यह मात्र पिष्टपेषण ही है।

धीरे-धीरे गायत्री परिवार की सदस्य संख्या बढ़ी तो आचार्य और वेदमूर्ति कहलाने वाले शर्माजी के चरणों में लक्ष्मी का निर्बाध आगमन होने लगा। उन्होंने लाखों रुपये खर्च कर हरिद्वार में शान्ति निकुंज नामक भव्य आश्रम की स्थापना की, अपने भक्तों को स्थान स्थान पर गायत्री शक्ति पीठ नाम से मंदिर बनाने का आदेश दिया और इस प्रकार अपने प्रभाव तथा ऐश्वर्य का विस्तार किया। जैसा कि प्रायः देखा जाता है सम्प्रदाय के चल पड़ने पर उसके प्रवर्तक को स्वयं को साक्षात् भगवान् तथा जगद्गुरु घोषित करने का लोभ सताने लगता है। श्रीराम शर्मा भी इसी क्षुद्र वासना के शिकार हुए और अपनी आत्मकथा में स्वयं को अवतार पुरुष, संसार के परित्राता, पूर्व जन्मों में कबीर, समर्थ रामदास तथा रामकृष्ण परमहंस का शरीर धारण करने वाली दिव्यात्मा घोषित कर दिया। अपने वर्तमान जीवन में बारे में भी उन्होंने कितनी ही मिथ्या बातें लिखीं। अपने पिता को महामना मालवीय जी का साथी और स्वयं को मालवीय जी द्वारा यज्ञोपवीत दिये जाने जैसी गप्पों को इस आत्मकथा में लिखने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ। वे जानते थे कि उनके शिष्य वर्ग में उनके प्रति जो अंधश्रद्धा उन्हीं के द्वारा जानबूझ कर फैलाई गई है, उसके रहते कोई माई का लाल उनकी इन मिथ्या और अतिशयोक्तिपूर्ण बातों के प्रति अविश्वास हरगिज नहीं करेगा।

इस प्रकार गायत्री परिवार का प्रचुर विस्तार तथा अपने भक्तजनों की अपार संख्या वृद्धि को देखकर निश्चय ही श्रीराम शर्मा को आत्म सन्तोष तो हुआ ही होगा, किन्तु यदि वे अपनी आत्मा के प्रति सच्चे होते तो स्वयं से यह पूछे बिना नहीं रहते कि गायत्री और यज्ञ को आधार बनाकर इतना आडम्बर रचने से उनकी क्षुद्र यशोलिप्सा भले ही पूरी हुई हो, इससे भावुक भक्तों को कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं मिला। जब शर्माजी दिवंगत हो गये तो उनके भक्त मण्डल ने उनकी पत्नी को 'जगमाता' का विरुद्ध प्रदान किया और उसे शर्माजी का स्थानापन्न, अध्यात्म शक्ति सम्पन्न दिव्य मातृशक्ति के रूप में प्रचारित किया। गायत्री परिवार के संगठन और व्यवस्था का भार अब श्रीराम शर्मा के दामाद प्रवीण पण्ड्या के कंधों पर आया।

विगत दो तीन वर्षों सम्प्रदाय के लोगों ने देश के बड़े-बड़े नगरों में अश्वमेध यज्ञ कराने के आडम्बरपूर्ण समारम्भ किये। इन भले आदमियों को वैदिक और श्रौत कर्मकाण्ड

के क, ख का भी ज्ञान नहीं और चल पड़े अश्वमेध यज्ञ कराने। यजुर्वेद के अश्वमेधाध्याय के मंत्रों का वास्तविक अर्थ न जानने वाले किन्तु यज्ञ के नाम पर भावुक जनता को उल्लू बनाने वाले इन पाखण्डियों ने अश्वमेध यज्ञ के नाम पर करोड़ों रुपये एकत्र किये तथा जयपुर, लखनऊ, भोपाल तथा अन्य नगरों में लाखों लोगों को एकत्र कर अश्वमेध के नाम से गायत्री मंत्र बुलवा कर आहुतियां दिलवाई। इन मूर्ख किन्तु भावुक भक्तों ने सचमुच मान लिया कि शास्त्रीय अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न हो गया।

आज श्रीराम शर्मा के धराधाम से उठ जाने पर भी उनके द्वारा आविष्कृत गायत्री सम्प्रदाय फल-फूल रहा है और रात्रिदिवा उसका विस्तार हो रहा है। सम्प्रदाय के संचालकों ने सैकड़ों ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। भावुक गायत्री भक्तों की संतुष्टि के लिये गायत्री चालीसा की गुटका पुस्तकें तैयार कर छपाई गई तथा गायत्री की आरती तक होने लगी। यह बात नहीं कि इस सम्प्रदाय में अपठित या ग्रामीण जनता का ही प्रवेश हुआ हो, अधिकांश में नगरों और कस्बों के निवासी सुपठित और सम्पन्न नागरिक भी गायत्री सम्प्रदाय की भावुक मण्डली में प्रविष्ट हुए हैं। आर्यसमाज में रहकर श्रीराम शर्मा को जो प्राप्त नहीं होता उसे उन्होंने गायत्री के नाम पर नया सम्प्रदाय स्थापित कर प्राप्त कर लिया।

गायत्री परिवार विषयक आलोचनात्मक साहित्य—

१. पं. श्रीराम शर्मा: एक सरल अध्ययन— प्रेम भिक्षु वानप्रस्थ

२. गायत्री परिवार: एक समीक्षा— डॉ. रामकृष्ण आर्य

३. श्रीराम शर्मा एवं उनके पंथाइयों से ५१ प्रश्न— हरिश्चन्द्र आर्य

□

८ स्वामी सत्यानन्द और राम शरणम् सम्प्रदाय

आर्यसमाज के पीयूषवर्षी कथावाचक तथा विद्वान् स्वामी सत्यानन्द ने ही कालान्तर में वैदिक सिद्धान्तों से मुंह मोड़कर राम नाम का प्रचार किया और राम शरणम् नाम के सम्प्रदाय की स्थापना की। स्वामी सत्यानन्द का जन्म १८६१ में रावलपिण्डी जिले के ग्राम जगू का मोरा में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। सत्रह वर्ष की आयु में ये जैन साधुओं के सम्पर्क में आये और उनसे प्रभावित होकर उन्नीस वर्ष में जैन यति बन गये। उन्होंने जैन ग्रन्थों का भली-भाँति अध्ययन किया था, किन्तु उनकी आध्यात्मिक पिपासा यथावत् बनी रही। अन्ततः वे आर्यसमाज के सम्पर्क में आये और १८९८ में संन्यास की दीक्षा ली। तदनन्तर स्वामीजी ने वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे। इस बीच उन्होंने एकादशोपनिषद् टीका, ओंकार उपासना, श्रीमद्भगवद्गीता प्रकाश आदि अनेक पुस्तकें लिखीं तथा आर्यसमाज में सर्वत्र यश प्राप्त किया।

१९२८ में स्वामी सत्यानन्द के दिमाग में राम की भक्ति तथा राम नाम के प्रचार का विचार आया और उन्होंने भक्ति प्रकाश नामक पुस्तक लिखकर राम नाम की महत्ता का निरूपण किया। इस पर आर्यसमाज में आलोचना के स्वर उभरे तथा सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने स्वामीजी से राम नाम विषयक स्पष्टीकरण मांगा। बहुत कुछ पत्राचार करने के बाद स्वामी सत्यानन्द ने स्पष्ट कह दिया कि मैं आर्यसमाज को छोड़ सकता हूँ किन्तु राम नाम को नहीं छोड़ सकता। इस प्रकार एक विद्वान् तथा शास्त्रज्ञ संन्यासी वैदिक धर्म से विमुख होकर सम्प्रदाय प्रवर्तक बन बैठा। १९६० में स्वामी सत्यानन्द का निधन हुआ।

अपने भक्तों द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने एक बार कहा था यह ओम् नाम तो आर्यसमाजियों ने चलाया है। यह कहते समय वे भूल गये कि वेद, उपनिषद, दर्शन, रामायण, महाभारत आदि सभी शास्त्रों ने ओम् की महत्ता का गायन किया है न कि राम का। किसी भी वैदिक या आर्ष ग्रन्थ में राम नाम को ईश्वर वाचक नहीं माना गया है। सामान्य जन समाज गतानुगतिके नियम को मानते हैं। वे धर्म और अध्यात्म में भी Short cut चाहते हैं जहाँ बिना परिश्रम किये त्याग, तपस्या, साधना तथा वैराग्य रहित जीवन बिताते हुए

मात्र राम नाम को रटने से ही यदि मुक्ति मिल जाये तो इससे बढ़कर सस्ता सौदा और क्या हो सकता है। फलतः स्वामी सत्यानन्द के अनुयायियों ने राम शरणम् नामक एक पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना की तथा पंजाब, हरियाणा तथा दिल्ली में अपने विशाल और भव्य भवन बनाये। आज इस सम्प्रदाय की गद्दी पर कोई हंसराज नामक व्यक्ति आसीन हैं। इस सम्प्रदाय का साहित्य प्रकाशन का कार्य मात्रा की दृष्टि से काफी बढ़ा चढ़ा है। स्वामी सत्यानन्द ने आर्यसमाज काल के ग्रन्थों में केवल उपनिषद् भाष्य को छोड़कर अब कोई ग्रन्थ 'राम शरणम्' नहीं छापता, किन्तु उनके प्रवचनों के संग्रह गीता की टीका तथा भक्ति प्रकाश आदि कृतियाँ बराबर छपती हैं तथा राम भक्तों में उनका प्रचार है।

पठनीय साहित्य—

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के २७ वर्षीय इतिहास में स्वामी सत्यानन्द का प्रकरण। □



९ पाण्डुरंग शास्त्री आठवले और उनका स्वाध्याय सम्प्रदाय

महाराष्ट्र तथा गुजरात में पाण्डुरंग शास्त्री आठवले नामक एक सुपठित विद्वान् के स्वाध्याय नामक सम्प्रदाय का विगत चालीस वर्षों में असाधारण प्रचार एवं विस्तार हुआ है। कहते हैं कि इन राज्यों के लगभग एक लाख ग्रामों में स्वाध्याय के अनुयायी विद्यमान हैं तथा विदेशों में भी इसकी शाखाएं स्थापित हुई हैं। पाण्डुरंग शास्त्री की आयु लगभग ७५ वर्ष की बताई जाती है। उनके ग्रन्थों के पढ़ने से शास्त्री जी के व्यापक अध्ययन, विषय प्रपिदन क्षमता तथा अभिव्यक्ति कौशल का पता चलता है। वे प्रायः अपने अनुयायियों के समक्ष प्रवचन ही करते हैं। ये प्रवचन ही सम्पादित होकर पुस्तक के रूप में प्रकाशित किये जाते हैं। उनके विचारों की प्रसारक ये पुस्तकें मराठी, गुजराती, अंग्रेजी तथा हिन्दी में अनेक संस्करण देख चुकी हैं। शास्त्रीजी के विचारों की प्रचारक संस्था का नाम सद्दिचार दर्शन ट्रस्ट है तथा इसका मुख्य कार्यालय बम्बई में है।

यह भी ज्ञात हुआ है कि बम्बई की एक पाठशाला में प्रति रविवार उनके नियमित प्रवचन होते हैं तथा इन्हीं प्रवचनों पर आधारित विडियो कैसेट तैयार किये जाते हैं। जो स्वाध्याय परिवार में शास्त्री जी के विचारों के वाहक बनते हैं।

हमने शास्त्री जी की संस्कृति चिन्तन, एष पन्था एतत्कर्म, दशावतार, मूर्तिपूजा, ईशावास्योपनिषद् आदि ग्रन्थ पढ़े हैं। इनको पढ़कर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि शास्त्री जी ने मुख्यतः हिन्दु धर्म के उसी रूप को व्याख्यात किया है जो सामान्यतया वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण तथा अन्य प्रचलित धर्म ग्रन्थों का आधार लिये हुये हैं। उनका युक्ति कौशल तथा व्याख्यान प्रणाली प्रभावशाली तथा आकर्षक है, किन्तु मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि पौराणिक मान्यताओं से वे अपने आपको पृथक् नहीं कर पाये हैं। इन पौराणिक विकृत विश्वासों का खण्डन करने की अपेक्षा शास्त्री जी ने यत्र तत्र अनेक आपातरमणीय कल्पनाओं, हेत्वाभासों तथा प्रत्यक्ष में सत्य प्रतीत होने वाली युक्तियों का सहारा लेकर मूर्तिपूजा, अवतार तथा अन्यान्य मिथ्या विश्वासों का समर्थन ही किया है। मूर्तिपूजा का समर्थन करते हुए वे एक स्थान पर तो यह भी लिख गये कि वस्तुतः स्वामी दयानन्द का अभिप्राय मूर्तिपूजा का विरोध करना नहीं था, अपितु वे तो मूर्ति पूजा के नाम

पर प्रचलित अंधश्रद्धा, मूर्खता तथा अंधविश्वासों के ही विरोधी थे। इतना ही नहीं वे एक कदम आगे बढ़कर यह भी कह बैठते हैं कि शिवरात्री के दिन शिव प्रतिमा पर चूहे का चढ़ना और इस दृश्य को देखकर दयानन्द का मूर्तिपूजा के प्रति विरक्त होना आर्यसमाजियों द्वारा मनगढ़न्त की गई कथा है। मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद के समर्थन में शास्त्री जी द्वारा प्रस्तुत युक्तियाँ और तर्क अधिक प्रबल नहीं हैं, किन्तु वे उनके वाक् कौशल तथा उक्ति चातुर्य के ही परिचायक हैं। स्वाध्याय सम्प्रदाय की प्रवृत्तियों को दिखलाते हुए श्याम बेनेगल ने अन्तर्नाद शीर्षक एक फिल्म बनाई जिससे पाण्डुरंग शास्त्री के विचारों को दृश्य श्रव्य प्रचार-माध्यम का सम्बल मिला है।

‘स्वाध्याय’ विषयक आलोचनात्मक साहित्य—

१. वसिष्ठ मुनि कृत मूर्तिपूजा— एक विडम्बना

२. पाण्डुरंग शास्त्री आठवले प्रतिपादित शास्त्रीय मूर्तिपूजा की तार्किक समीक्षा— डॉ. भवानीलाल भारतीय, (गुजराती में श्री भावेश मेरजा द्वारा अनूदित,) हिन्दी संस्करण—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित। □

१० आचार्य (भगवान्-ओशो) रजनीश

मध्यप्रदेश के एक साधारण जैन परिवार में उत्पन्न युवक चन्द्रकुमार (या चन्द्रेश कुमार) ने दर्शन शास्त्र में एम.ए. किया तथा जबलपुर के किसी कालेज में वह इसी विषय का प्रवक्ता बन गया। उसकी चिन्तन प्रणाली कुछ विचित्र प्रकार की थी। वह परले दर्जे का पढ़ाकू (Voracious reader) था, जिसने अपनी छात्रावस्था में विभिन्न देशों में उत्पन्न दार्शनिकों, चिन्तकों, वैज्ञानिकों तथा धर्माचार्यों के विचारों को पढ़कर आत्मसात किया। अब तक उसने अपना मौलिक चिन्तन विकसित कर लिया था और धर्मयुग जैसे हिन्दी के प्रख्यात पत्र में उसके विचार छपने लगे। कहते हैं कि मध्यप्रदेश के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता सेठ गोविन्द दास के युवा पुत्र मनमोहनदास का जब अचानक निधन हो गया तो सेठजी को आचार्य रजनीश (जबलपुर का वह अप्रसिद्ध प्रोफेसर ही इसी नाम जाना जाने लगा था) के इन्हीं लेखों से सान्त्वना मिली थी।

रजनीश में वक्तृत्व कला तथा बातचीत का कौशल पराकाष्ठा का था। अपनी इन्हीं योग्यताओं के बल पर वह बम्बई की धनाढ्य मण्डली में लोकप्रियता अर्जित कर सका और शिक्षित वर्ग में उसके विचारों की मौलिकता, प्रवचन कौशल तथा जीवन दृष्टि का प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया। अब रजनीश की ख्याति देश की सीमा को पार कर विदेशों में भी पहुंची और धर्म, समाज तथा लौकिक मर्यादा और मान्यताओं के रूढ़ बंधनों से उकताये लोग रजनीश की स्वतन्त्र, उन्मुक्त तथा उच्छृंखला की सीमा तक पहुंची विचारधारा से प्रभावित होकर मधुमक्खियों की भांति पुणे (कोरे गांवा) स्थित रजनीश धाम में एकत्र होने लगे।

रजनीश ने अपने प्रारम्भ काल में कुछ स्थानों पर अपनी साधना पद्धति को क्रियान्वित करने के लिये शिविर आयोजित किये। इन शिविरों में जहाँ रजनीश नियमित प्रवचन कर अपनी जीवन दृष्टि का सशक्त प्रस्तुतिकरण करते थे वहाँ शिविर में सम्मिलित होने वालों समाज में व्याप्त वर्जनाओं और बंधनों को पूर्णतया तोड़कर स्वतन्त्र, स्वेच्छा से प्रेरित उन्मुक्त आचरण करने की आज्ञा देते थे। उनकी इस विचित्र योग साधना का एक पहलू यह भी था कि साधक गण पूर्ण निर्द्वन्द्व हो जायें, आपनी मानसिक कुण्ठाओं का सम्पूर्ण विसर्जन कर दें। वे उछले, कूदें, हँसें, नाचें, रोयें, गायें— जो कुछ करना चाहें बेफिकर होकर करें। इस उछलकूद के समय नर नारी का पारस्परिक भेदभाव भी समाप्त हो

जाता और विपरीत लिंगी का आलिंगन करने और चुम्बन करने तक का अधिकार साधकों को मिल जाता। 'वृद्ध जग' को चाहे रजनीश की यह 'जवानी' अखरती, किन्तु स्वयंभू आचार्य (बाद में रजनीश स्वयं को भगवान् कहने लगे थे और भगवान् के लिये भी जापानी भाषा के शब्द ओशो का अपने लिये प्रयोग करते थे) तथा उसके देशी विदेशी चेलों को मर्यादा, अनुशासन और शिष्टाचार की दुहाई देने वालों की कोई चिन्ता या परवाह नहीं थी।

रजनीश ने देश विदेश के जितने चिन्तकों, दार्शनिकों तथा धर्माचार्यों के विचारों को पढ़ा था उसकी साधिकार समालोचना करना भी उसके लिये शक्य था। फलतः वह अपने प्रवचनों में कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मोहम्मद, ताओ, कन्फ्यूशियस, कबीर आदि के विचारों की गम्भीर आलोचना करता। इस बात को स्वीकार करना ही होगा कि निसर्ग ने रजनीश को अतुल वागकौशल प्रदान किया था। यदा कदा मुल्ला नसरुद्दीन के जीवन से जुड़े कल्पनापूर्ण किन्तु रोचक और प्रासंगिक चुटकुलों को सुनाकर वह अपने श्रोताओं का मनोरंजन तो करता ही, अपने कथ्य को भी उनके अन्तरमन में प्रविष्ट करा देता। यही रजनीश का चमत्कार था और यही उसका करिश्मा। उसने अपनी मनोनुकूल जीवनप्रणाली को अपने आश्रम में क्रियान्वित किया जहाँ हजारों साधक उसके अनुशासन में रह कर जीवनयापन करते।

रजनीश के जीवन का एक दूसरा पहलू भी था, जिसके कारण वह देश विदेश में आलोचना का पात्र बनता रहा। उसके निकटतम साथियों तथा उसकी सचिव तुल्य सहचरियों ने उसके जीवन के इस कृष्ण पक्ष का जब उद्घाटन किया तो संसार में अपने आपको सर्वशक्ति सम्पन्न समझने वाले इस स्वयंभू भगवान् को भी अमेरिका के कारागार में एक साधारण कैदी की यातनाएं भोगनी पड़ीं। सम्भावना तो यह थी कि जो भयंकर अभियोग उस पर लगाये गये हैं उनके कारण उसका अवशिष्ट जीवन ही बंदीघर की काल-कोठरी में बीत जायेगा किन्तु उसकी किस्मत अच्छी थी कि वह कारागार से मुक्त हुआ। भारत देश को कोसने वाले रजनीश की चिन्ता भी इसी देश में जली और एक विचित्र जीवन का अन्त हुआ।

रजनीश का व्यक्तित्व और उसके विचार सांसारिक लोक को छोड़कर चलने में विश्वास करते थे। उसने ईशावस्योपनिषद् की प्रखर व्याख्या लिखी है। उसके द्वारा दिये गये सहस्रों प्रवचन पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। संभोग और समाधि को एक ही तराजू के दो पलड़े बताकर उसने भारत की प्रचलित नैतिक मान्यताओं को चुनौती दी थी। चुलबुले युवक और युवतियों को रजनीश के इन मांसल प्रवचनों में अदभुत रस मिलता था और साधना के बहाने जब उन्हें एक दूसरे को चूमने, चाटने, आलिंगन और परिभ्रमण

की इजाजत मिल जाती तो इस दिव्यानन्द के आगे भला वे नैतिकता के उपदेशों को सुनकर क्यों झख मारते। ऐसा लगता था मानो वाम मार्ग के भैरवी चक्र ने बीसवीं सदी में रजनीशी योग का रूप लेकर नया अवतार धारण किया है। रजनीश के दर्शन का एक भिन्न पहलू यह है कि उसमें देश या समाज, में व्याप्त अशिक्षा, बेकारी, भुखमरी आदि के लिये न तो चिन्ता प्रकट की गई है और न इसका कोई समाधान ही सुझाया गया है। शायद रजनीश का दर्शन आभिजात्य वर्ग के लोगों की स्थूल वासनाओं की निर्बाध तृप्ति के लिये ही बना था।

आचार्य रजनीश विषयक समीक्षात्मक साहित्य—

१. वाम मार्ग से कामयोग तक— आचार्य नरेश

२. भोग और भगवान्— आचार्य नरेश

३. रजनीश मत की समीक्षा— पं. देवप्रकाश

□

परिशिष्ट-२ भारत के नये धर्मगुरु तथा स्वयंभू भगवान्

भारत भूमि सन्तों-महात्माओं तथा भगवदीय तत्त्व से समन्वित महापुरुषों की धरती रही है। यहां वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, कपिल, कणाद, व्यास, जैमिनि की परम्परा के हजारों तत्त्व द्रष्टा ऋषि मुनि हुए। चाणक्य, शंकर, रामानुज, वाचस्पति मिश्र, उदयन जैसे विचक्षण शास्त्रज्ञ पण्डित तथा आचार्य भी हुए। दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द तथा अरविन्द जैसे शक्तियों के पुंज महात्मा गण भी हुए किन्तु किसी ने स्वयं को साक्षात् परमात्मा या अवतार पुरुष कभी घोषित नहीं किया। भक्तों ने अवश्य शंकराचार्य को साक्षात् शिव का अवतार कहा तथा परमहंस रामकृष्ण के प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने स्व गुरु को राम तथा कृष्ण दोनों को ही इस युग में हुआ अवतार घोषित किया।

अब बीसवीं सदी में कुछ ऐसे तथाकथित गुरुओं तथा तांत्रिक साधकों का आविर्भाव हुआ जिनमें सत्वगुण का अंश तो अल्प ही है, किन्तु जो अपनी प्रखर राजसी तथा तामसी प्रवृत्तियों के कारण जनमानस को आन्दोलित, प्रभावित तथा आतंकित करते रहते हैं। हम यहाँ कुछ ऐसे ही तथा कथित गुरुओं तथा स्वयंभू भगवानों का कच्चा चिट्ठा पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

१. सत्य साईं बाबा

साईं बाबा के नाम से जाने गये व्यक्ति का वास्तविक नाम सत्य नारायण पेटी वेंकप्पा राजू है। यह आंध्रप्रदेश के अनन्तपुर जिले के पुट्टरपारथी ग्राम में २३ नवम्बर, १९२६ को जन्मा। इसकी शिक्षा न किसी स्कूल में हुई न कालेज में। यह अपने द्वारा प्रदर्शित चमत्कारों के कारण ही प्रसिद्ध हो गया। बैंगलोर विश्वविद्यालय के विज्ञान के एक प्रोफेसर ने इसे अपने चमत्कारों को विज्ञान से सिद्ध करने की चुनौती दी किन्तु इस अहंकारी व्यक्ति ने उत्तर दिया 'चींटी की क्या मजाल जो वह हाथी की गुरुता की थाह पाना चाहती है।' हजारों शिक्षित और अशिक्षित लोग जटाजूटधारी साईं बाबा की ओर आकर्षित हुए। वे इसे ईश्वर का साक्षात् प्रतिरूप ही मानते हैं। स्वयं अशिक्षित होते हुए भी यह पढ़े लिखे भक्तों को अपनी ही लाठी से हांकता है। इसके अनुयायियों ने शिक्षण संस्थाएँ चला रखी हैं भक्तों के संगठन हैं जो साप्ताहिक पूजा पाठ करते हैं। इनमें इसी व्यक्ति का गुणगान

होता है। इसके भक्त इसे शीरडी (महाराष्ट्र) के एक मुस्लिम फकीर का अवतार मानते हैं। साई बाबा के चमत्कारों की पोल आगरा का जादूगर निरंजन माथुर खोल चुका है।

२. स्वामी चिन्मयानन्द

इनका मूल नाम बालकृष्ण मेनन है। ये एम.ए. एल.एल.बी. तक शिक्षित हैं तथा इनकी आयु ७४ वर्ष की है। स्वामी जी हिन्दू धर्म के उदार रूप के प्रचारक हैं। वे स्वयं को कोई चमत्कारी पुरुष नहीं मानते। वे अविवाहित हैं और १९५२ से भगवद्गीता तथा वेदान्त का प्रचार कर रहे हैं। इने आश्रम का मुख्यालय बम्बई में है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा विश्व हिन्दू परिषद के कट्टर समर्थक हैं तथा राम जन्मभूमि विवाद में परिषद के पक्ष का समर्थन करते रहे हैं।

३. चन्द्रा स्वामी

राजनीति और कूटनीति की अंधी गलियों में चक्कर लगाने वाले, स्वयं में विवादास्पद किन्तु हथियारों के धनी व्यापारी अदनान खशोगी से निकट का सम्पर्क रखने वाले और न जाने किन-किन विदेशी राष्ट्र नेताओं को अपनी जेब में रखने का अहंकार करने वाले तांत्रिक साधु चन्द्रा स्वामी का वास्तविक नाम नेमीचन्द्र गांधी है। यह अलवर (राजस्थान) जिले के बहेरोड़ कस्बे का निवासी है किन्तु इसका जन्म आन्ध्र प्रदेश में हुआ। स्कूल की शिक्षा को अधूरी छोड़कर तांत्रिक बाबा का जामा पहन लेने वाला चन्द्रा स्वामी भारत का रासपुटिन तथा हमारे राष्ट्रीय क्षितिज पर उदय होने वाला अशुभ धूमकेतु हैं। वह यदि भारत के पूर्व प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर का यार होने का दम भरता है तो कुख्यात वेश्या पामेला बोर्डेस से भी अपनी निकटता बताने में इसे लज्जा नहीं आती।

१९५० में जन्मा चन्द्रा स्वामी कुछ वर्ष पहले तक नई दिल्ली के राजनैतिक गलियारों में चक्कर काटता रहा। उसका सितारा भूतपूर्व केन्द्रीय रेलमंत्री ललित नारायण मिश्र के निकट आने पर बुलन्द हुआ। मिश्र जी तांत्रिक साधना में विश्वास रखते थे। मिश्र जी के माध्यम से ही वह व्यक्ति स्व० राजनारायण के सम्पर्क में आया। दिल्ली की राजनीति में उसका दखल और प्रभाव उस समय बढ़ गया जब संजय गांधी ने उसे अपनी कूटनीति का मोहरा बनाकर उसे चरणसिंह और राजनारायण का विश्वासभाजन बनाया और इनके द्वारा मोरारजी देसाई की सरकार को पटखनी दिलवाई। अब उसने अपने राजनैतिक सम्पर्कों को प्रयोग उन धनी पूंजीपतियों की हितरक्षा के लिए करना आरम्भ किया जो अपने व्यावसायिक लाभ के लिए राजनीतिज्ञों से सम्पर्क साधना चाहते थे।

स्वदेश में किए जाने वाले अपने अच्छे बुरे कारनामों से ही सन्तुष्ट न रहकर वह अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर आया। उसने हालिवुड की फिल्म अभिनेत्री एलिजाबेथ टेलर से सम्पर्क साधा। कहते हैं कि उसने उक्त सिनेमा तारिका को अपनी तांत्रिक शक्ति

के द्वारा एक गम्भीर रोग से मुक्त कर दिया। यह कितने ही अन्तर्राष्ट्रीय विवादों और घोटालों में आकण्ठ मग्न है तथापि हैरानी की बात है कि भारत के कुछ राजनीतिज्ञ उससे प्रत्यक्ष सम्पर्क ही नहीं रखते मंच पर निकट बैठने में भी गौरव अनुभव करते हैं। आश्चर्य है कि हिन्दू धर्म, दर्शन, शास्त्र और परम्पराओं का क, ख भी न जानने वाला यह तांत्रिक आज हिन्दू धर्म के आचार्यों, मठाधीशों और महामण्डलेश्वरों की नाकों में नकेल डालने में संकोच नहीं करता। इस पर विदेशी मुद्र सम्बन्धी अनेक अभियोग चल रहे हैं तथापि उच्च राजनैतिक सम्पर्कों के कारण वह अभी तक कानूनी गिरफ्त से बचता आ रहा है। राजनीति की शतरंज पर नित नई गोटियाँ बिठाने में चन्द्रा स्वामी का कोई मुकाबला नहीं है।

४. महर्षि महेश योगी

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ध्यान योग की शिक्षाओं का प्रसार करने वाला महेश योगी (मूल नाम महेश प्रसाद वर्मा) ७८ वर्ष की आयु का है। साठ के दशक के बीटल गायकों ने महेश योगी की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति दिलवाई। उसके भावातीत ध्यान का विश्वव्यापी प्रचार हुआ और देश विदेश में उसके भक्त अनुयायी असाधारण रूप से बढ़ने लगे। इसका जन्म जबलपुर (मध्य प्रदेश) के एक दरिद्र कायस्थ परिवार में हुआ था। स्कूली शिक्षा तो नाम मात्र की हुई किन्तु आज महेश योगी द्वारा संचालित सहस्रों वेद विद्यालयों में वेदाभ्यासी वटुक गण लाखों की संख्या में वेद, संस्कृत तथा पुरातन शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। संसार भर में फैले इसके आध्यात्मिक साम्राज्य का वित्तीय मूल्य ४००० करोड़ आंका गया है। इसका दावा है कि संसार की जटिल राजनैतिक समस्याओं का समाधान उसके पास है, किन्तु कोई भी विदेशी शसक उसे घास नहीं डालता। इसके व्यक्तित्व का एक शुक्ल पक्ष भी है। यह वेदादि शास्त्रों के प्रचार प्रसार मे पर्याप्त द्रव्य व्यय करता है। इसके तथाकथित, अलौकिक यौगिक चमत्कारों की कलई खुल चुकी हैं इसने एक बार पानी पर चलने का वादा किया, किन्तु असफल रहा।

५. स्वामी नित्यानन्द

महाराष्ट्र के थाणे जिले के गणेशपुरी नामक स्थान पर गुरुदेव सिद्धपीठ के संस्थापक स्वामी मुक्तानन्द का शिष्य स्वामी नित्यानन्द २८ वर्षीय युवक है। इसका वास्तविक नाम सुभाष शेटी है और यह एस.एस.सी. तक शिक्षित है। इसने अपनी बहिन (मालती शेटी) के साथ स्वामी मुक्तानन्द का शिष्यत्व ग्रहण किया। परिणाम स्वरूप उक्त स्वामी के मरने पर ये दोनों भाई बहिन मुक्तानन्द की सम्पत्ति और वैभव के सम्मिलित वारिस बन गये। स्वामी मुक्तानन्द का स्वर्गवास अक्टूबर १९८२ में हुआ और इसके तीन वर्ष पश्चात् ही सिद्धपीठ की गद्दी और अधिकारों को लेकर भाई बहिन के बीच विवाद उठ

खड़ा हुआ। अन्ततः वे दोनों अलग हो गये। अब स्वामी नित्यानन्द प्रायः यूरोप और अमेरिका में रहकर वहाँ के गौरांग शिष्यों को ही अनुगृहित करते हैं। भारत की पवित्र धरती उसकी उपस्थिति से प्रायः वंचित ही रहती है।

६. गुरुमाई चिद्विलासानन्द

स्वामी नित्यानन्द की बड़ी बहिन मालती शेट्टी (आयु ४० वर्ष) ने अपने भाई सुभाष के साथ ही स्वामी मुक्तानन्द का शिष्यत्व ग्रहण किया था। सिद्ध पीठ की सम्पत्ति और स्वामित्व को लेकर उसका अपने भाई स्वामी नित्यानन्द से झगड़ा हो गया और गणेशपुरी की सिद्ध पीठ पर उसने अपनी चतुराई और अधिसंख्य शिष्य वर्ग की सहायता से कब्जा जमा लिया। इस महिला संन्यासिनी का प्रमुख परामर्शदाता तथा दाहिना हाथ जार्ज एपिफ नाम का एक लेबनानी है। इसी विदेशी की सहायता और साहस से गुरुमाई सिद्ध पीठ पर अपना एकाधिकार रख पाई। गुरुमाई के अनेक धनाढ्य शिष्य अमेरिकी पूंजीपति हैं और चालीस वर्षीया यह संन्यासिनी विदेशों के नियमित दौरे करती रहती है।

७. मुरारी बापू

मुरारी बापू के नाम से प्रसिद्ध ९३ वर्षीय मुरारी दास प्रभुदास हरियानी भावनगर (गुजरात) का निवासी है। इसकी शिक्षा एस.एस.सी. तक की है और यह प्राइमरी स्कूल के अध्यापक के रूप में जीविकोपार्जन करता था। शीघ्र ही इसकी तुलसीदास रचित रामचरितमानस की कथाओं से लोग बड़ी संख्या में उसकी और आकृष्ट होने लगे। प्रारम्भ में उसके श्रोता मात्र १०-२० ही होते थे किन्तु आज मुरारी बापू के प्रवचनों में २ लाख तक की भीड़ होती है। इसके अनुयायियों का विस्तार संसार भर के देशों में है और उनकी धारणा है कि मुरारी बापू के प्रवचनों से ही उनका काया पलट हुआ है। यह किसी चमत्कार या अलौकिक शक्ति सम्पन्न होने का दावा नहीं करता, किन्तु थोड़े ही समय में इतनी ख्याति और प्रसिद्धि अर्जित कर लेना भी चमत्कार से कम नहीं है। इसने करोड़ों रुपये कमाये हैं।

८. माता अमृतानन्दमयी

केरल के किवल्लोना जिले में ४२ वर्ष पूर्व एक मछुवारे के घर में सुधामणि का जन्म हुआ। इसकी शिक्षा मात्र चौथे दर्जे तक हुई किन्तु आरम्भ से ही इसने आध्यात्मिक विषयों में रुचि दिखाई। अपनी किसी अन्तः प्रेरणा से ही उसने एक धार्मिक आन्दोलन चलाया जिसका केन्द्र बिन्दु भक्ति था। आज यह महिला 'माता अमृतानन्दमयी' के नाम से जानी जाती है। उसकी शाखायें और अनुयायी संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन, स्विट्जरलैण्ड तथा मारिशस तक फैले हैं। इसके शिष्यों का दावा है कि यह अपनी अलौकिक

शक्तियों से लोगों के शारीरिक और मानसिक कष्टों को दूर कर देती है। लोग इसे प्यार से अम्मा कहते हैं।

९. ब्रह्माकुमारी प्रकाशमणि

दादी के नाम से चर्चित प्रकाशमणि ब्रह्माकुमारी मत के प्रवर्तक दादा लेखराज (लेखराज खूबचन्द कृपालानी) की शिष्या है। दादा लेखराज और उसकी ओम् मण्डली देश विभाजन के पूर्व सिंध में चर्चित तथा विवादास्पद रही। साधु टी.एल. वास्वानी ने उसके खिलाफ आवाज उठाई। जनवरी १९६९ में दादा लेखराज की मृत्यु के पश्चात् प्रकाशमणि इस सम्प्रदाय की प्रमुख बनीं हैदराबाद (सिंध) में १९३७ में स्थापित ब्रह्माकुमारी संस्था की २००० शाखायें संसार के ६४ देशों में स्थापित हैं। मैट्रिक तक शिक्षित प्रकाशमणि का प्रधान कार्यालय आबू पर्वत पर है। यह विश्व भर में फैले अपने धर्म साम्राज्य का संचालन करती है।

हैरानी की बात है कि अपनी सभाओं और सम्मेलनों में देशी विदेशी राजनीतिज्ञों, शासकों, न्यायाधीशों, पत्रकारों, शिक्षाविदों तक की आमन्त्रित करने वाली ब्रह्माकुमारी संस्था के मूलसिद्धान्तों, कार्यकलाप तथा दर्शन को ये अभ्यागत लोग भी नहीं जानते। आज तक कोई यह नहीं बात सका कि इस संस्था के करोड़ों अरबों के बजट की पूर्ति कैसे होती है और यह अपार धनराशि कहां से आती है। कुछ स्वकल्पित चित्रों और चार्टों तथा रटी रटाई शब्दावली में अपने मन्तव्यों का परिचय देने वाला ये ब्रह्माकुमारी राजयोग, शिव, ब्रह्मा, कृष्ण, गीता आदि की बातें तो करते हैं किन्तु महर्षि पतंजलि प्रोक्त राजयोग तथा व्यास रचित एवं कृष्ण प्रोक्त भगवद्गीता का क, ख भी इन्हें नहीं भाता। ये विश्वशान्ति और चरित्र निर्माण के लिए आडम्बरपूर्ण आयोजन करते हैं, शिविर चलाते हैं, कार्यशालायें संचालित करते हैं किन्तु विश्व के किसी भी कोने में न तो शान्ति स्थापित होती दिखाई देती है और न देशवासियों का चरित्र निर्माण हो रहा है। ब्रह्माकुमारियों का देश विभाजनपूर्व का इतिहास अत्यन्त कलुषित रहा है।

१०. सरदार गुरिन्दरसिंह ढिल्लों

अमृतसर जिले के डेरा बाबा जयमलसिंह (व्यास) की राधास्वामी सम्प्रदाय की गद्दी के वर्तमान गुरु ४१ वर्षीय सुरिन्दरसिंह पंजाब विश्वविद्यालय के स्नातक हैं। ये सरदार चरणसिंह (भूतपूर्व गुरु) के निधन पर जून १९९० में उक्त सम्प्रदाय के आचार्य बने। व्यास का राधास्वामी सम्प्रदाय आगरा में १९ वीं शताब्दी में शिवदयालसिंह खत्री द्वारा प्रवर्तित इसी नाम के मत की एक शाखा है। व्यास की इस गद्दी के लाखों अनुयायी देश-विदेश में फैले हैं। व्यास में राधास्वामी मत का यह सम्प्रदाय एक बड़े अस्पताल का संचालन करता है। इस मत के अनुयायी पूर्ण अनुशासित रूप में सम्प्रदाय के वार्षिक सत्संग में

उपस्थित होते हैं और अपने गुरु के उपदेशों को सुनते हैं।

११. आचार्य श्रद्धानन्द अवधूत

आनन्दमार्गी के संस्थापक आनन्दमूर्ति (मूल नाम प्रभातरंजन सरकार) नामक पूर्वी रेलवे का कर्मचारी) के निधन के पश्चात् इस मार्ग का नेतृत्व ७२ वर्षीय श्रद्धानन्द अवधूत को मिला। एम.ए. तक शिक्षित अवधूत महाशय का वास्तविक नाम एस. राय है। इसका जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया नगर में हुआ था। यह मार्ग के संस्थापक आनन्द-मूर्ति की भांति चमत्कार दिखाने का दावा करता, जब कि प्रभातरंजन सरकार के कलुषित कारनामों ने आनन्दमार्गी को विगत दो दशकों में विवादास्पद बना दिया है। बंगाल की मार्क्सवादी सरकार की आनन्द मार्ग से टक्कर का राजनैतिक चरित्र स्पष्ट उजागर हो चुका है। इसके अन्य अवधूत अनुयायियों को आनन्दमूर्ति द्वारा गुप्त रूप से मृत्यु दण्ड दिये जाने तथा मानव भुण्डों को हाथ में लेकर अवधूतों के नृत्य जैसे कृत्यों की कठोर आलोचना हुई है। भारत के विगत प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई पर आस्ट्रेलिया में एक विदेशी आनन्दमार्गी ने प्राणघाती प्रहार किया था। इसके ४५ लाख अनुयायी अनेक देशों में फैले हुए हैं। आनन्दमूर्ति की पत्नी ने उनके जीवनकाल में अपने पति पर अनेक आरोप लगाये थे तथा बिहार सरकार ने अनेक अपराधों में आनन्दमूर्ति की भूमिका को देखते हुए उसे वर्षों तक नजरबन्द रखकर उस पर मुकद्दमा भी चलाया था।

१२. स्वामी ओम सदाचारी

नाम के सदाचारी किन्तु हृद दर्जे के लम्पट और दुराचारी इस बाबा का वास्तविक नाम विनोदानन्द झा है। इसने समय समय पर सदाचारी साईं बाबा, ओम जी तथा रामकुमार शर्मा नाम भी प्रयुक्त किये हैं। बिहार के मधुबनी क्षेत्र का ३५ वर्षीय विनोदानन्द झा १९८०-८४ के श्रीमती इन्दिरागांधी के शासन काल में अनेक राजनीतिज्ञों के सम्पर्क में आया। उसके बाद प्रभावशाली लोगों, नौकरशाहों तथा राजनीति के हथकण्डेबाजों के साथ खिचे चित्रों का एक मोटा एलबम साथ में रखने वाला यह बाबा जरूरतमन्दों को इन चित्रों से प्रवंचित करता रहा। कई लोग इसकी घोखाधड़ी के शिकार हुए। बम्बई में इसने आध्यात्मिक साधना का केन्द्र स्थापित किया किन्तु पुलिस ने इसे लोगों को धोखा देने और चार सौ बीसी के अपराध में गिरफ्तार कर लिया। दुराचारी बाबा ने अपने निवास के सोफों में बिजली के तारों की फिटिंग करा रखी है। वह अपने भक्तों को इन पर बिठा कर उन्हें बिजली के झटके लगवाता और इस प्रकार उनको यह कहकर प्रभावित करता कि उसकी दैवी शक्ति का चमत्कार है। उस पर अनेक अबोध युवतियों से बलात्कार करने के आरोप भी लगाये गये। वह पुलिस की गिरफ्त में अनेक बार आया। अभी कुछ मास पूर्व ही नंगी फिल्मों तथा अश्लील चित्रों के एलबम उसके निवास की

तलाशी लेने पर बरामद हुए थे।

१३. बाल योगेश्वर और उसका भाई सतपाल महाराज

हंसा मत के प्रवर्तक देहरादून निवासी किसी हंसासिंह रावत का पुत्र अपनी किशोरवास्था में ही बाल योगेश्वर के नाम से लाखों देशी विदेशी अनुयायियों का गुरु बन बैठा। चार्टर्ड वायुयान में सैकड़ों विदेशी भक्तों के साथ यदा-कदा भारत आकर अपने चेले चांटों को आध्यात्म की घुट्टी पिलाने वाला प्रेमपाल रावत उर्फ बाल योगेश्वर अन्ततः आयु में अपने से बड़ी अपनी अमेरिकन सचिव के प्रेमजाल में फँस गया और ईसाई पद्धति से उससे विवाह तो किया ही उसने हंसामत के गुरु का चोला भी उतरा फेंका। अब उसका बड़ा भाई सतपाल महाराज साक्षात् भगवान् रूप में अपने अनुयायियों की श्रद्धा और विश्वास का भाजन बना हुआ है। साथ ही उसकी माता जगज्जन्नी बनी हुई भक्तों को आशीर्वाद प्रदान करती है। लगभग १५ वर्ष पूर्व ये संसारी भगवान् विवाह बन्धन में बंधे तो इनके निम्न और मध्यम वर्ग के लाखों अनुयायी हरिद्वार स्थित प्रेमनगर (हंसामत का प्रधान कार्यालय) में एकत्र हुए और उन्होंने इस दैवी दाम्पत्य बन्धन के अवसर पर आयोजित गहमागहमी का आनन्द लिया। अब तो सतपाल महाराज चुनावों में प्रत्याशी बन चुके हैं। उन्होंने १९८९ में भी लड़ा था और पराजित हुए थे।

इन और ऐसे स्वयंभू भगवानों और गुरुओं की कथा को आगे बढ़ाने से कोई विशेष लाभ नहीं है। अतः इस गुरु कथा को यही समाप्त करने से पूर्व यह लिख देना आवश्यक है कि उपर्युक्त वर्णित गुरुओं में स्वामी चिन्मयानन्द, महेश योगी और मुरारी बापू ऐसे धमाचार्य हैं। जिनकी गतिविधियाँ प्रायः निर्दोष तथा विवाद से परे हैं। राधास्वामी मत के गुरु गुरिन्द्रसिंह सन्तमत के सिद्धान्तों के व्याख्याता कहे जा सकते हैं। इन गुरुओं में से अधिकांश का शास्त्रीय ज्ञान तो बहुत सीमित ही है, किन्तु इनमें से कुछ को लोकप्रियता तथा अनुयायियों की बहुत अधिक संख्या का एक कारण उनके द्वारा प्रचारित शिक्षाओं का प्रायः निर्विवाद तथा सर्वजन स्वीकृत होना भी है। ये गुरु विवादास्पद विषयों से दूर रहकर जन सामान्य को नैतिक दृष्टि से उन्नत होने की शिक्षा देते हैं। इनके अधिकांश अनुयायी भी दार्शनिक और धार्मिक गूढ़ सिद्धान्तों को समझने की क्षमता नहीं रखते और स्वगुरुओं के प्रति अनन्य निष्ठावान होकर उनके उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुनते हैं। किन्तु साईं बाबा, चन्द्रास्वामी, ब्रह्माकुमारी, आनन्दमार्गी अवधूत, सदाचारी बाबा तथा बाल योगेश्वर जैसे गुरु तो देश और धरती के लिये भाररूप ही हैं। इन्होंने धर्म समाज और देश में गुरुडम, पाखण्ड, आडम्बर और घूर्तता को ही बढ़ाया है। □

उपसंहार

उपर्युक्त पृष्ठों में हमने आधुनिक काल में उत्पन्न उन नवीन सम्प्रदायों तथा स्वयंघोषित भगवानों के विचारों, सिद्धान्तों, कार्य पद्धतियों तथा प्रवृत्तियों का संक्षिप्त आलोचनात्मक अनुशीलन किया है। इन पर सामासिक दृष्टि से विचार करने पर इन सम्प्रदायों तथा गुरुओं में कुछ प्रवृत्तियाँ सामान्य रूप से दिखाई पड़ती हैं।

गुरु को प्रधानता — प्रथम तो हम यह देखते हैं कि इन सम्प्रदायों तथा व्यक्तिनिष्ठ मतों में उनके संस्थापक गुरुओं का महत्त्व तथा वर्चस्व सर्वोपरि माना गया है। यों हिन्दु सन्त मत में भी गुरु के महत्त्व को माना गया था, किन्तु आधुनिक काल के इन सम्प्रदायों में तो इनका संस्थापक गुरु तथा उसकी साम्प्रतिक गद्दी धारी सर्वथा निःश्रान्त, निष्कलुष, लोकोत्तर शक्ति सम्पन्न, साक्षात् परमात्मा तुल्य ही मान लिया गया है। इस प्रकार पाखण्ड, गुरुडम तथा एक व्यक्ति की तानाशाही को बढ़ावा देने में ये मत और सम्प्रदाय एक दूसरे को पीछे रखते हैं।

गोपनीयता— जहाँ गुरु को महत्त्व मिला, वहाँ गुरु के जीवन, उसके आचरण, व्यवहार तथा उसकी अन्य लौकिक प्रवृत्तियों को जान बूझ कर छिपाया जाता है, उन पर आवरण का एक शीना पर्दा पड़ा रहता है। यही कारण है कि इन सम्प्रदायों के प्रवर्तकों, बाबाओं और भगवानों के व्यक्तिगत क्रियाकलाप के बारे में हमारी जानकारी नगण्य होती है। इनके शिष्य वर्ग का सदा यही प्रयास रहता है कि वे अपने गुरुओं के अच्छे बुरे कामों को छिपाये रखें। जब कभी कोई खोजी पत्रकार प्रभात रंजन सरकार, दादा लेखराज, बाल योगेश्वर या रजनीश जैसे किसी स्वयंभू गुरु के पूर्व जीवन की यवनिका का उद्घाटन कर देता है तो इन सम्प्रदायों में एक भूचाल सा आ जाता है और ये अपने तथाकथित गुरुओं के जीवन के लांछना पूर्ण प्रसंगों को पुनः छिपाने या उन पर सफेदी करने का प्रयास करते हैं।

साम्प्रदायिक योग साधना — इन सम्प्रदायों के गुरुओं ने किसी न किसी प्रकार को योग पद्धति चला रखी है। ये लोग जानते हैं कि आज के युग में योग के प्रति लोगों का प्रबल आकर्षण है। लोगों ने योग को एक ऐसी रामबाण औषधि समझ रक्खा है जो त्रिताप सन्तप्त जनसमाज के ब्रणों पर शीतल अनुलेप लगा सकती है। इन सम्प्रदायों में स्वीकृत योग के प्रकार भी भिन्न भिन्न हैं। प्राचीनतम और पवित्रतम महर्षि पतंजलि

उपदिष्ट राजयोग से इनका कोई लेना देना नहीं है। इस प्रकार आनन्द मार्ग, ब्रह्माकुमारी, रजनीश आदि सभी के योग जुदा जुदा हैं। महर्षि महेश अतीन्द्रिय ध्यान पर जोर देते हैं तो रजनीश नर नारी के संगम को ही यौगिक समाधि के पूर्व की स्थिति मानते हैं। ब्रह्माकुमारियों के लिये एक दूसरे से नजरें लड़ाना ही योग है।

इन सम्प्रदायों का अन्तरराष्ट्रीय चरित्र — यह आश्चर्य और अनुसंधान का विषय है कि यद्यपि इन सम्प्रदायों और बाबाओं की जन्मदात्री यह भारत भूमि है, किन्तु इनका विस्तार अन्य देशों में सर्वत्र देखा जाता है। न्यूनाधिक रूप से ये सभी सम्प्रदाय अन्तरराष्ट्रीय हो गये हैं। आनन्दमार्ग, महेश योगी, ब्रह्माकुमारी आदि के हजारों केन्द्र और शाखाएँ संसार के भिन्न भिन्न देशों में दिखाई पड़ते हैं। इसका एक कारण तो इनके अनुयायियों में पाया जाने वाला सम्प्रदाय उन्माद है जिसके वशवर्ती होकर ये लोग अपने गुरु और मन्त्र को विश्वव्यापी बनाने के लिये कमर कस लेते हैं, प्रचार के लिये सारी शक्ति और प्रयत्न दुर्धन की ओर देते हैं तथा उचित अनुचित साधनों से भी अपने टोले को बढ़ाने के लिये यत्नशील होते हैं। एक अन्य कारण यह भी है कि भारत से भिन्न, खास तौर से पश्चिम के ईसाई देशों के लोग भौतिकवाद की भोगप्रधान प्रवृत्तियों से उकता गये हैं तथा वे योग, अध्यात्म, आत्मवाद आदि के लुभावने नारों के वशवर्ती होकर इन सम्प्रदायों के चक्कर में फँस जाते हैं। मनुष्य में नूतनता के प्रति सहज आकर्षण होता है अतः पुराने और रूढ़िबद्ध ईसाई मत से उकताये ये लोग इन भारतवर्षीय नवीन मतों की ओर सहज आकृष्ट होते हैं।

धन का प्राचुर्य — एक अन्य बात यह दिखाई देती है कि ये सभी सम्प्रदाय अपार धन एकत्र करते हैं। इनके आर्थिक स्रोत प्रायः अज्ञात रहते हैं। धन की प्रचुरता का एक कारण तो यह है कि इनके अनुयायियों में यह भावना दृढ़ता से भर दी जाती है कि उन्हें अपना तन, मन और धन सर्वस्व श्री गुरु के चरणों में अर्पित करना है, अतः ये लोग संकोच रहित होकर अपना सर्वस्व गुरु तथा सम्प्रदाय के लिये समर्पित करने के लिये तत्पर रहते हैं। सम्भवतः इन्हें अपने विदेशी भक्तों से भी प्रचुर आर्थिक सहायता मिलती है। तथापि इन सम्प्रदायों की आर्थिक सम्पन्नता के कारणों की जांच होनी चाहिए।

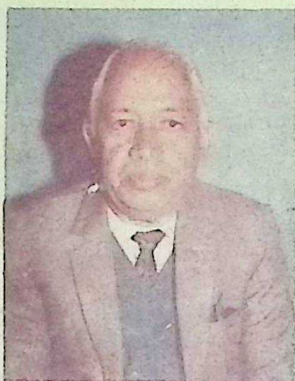
साहित्य द्वारा प्रचार — प्रत्येक सम्प्रदाय अपने विचारों का प्रचार करने के लिये साहित्य का अनिवार्यतः सहयोग लेता है। रजनीश और आनन्दमूर्ति के प्रवचन ग्रन्थाकार छपे हैं। ब्रह्माकुमारी सम्प्रदाय ने भी अपनी घिसी पिटी शब्दावली में अपने मत में मान्य विचारों को पुस्तक रूप दिया है। साहित्य जैसे सात्विक प्रचार माध्यम का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों ही प्रकार से हो सकता है।

GURUKUL KANGRI LIBRARY	
Signature	Date
Acqns. C.	R 2-2-98
Librarian	RC 21-4-98
Tr. etc	Gangotri 16-3-98
Filing	RC 21-4-98
E.A.R.	RC 22-4-98
Any other	RC 28-4-98
Checked	RC 28-4-98

Recommended By—*RC 21-4-98*



COMPILED



लेखक-परिचय

भारतीय नवजागरण में स्वामी दयानन्द तथा आर्य समाज की भूमिका के अधिकृत व्याख्याता डॉ. (प्रो.) भवानीलाल भारतीय को लेखन के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए आधी शती व्यतीत हो चुकी है। 1928 में राजस्थान के नागौर जिले के एक साधारण ग्राम परबतसर में उनका जन्म हुआ। उच्च शिक्षा जोधपुर में हुई। राजस्थान की कॉलेज शिक्षा-सेवा में लगभग 20 वर्ष तक अध्यापन करने के पश्चात्, वे पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द शोधपीठ के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष पद पर एक दशक पर्यन्त कार्य करते रहे। अध्ययन, लेखन और शोध के इस सुदीर्घ काल में उनके लगभग 70 ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जो वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, भारतीय नवजागरण में आर्य समाज का योगदान तथा तत् सदृश विषयों से सम्बन्धित हैं। उनके विभिन्न ग्रन्थों पर अनेक सभा-संस्थाओं ने उन्हें पुरस्कारादि से सम्मानित किया है, जिनमें आर्य समाज का सर्वोच्च मेघजी भाई आर्य साहित्य पुरस्कार भी है जो आर्य समाज सान्ताक्रूज द्वारा उन्हें 1982 में प्रदान किया गया। वे आर्य समाज की संगठनात्मक प्रवृत्तियों से भी जुड़े रहे, किन्तु विगत अनेक वर्षों से वे उच्चतर वैदिक शोध, अनुसंधान तथा लेखन के लिये ही समर्पित हैं। उनका व्यक्तिगत पुस्तकालय आर्य समाज विषयक ग्रन्थों की दृष्टि से अद्वितीय है तथा अनेक स्वदेशी एवं विदेशी विद्वान् उनसे अपने शोध-कार्यों के लिए परामर्श लेते हैं।

तिलकराज आर्य

अध्यक्ष

आर्य प्रकाशन, दिल्ली